# बीसवीं सदी की सौ कहानियाँ

सं॰ सुरेन्द्र तिवारी

किसी भी कालखंड की रचनाधर्मिता को, रचनात्मक शक्ति को, विकास को समझने के लिए जरूरी होता है कि उस कालखंड की कुछ विशिष्ट रचनाओं को एकसाथ देखा जांचा-परखा जाये। बीसवीं सदी हिन्दी कहानी के लिए बहुत ही महत्वपूर्ण सदी रही है। हिन्दी कहानी की शुरुआत, उसका उत्थान-पतन अनेकानेक आन्दोलनों-नारों-वादों के बीच से उसका उभरता मिटता चेहरा और सब कुछ से छनकर बची हुई आज की कहानी। **'बीसवीं सदी की सौ कहानियां'** में संकलित एक सौ कहानियों के माध्यम से बीती शताब्दी के कथा-साहित्य को समग्रता से समझने की कोशिश है। कुछ खास कहानियों को अलग-अलग पढ़ना और बहुत सारी कहानियों को एक साथ पढ़ना अलग-अलग अर्थ रखता है। और फिर यह भी कि गुजरी सदी के साथ-साथ ही हिन्दी कहानी भी अपनी शतायु पूरी कर चुकी है और अब वह इस स्थिति में है कि उसका पुनः आकलन, पुनरावलोकन, पुनर्मूल्यांकन हम कर सकें।

**'बीसवीं सदी की सौ कहानियां'** चार खंडों में विभाजित है और हर खंड में ऐसी कहानियां संकलित हैं जो अपने प्रकाशन काल में और उसके बाद भी पाठकों-लेखकों-आलोचकों के लिए विचार-बिन्दु रही हैं, जो हिन्दी कहानी के विकास में मील का पत्थर सिद्ध हुई हैं और जिनकी चर्चा के बिना हिन्दी कथा-साहित्य के इतिहास को हम अधूरा ही मानेंगे।

सुपरिचित कथाकार सुरेन्द्र तिवारी द्वारा संपादित एक ऐसा विशिष्ट संकलन जो बीसवीं सदी की कहानी के पूरे परिदृश्य को कहानियों के माध्यम से हमारे सामने रखता है।

# बीसवीं सदी की सौ कहानियाँ

# बीसवीं सदी की सौ कहानियाँ

## खण्ड-3



संपादक

सुरेन्द्र तिवारी

नमन प्रकाशन

नई दिल्ली-110002

# अनुक्रम

# दोपहर का भोजन

अमरकान्त
(जन्म : सन् 1925 ई.)

सिद्धेश्वरी ने खाना बनाने के बाद चूल्हे को बुझा दिया और दोनों घुटनों के बीच सिर रखकर शायद पैर की उंगलियां या जमीन पर चलते चींटे-चींटियों को देखने लगी। अचानक उसे मालूम हुआ कि बहुत देर से उसे प्यास लगी है। वह मतवाले की तरह उठी और गगरे से लोटा भर पानी लेकर गट-गट चढ़ा गयी। खाली पानी उसके कलेजे में लग गया और वह 'हाय राम' कहकर वहीं जमीन पर लेट गयी।

आधे घंटे तक वहां उसी तरह पड़ी रहने के बाद उसके जी में जी आया। वह बैठ गयी, आंखों को मल-मलकर इधर-उधर देखा और फिर उसकी दृष्टि ओसारे में अधटूटे खटोले पर सोये अपने छह वर्षीय लड़के प्रमोद पर जम गयी। लड़का नंग-धड़ंग पड़ा था। उसके गले तथा छाती की हड्डियां साफ दिखाई देती थीं। उसके हाथ-पैर बासी ककड़ियों की तरह सूखे तथा बेजान पड़े थे और उसका पेट हंडिया की तरह फूला हुआ था। उसका मुंह खुला हुआ था और उस पर अनगिनत मक्खियां उड़ रही थीं।

वह उठी, बच्चे के मुंह पर अपना एक फटा गंदा ब्लाउज डाल दिया और एक-आध मिनट सुन्न खड़ी रहने के बाद बाहर दरवाजे पर जाकर किवाड़ की आड़ से गली निहारने लगी। बारह बज चुके थे। धूप अत्यंत तेज थी और कभी-कभी एक-दो व्यक्ति सिर पर तौलिया या गमछा रखे हुए या मजबूती से छाता ताने हुए फुर्ती से लपकते हुए से गुजर जाते।

दस-पंद्रह मिनट तक वह उसी तरह खड़ी रही, फिर उसके चेहरे पर व्यग्रता फैल गयी और उसने आसमान तथा कड़ी धूप की ओर चिंता से देखा। एक-दो क्षण बाद उसने सिर को किवाड़ से काफी आगे बढ़ाकर गली के छोर की तरफ निहारा, तो उसका बड़ा लड़का रामचंद्र धीरे-धीरे घर की ओर सरकता नजर आया।

उसने फुर्ती से एक लोटा पानी ओसारे की चौकी के पास नीचे रख दिया और

चौके में जाकर खाने के स्थान को जल्दी-जल्दी पानी से लीपने-पोतने लगी। वहां पीढ़ा रखकर उसने सिर को दरवाजे की ओर घुमाया ही था कि रामचंद्र ने अंदर कदम रखा।

रामचंद्र आकर धम से चौकी पर बैठ गया और फिर वहीं बेजान-सा लेट गया। उसका मुंह लाल तथा चढ़ा हुआ था, उसके बाल अस्त-व्यस्त थे और उसके फटे-पुराने जूतों पर गर्द जमी हुई थी।

सिद्धेश्वरी की पहले हिम्मत नहीं हुई कि उसके पास आये और वहीं वह भयभीत हिरनी की भांति सिर उचका-घुमाकर बेटे को व्यग्रता से निहारती रही। किंतु, लगभग दस मिनट बीतने के पश्चात् भी जब राजचंद्र नहीं उठा, तो वह घबरा गयी। पास जाकर पुकारा-'बड़कू, बड़कू!' लेकिन उसके कुछ उत्तर न देने पर डर गयी और लड़के की नाक के पास हाथ रख दिया। सांस ठीक से चल रही थी। फिर सिर पर हाथ रखकर देखा, बुखार नहीं था। हाथ के स्पर्श से रामचंद्र ने आंखें खोलीं। पहले उसने मां की ओर सुस्त नजरों से देखा, फिर झट से उठ बैठा। जूते निकालने और नीचे रखे लोटे के जल से हाथ-पैर धोने के बाद वह यंत्र की तरह चौकी पर आकर बैठ गया।

सिद्धेश्वरी ने डरते-डरते पूछा-'खाना तैयार है, यही लाऊं क्या?'

रामचंद्र ने उठते हुए प्रश्न किया-'बाबूजी खा चुके?'

सिद्धेश्वरी ने चौके की ओर भागते हुए उत्तर दिया-'आते ही होंगे?'

रामचंद्र पीढ़े पर बैठ गया। उसकी उम्र लगभग इक्कीस वर्ष थी। लंबा, दुबला-पतला, गोरा रंग, बड़ी-बड़ी आंखें तथा होठों पर झुर्रियां। वह एक स्थानीय दैनिक समाचारपत्र के दफ्तर में अपनी तबीयत से 'प्रूफ रीडिंग' का काम सीखता था। पिछले साल ही उसने इंटर पास किया था।

सिद्धेश्वरी ने खाने की थाली लाकर सामने रख दी और पास ही बैठकर पंखा झलने लगी। रामचंद्र ने खाने की ओर दार्शनिक की भांति देखा। कुल दो रोटियां, भर कटोरा पनियाई दाल और चने की तली तरकारी।

रामचंद्र ने रोटी के प्रथम टुकड़े को निगलते हुए पूछा-'मोहन कहां है? बड़ी कड़ी धूप है।'

मोहन सिद्धेश्वरी का मंझला लड़का था। उम्र अठारह वर्ष थी और वह इस साल हाई स्कूल का प्राइवेट इम्तहान देने की तैयारी कर रहा था। वह न मालूम कब से घर से गायब था और सिद्धेश्वरी को पता नहीं था कि वह कहां गया है। किंतु सच बोलने की उसकी तबीयत नहीं हुई और झूठ-मूठ कहा-'किसी लड़के के यहां पढ़ने गया है, आता ही होगा! दिमाग उसका बड़ा तेज है और उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है। हमेशा उसी की बात करता रहता है।'

रामचंद्र ने कुछ नहीं कहा। एक टुकड़ा मुंह में रखकर भरा गिलास पानी पी गया,

फिर खाने में लग गया। वह काफी छोटे-छोटे टुकड़े तोड़कर उन्हें धीरे-धीरे चबा रहा था।

सिद्धेश्वरी भय तथा आतंक से अपने बेटे को एकटक निहार रही थी। कुछ क्षण बीतने के बाद डरते-डरते उसने पूछा–'वहां कुछ हुआ क्या?'

रामचंद्र ने अपनी बड़ी-बड़ी भावहीन आंखों से अपनी मां को देखा, फिर नीचा सिर करके कुछ रुखाई से बोला–'समय आने पर सब ठीक हो जायेगा।'

सिद्धेश्वरी चुप रही। धूप और तेज होती जा रही थी। छोटे आंगन के ऊपर आसमान के बादल के एक-दो टुकड़े पाल वाली नावों की तरह तैर रहे थे। बाहर की गली से गुजरते हुए एक खड़खड़िया इक्के की आवाज आ रही थी। और खटोले पर सोये बालक की सांस का खरखर शब्द सुनायी दे रहा था।

रामचंद्र ने अचानक चुप्पी को भंग करते हुए पूछा–'प्रमोद खा चुका? रोया तो नहीं था?'

सिद्धेश्वरी फिर झूठ बोल गयी–'आज तो सचमुच नहीं रोया। वह बड़ा ही होशियार हो गया है। कहता था, बड़का भैया के यहां जाऊंगा। ऐसा लड़का…'

पर वह आगे कुछ न बोल सकी, जैसे उसके गले में कुछ अटक गया। कल प्रमोद ने रेवड़ी खाने की ज़िद पकड़ ली थी और उसके लिए डेढ़ घंटे तक रोने के बाद सोया था।

रामचंद्र ने कुछ आश्चर्य के साथ अपनी मां की ओर देखा और फिर सिर नीचा करके कुछ तेजी से खाने लगा।

थाली में जब रोटी का केवल एक टुकड़ा शेष रह गया, तो सिद्धेश्वरी ने उठने का उपक्रम करते हुए प्रश्न किया–'एक रोटी और लाती हूं?'

रामचंद्र हाथ से मना करते हुए हड़बड़ा कर बोल पड़ा–'नहीं-नहीं, जरा भी नहीं। मेरा पेट पहले ही भर चुका है। मैं तो यह भी छोड़ने वाला हूं। बस, अब नहीं।'

सिद्धेश्वरी ने ज़िद की–'अच्छा, आधी ही सही।'

रामचंद्र बिगड़ उठा–'अधिक खिलाकर बीमार डालने की तबीयत है क्या? तुम लोग जरा भी नहीं सोचते हो। बस, अपनी जिद। भूख रहती तो क्या ले नहीं लेता?'

सिद्धेश्वरी जहां की तहां बैठी ही रह गयी। रामचंद्र ने थाली में बचे टुकड़े से हाथ खींच लिया और लोटे की ओर देखते हुए कहा–'पानी लाओ।'

सिद्धेश्वरी लोटा लेकर पानी लेने चली गयी। रामचंद्र ने कटोरे को उंगलियों से बजाया, फिर हाथ को थाली में रख दिया। एक-दो क्षण बाद रोटी के टुकड़े को धीरे से उठाकर आंख से निहारा और अंत में इधर-उधर देखने के बाद टुकड़े को मुंह में इस सरलता से रख लिया, जैसे वह भोजन का ग्रास न होकर पान का बीड़ा हो।

मंझला लड़का मोहन आते ही हाथ-पैर धोकर पीढ़े पर बैठ गया। वह कुछ सांवला था और उसकी आंखें छोटी थीं। उसके चेहरे पर चेचक के दाग थे। वह अपने भाई की तरह ही दुबला-पतला था, किंतु उतना लंबा न था। वह उम्र की अपेक्षा कहीं

अधिक गंभीर और उदास दिखाई पड़ रहा था।

सिद्धेश्वरी ने उसके सामने थाली रखते हुए प्रश्न किया–'कहां रह गये थे बेटा? भैया पूछ रहा था।'

मोहन ने रोटी के एक बड़े ग्रास को निगलने की कोशिश करते हुए अस्वाभाविक मोटे स्वर में जवाब दिया–'कहीं तो गया नहीं था। यहीं पर था।'

सिद्धेश्वरी वहीं बैठकर पंखा डुलाती हुई इस तरह बोली, जैसे स्वप्न में बड़बड़ा रही हो–'बड़का तुम्हारी बड़ी तारीफ कर रहा था। कह रहा था, मोहन बड़ा दिमागी होगा, उसकी तबीयत चौबीसों घंटे पढ़ने में ही लगी रहती है।' यह कहकर उसने अपने मंझले लड़के की ओर इस तरह देखा, जैसे उसने कोई चोरी की हो।

मोहन अपनी मां की ओर देखकर फीकी हंसी हंस पड़ा और फिर खाने में जुट गया। वह परोसी गयी दो रोटियों में से एक रोटी और कटोरे की तीन-चौथाई दाल साफ कर चुका था।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आया कि वह क्या करे। इन दोनों लड़कों से उसे बहुत डर लगता था। अचानक उसकी आंखें भर आयीं। वह दूसरी ओर देखने लगी।

थोड़ी देर के बाद उसने मोहन की ओर मुंह फेरा, तो लड़का लगभग खाना समाप्त कर चुका था।

सिद्धेश्वरी ने चौंकते हुए पूछा–'एक रोटी देती हूं?'

मोहन ने रसोई की ओर रहस्यमय नेत्रों से देखा, फिर सुस्त स्वर में बोला–'नहीं।'

सिद्धेश्वरी ने गिड़गिड़ाते हुए कहा–'नहीं बेटा, मेरी कसम, थोड़ी-सी ले लो। तुम्हारे भैया ने एक रोटी ली थी।'

मोहन ने मां को गौर से देखा, फिर धीरे-धीरे इस तरह उत्तर दिया, जैसे कोई शिक्षक अपने शिष्य को समझाता है–'नहीं रे, बस, अव्वल तो अब भूख नहीं, फिर रोटियां तूने ऐसी बनायी हैं कि खायी नहीं जातीं। न मालूम कैसी लग रही है। खैर, अगर तू चाहती ही है, तो कटोरे में थोड़ी दाल दे दे। दाल बड़ी अच्छी बनी है।'

सिद्धेश्वरी से कुछ कहते न बना और उसने कटोरे को दाल से भर दिया।

मोहन कटोरे को मुंह से लगाकर सुड़-सुड़ पी रहा था कि मुंशी चंद्रिका प्रसाद जूतों को खस-खस घसीटते हुए आये और राम का नाम लेकर चौकी पर बैठ गये। सिद्धेश्वरी ने माथे पर साड़ी को कुछ नीचे खिसका लिया और मोहन दाल को एक सांस में पीकर तथा पानी के लोटे को हाथ में लेकर तेजी से बाहर चला गया।

दो रोटियां, कटोरा-भर दाल, चने की तली तरकारी। मुंशी चंद्रिका प्रसाद पीढ़े पर पालथी मारकर बैठे रोटी के एक-एक ग्रास को इस तरह चुभला-चबा रहे थे, जैसे बूढ़ी गाय जुगाली करती है। उनकी उम्र पैंतालीस वर्ष के लगभग थी, किंतु पचास-पचपन के लगते थे। शरीर का चमड़ा झूलने लगा था, गंजी खोपड़ी आईने की भांति चमक रही थी। गंदी धोती के ऊपर अपेक्षाकृत कुछ साफ बनियाइन तार-तार

लटक रही थी।

मुंशी जी ने कटोरे को हाथ में लेकर दाल को थोड़ा सुड़कते हुए पूछा–'बड़का दिखाई नहीं दे रहा?'

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि उसके दिल में क्या हो गया है, जैसे कुछ काट रहा हो। पंखे को जरा और जोर से घुमाती हुई बोली–'अभी-अभी खाकर काम पर गया है। कह रहा था, कुछ दिनों में नौकरी लग जायेगी। हमेशा 'बाबू जी, बाबूजी' किये रहता है। कहता है–'बाबू जी देवता के समान हैं।'

मुंशी जी के चेहरे पर कुछ चमक आयी। शरमाते हुए पूछा–'ऐं, कहता है, कि बाबू जी देवता के समान हैं? बड़ा पागल है।'

सिद्धेश्वरी पर जैसे नशा चढ़ गया था। उन्माद की रोगिणी की भांति बड़बड़ाने लगी–'पागल नहीं है, बड़ा होशियार है। उस जमाने का कोई महात्मा है। मोहन तो उसकी बड़ी इज्जत करता है। आज कह रहा था कि भैया की शहर में बड़ी इज्जत होती है, पढ़ने-लिखने वालों में बड़ा आदर होता है और बड़का तो छोटे भाइयों पर जान देता है। दुनिया में वह सब कुछ सह सकता है, पर यह नहीं देख सकता कि उसके प्रमोद को कुछ हो जाये।'

मुंशी जी दाल सने हाथ को चाट रहे थे। उन्होंने सामने की ताक की ओर देखते हुए कुछ हंसकर कहा–'बड़का का दिमाग तो खैर काफी तेज है, वैसे लड़कपन में नटखट भी था। हमेशा खेल-कूद में लगा रहता था, लेकिन यह भी बात थी कि जो सबक मैं उसे याद करने को देता था, उसे बर्राक रखता था। असल तो यह कि तीनों लड़के काफी होशियार हैं। प्रमोद को कम समझती हो? यह कहकर वह अचानक जोर से हंस पड़े।

मुंशी जी डेढ़ रोटी खा चुकने के बाद एक ग्रास से युद्ध कर रहे थे। कठिनाई होने पर एक गिलास पानी चढ़ा गये। फिर खर-खर खांसकर खाने लगे।

सिद्धेश्वरी की समझ में नहीं आ रहा था कि क्या कहे। वह चाहती थी कि सभी चीजें ठीक से पूछ ले। सभी चीजें ठीक से जान ले और दुनिया की हर चीज पर पहले की तरह धड़ल्ले से बात करे। पर उसकी हिम्मत नहीं होती थी। उसके दिल में न जाने कैसा भय समाया हुआ था।

अब मुंशी जी इस तरह चुपचाप दुबके हुए खा रहे थे, जैसे पिछले दो दिनों से मौन-व्रत धारण कर रखा हो और उसको कहीं जाकर आज शाम को तोड़ने वाले हों।

सिद्धेश्वरी से जैसे नहीं रहा गया। बोली–'मालूम होता है, अब बारिश नहीं होगी।'

मुंशीजी ने एक क्षण के लिए इधर-उधर देखा, फिर निर्विकार स्वर में राय दी–'मक्खियां बहुत हो गयी हैं।'

सिद्धेश्वरी ने उत्सुकता प्रकट की–'फूफाजी बीमार हैं, कोई समाचार नहीं आया।'

मुंशी जी ने चने के दानों की ओर इस दिलचस्पी से दृष्टिपात किया, जैसे उनसे

बातचीत करने वाले हों, फिर सूचना दी–'गंगाशरण बाबू की लड़की की शादी तय हो गयी। लड़का एम.ए. पास है।'

सिद्धेश्वरी हठात् चुप हो गयी। मुंशीजी भी आगे कुछ नहीं बोले। उनका खाना समाप्त हो गया था और वे थाली में बचे-खुचे दानों को बंदर की तरह बीन रहे थे।

सिद्धेश्वरी ने पूछा–'बड़का की कसम, एक रोटी और देती हूं। अभी बहुत-सी हैं।'

मुंशी जी ने पत्नी की ओर अपराधी के समान तथा रसोई की ओर कनखियों से देखा, तत्पश्चात् किसी छटे उस्ताद की भांति बोले–'रोटी? रहने दो?, पेट काफी भर चुका है। अन्न और नमकीन चीजों से तबीयत ऊब भी गयी है। तुमने व्यर्थ में कसम धरा दी। खैर, कसम रखने के लिए ले रहा हूं। गुड़ होगा क्या?'

सिद्धेश्वरी ने बताया कि हंडिया में थोड़ा-सा गुड़ है।

मुंशी जी ने उत्साह के साथ कहा–'तो थोड़े गुड़ का ठंडा रस बनाओ, पीऊंगा। तुम्हारी कसम भी रह जायेगी, ज़ायका भी बदल जायेगा, साथ-ही-साथ हाज़मा भी दुरुस्त होगा। हां, रोटी खाते-खाते नाक में दम आ गया है। यह कहकर वे ठहाका मारकर हंस पड़े।

मुंशी जी के निबटने के पश्चात् सिद्धेश्वरी उनकी जूठी थाली लेकर चौके की जमीन पर बैठ गयी। बटलोई की दाल को कटोरे में उड़ेल दिया, पर वह पूरा भरा नहीं। छिपुली में थोड़ी-सी चने की तरकारी बची थी, उसे पास खींच लिया। रोटियों की थाली को भी उसने पास खींच लिया। उसमें केवल एक रोटी बची थी। मोटी, भद्दी और जली उस रोटी को वह जूठी थाली में रखने जा रही थी कि अचानक उसका ध्यान ओसारे में सोये प्रमोद की ओर आकर्षित हो गया। उसने लड़के को कुछ देर तक एकटक देखा, फिर रोटी को दो बराबर टुकड़ों में विभाजित कर दिया। एक टुकड़े को तो अलग रख दिया और दूसरे टुकड़े को अपनी जूठी थाली में रख लिया। तदुपरांत एक लोटा पानी लेकर खाने बैठ गयी। उसने पहला ग्रास मुंह में रखा और तब न मालूम कहां से उसकी आंखों से टपटप आंसू चूने लगे।

सारा घर मक्खियों से भनभन कर रहा था। आंगन की अलगनी पर एक गंदी साड़ी टंगी थी, जिसमें पैबंद लगे हुए थे। दोनों बड़े लड़कों का पता नहीं था। बाहर की कोठरी में मुंशी जी औंधे मुंह होकर निश्चिंतता के साथ सो रहे थे, जैसे डेढ़ महीने पूर्व मकान-किराया-नियंत्रण विभाग की क्लर्की से उनकी छंटनी न हुई हो और शाम को उनको काम की तलाश में कहीं जाना न हो···। □

# गुलकी बन्नो

धर्मवीर भारती
(जन्म : सन् 1926 ई.)

"ऐ मर कलमुँहे!" अकस्मात् घेघा बुआ ने कूड़ा फेंकने के लिए दरवाज़ा खोला और चौतरे पर बैठे मिरवा को गाते हुए देखकर कहा–"तोरे पेट में फोनोगिराफ़ उलियान बा का, जौन भिनसार भवा कि तान तोड़ै लाग? राम जानै, रात के कैसन एकरा दीदा लागत है!" मारे डर के कि कहीं घेघा बुआ सारा कूड़ा उसी के सिर पर न फेंक दे, मिरवा थोड़ा खिसक गया और ज्यों ही घेघा बुआ अन्दर गयी कि फिर चौतरे की सीढ़ी पर बैठ, पैर झुलाते हुए मिरवा ने उलटा-सुलटा गाना शुरू किया–"तुम बछ याद कलते अम छनम तेली कछम!" मिरवा की आवाज़ सुनकर जाने कहाँ से झबरी कुतिया भी कान-पूँछ झटकारते आ गयी और नीचे बैठकर मिरवा का गाना बिल्कुल उसी अन्दाज़ में सुनने लगी जैसे हिज़ मास्टर्स वॉयस के रिकार्ड पर तस्वीर बनी होती है।

अभी सारी गली में सन्नाटा था। सबसे पहले मिरवा (असली नाम मिहिरलाल) जागता था। उसके बाद झबरी कुतिया, फिर मिरवा की छोटी बहन मटकी और उसके बाद एक-एक कर गली के तमाम बच्चे–खेंचेवाली का लड़का मेवा, ड्राइवर साहब की लड़की निरमल, मनीजर साहब के मुन्ना बाबू–सभी आ जुटते थे। जब से गुलकी ने घेघा बुआ के चौतरे पर तरकारियों की दुकान रखी थी तब से यह जमावड़ा वहाँ होने लगा था। उसके पहले बच्चे हकीमजी के चौतरे पर खेलते थे। धूप निकलते-निकलते गुलकी सट्टी से तरकारियाँ खरीदकर अपनी कुबड़ी पीठ पर लादे, डंडा टेकती आती और अपनी दुकान फैला देती। मूरी, नींबू, कद्दू, घिया-बण्डा, कभी-कभी सस्ते फल! मिरवा और मटकी जानकी उस्ताद के बच्चे थे जो एक भयंकर रोग में गल-गलकर मरे थे और दोनों बच्चे भी विकलांग, विक्षिप्त और रोगग्रस्त पैदा हुए थे। सिवाय झबरी कुतिया के, कोई उनके पास नहीं बैठता था और सिवाय गुलकी के कोई उन्हें अपनी देहरी या दुकान पर चढ़ने नहीं देता था।

आज भी गुलकी को आते देखकर सबसे पहले मिरवा गाना छोड़कर बोला–"छलाम, गुलको!" और मटकी अपनी बढ़ी हुई तिल्कीवाले पेट पर से खिसकता हुआ जाँघिया सम्हालते हुए बोली–"एक ठो मूली दै देव! ए गुलकी!" गुलकी न मालूम किस बात से खीजी हुई थी कि उसने मटकी को झिड़क दिया और अपनी दुकान लगाने लगी। झबरी भी पास गयी कि गुलकी ने डण्डा उठाया। दुकान लगाकर गुलकी अपनी कुबड़ी पीठ दुहराकर बैठ गयी और जाने किसे बुड़बुड़ाकर गालियाँ देने लगी। मटकी एक क्षण चुपचाप खड़ी रही, फिर उसने रट लगाना शुरू किया–"एक मरी! ए गुलकी! एक···" गुलकी ने फिर झिड़का तो चुप हो गयी और अलग हटकर लोलुप नेत्रों से सफ़ेद धुली हुई मूलियों को देखने लगी। इस बार वह बोली नहीं। चुपचाप उन मूलियों की ओर हाथ बढ़ाया ही था कि गुलकी चीखी–"हाथ हटाओ! छूना मत! कोढ़ी कहीं की! कहीं खाने-पीने की चीज़ देखी कि जोंक की तरह चिपक गयी, चल उधर!" मटकी पहले तो पीछे हटी, पर फिर उसकी तृष्णा ऐसी अदम्य हो गयी कि उसने हाथ बढ़ाकर एक मूली खींची। गुलकी का मुँह तमतमा उठा और उसने बाँस की खपच्ची उठाकर उसके हाथ पर चट से मारी। मूली नीचे जा गिरी और 'हाय! हाय! हाय!' कर दोनों हाथ झटकते हुए मटकी पाँव पटक-पटककर रोने लगी।

"जाओ, अपने घर रोओ! हमारी दुकान पर मरने को गलीभर के सब बच्चे हैं।" गुलकी चीखी।

"दुकान देके हम विपता मोल ले लिया। छन-भर पूजा-भजन में भी कचर-धाँव मची रहती है!" अन्दर से घेघा बुआ ने स्वर मिलाया। खासा हंगामा मच गया कि इतने में झबरी भी खड़ी हो गयी। लगी उदात्त स्वर में भूँकने। "लेफ्ट राइट! लेफ्ट राइट!" चौराहे पर तीन-चार बच्चों का जुलूस आ रहा था। आगे-आगे दर्जा दो में पढ़नेवाले मुन्ना बाबू नीम की संटी को झण्डे की तरह थामे जुलूस का नेतृत्व कर रहे थे, पीछे थे मेवा और निरमल। जुलूस आकर दुकान के सामने रुक गया। गुलकी सतर्क हो गयी। दुश्मन की ताकत बढ़ गयी थी।

मटकी सिसकते-सिसकते बोली–"हमके गुलकी मारिश है। हाय! हाय! हमके नरिया में ढकेल दिहिस। अरे बाप रे!" निरमल, मेवा, मुन्ना सब आकर उसकी चोट देखने लगे। फिर मुन्ना बाबू ने ढकेलकर सबको पीछे हटा दिया और संटी लेकर तन कर खड़े हो गये–"किसने मारा है इसे!"

"हम मारा है!" कुबड़ी ने बड़े कष्ट से खड़े होकर कहा–"का करौगे? हमें मारौगे!"

"मारेंगे क्यों नहीं?" मुन्ना बाबू ने अकड़कर कहा। गुलकी इसका कुछ जवाब देती कि बच्चे पास घिर आये। मटकी ने जीभ निकालकर मुँह बिराया, मेवा ने पीछे जाकर कहा–"ए कुबडी, ए कुबड़ी, अपना कूबड़ दिखाओ।" और एक मुट्ठी धूल उसकी पीठ पर छोड़कर भागा। गुलकी का मुँह तमतमा आया और रुँधे गले से कराहते हुए

उसने पता नहीं क्या कहा। किन्तु उसके चेहरे पर भय की छाया बहुत गहरी हो गयी थी। बच्चे सब एक-एक मुट्ठी धूल लेकर शोर मचाते हुए दौड़े कि अकस्मात् घेघा बुआ का स्वर सुनायी पड़ा–"ऐ मुन्ना बाबू, जात हौ कि अवहिन बहिनजी का बुलाय के दुइचार कनेठी दिलवाई!"

"जाते तो हैं!" मुन्ना ने अकड़ते हुए कहा–"ए मिरवा, बिगुल बजाओ!" मिरवा ने दोनों हाथ मुँह पर रखकर कहा–'धुतु धुतु धू।' जुलूस चल पड़ा और कप्तान ने नारा लगाया–

'अपने देस में अपना राज!
गुलकी की दुकान बाईकाट!'

नारा लगाते हुए जुलूस गली में मुड़ गया। कुबड़ी ने आँसू पोंछे, तरकारी पर धूल झाड़ी और साग पर पानी के छींटे देने लगी।

गुलकी की उम्र ज़्यादा नहीं थी। यही हद से हद पचीस-छब्बीस। पर चेहरे पर झुर्रियाँ आने लगी थीं और कमर के पास से वह इस तरह दोहरी हो गयी थी जैसे अस्सी वर्ष की बुढ़िया हो। बच्चों ने जब पहली बार उसे मुहल्ले में देखा तो उन्हें ताज्जुब भी हुआ और थोड़ा भय भी। कहाँ से आयी? कैसे आ गयी? पहले कहाँ थी? इसका उन्हें कुछ अनुमान नहीं था। निरमल ने ज़रूरअपनी माँ को उसके पिता ड्राइवर से रात को कहते हुए सुना, "यह मुसीबत और खड़ी हो गयी। मरद ने निकाल दिया तो हम थोड़े ही यह ढोल गले बाँधेंगे। बाप अलग हम लोगों का रुपया खा गया। सुना कि चल बसा तो कहीं मकान हम लोग न दखल कर लें तो मरद को छोड़कर चली आयी। खबरदार जो चाभी दी तुमने!"

"क्या छोटेपन की बात करती हो! रुपया उसके बाप ने ले लिया तो क्या हम उसका मकान मार लेंगे? चाभी हमने दे दी है। दस-पाँच दिन का नाज-पानी भेज दो उसके यहाँ।"

"हाँ-हाँ, सारा घर उठा के भेज देव। सुन रही हो घेघा बुआ!"

"तो का भवा बहू, अरे निरमल के बाप से तो इसके बाप की दाँतकाटी रही।" घेघा बुआ की आवाज़ आयी–"बिचारी बाप की अकेली सन्तान रही। एही के बियाह में मिटियामेट हुइ गवा। पर ऐसे कसाई के हाथ दिहिस कि पाँचै बरस में कूबड़ निकल आवा।"

"साला यहाँ आवे तो हंटर से खबर लूँ मैं।" ड्राइवर साहब बोले–"पाँच बरस बाद बाल-बच्चा हुआ। अब मरा हुआ पैदा हुआ तो उसमें इसका क्या कसूर। साले ने सीढ़ी से ढकेल दिया। ज़िन्दगी-भर के लिए हड्डी खराब हो गयी न। अब कैसे गुज़ारा हो उसका?"

"बेटवा, इसको दुकान खुलवाय देव। हमरा चौतरा खाली पड़ा है। यही रुपया दुई

रुपया किरावा दै देवा करै, दिनभर अपना सौदा लगाय ले। हम का मना करित है? एत्ता बड़ा चौतरा मुहल्लेवालन के काम न आयी तो का हम छाती पर धै लैजाब! पर हाँ, मुला रुपया दै देवा करै।"

दूसरे दिन यह सनसनीखेज खबर बच्चों में फैल गयी। वैसे तो हकीमजी का चौतरा बड़ा था, पर वह कच्चा था, उस पर छाजन नहीं था। बुआ का चौतरा लम्बा था। उस पर पत्थर जड़े थे। लकड़ी के खम्भे थे। उस पर टीन छायी थी। कई खेलों की सुविधा थी। खम्भे के पीछे किल-किल काँटे की लकीरें खींची जा सकती थीं। एक टाँग से उचक-उचककर बच्चे चिबिड्डी खेल सकते थे। पत्थर पर लकड़ी का पीढ़ा रखकर नीचे से मुड़ा हुआ तार घुमाकर रेलगाड़ी चला सकते थे। जब गुलकी ने अपनी दुकान के लिए चबूतरे के खम्भों में बाँस बाँधे तो बच्चों को लगा कि उनके साम्राज्य में किसी अज्ञात शत्रु ने आकर किलेबन्दी कर ली है। वे दूर से कुबड़ी गुलकी को देखा करते थे। निरमल ही उसकी एकमात्र सम्वाददाता थी और निरमल का एकमात्र विश्वस्त सूत्र था उसकी माँ। उसने जो सुना था उसके आधार पर निरमल ने सबको बताया था कि यह चोर है। इसका बाप सौ रुपया चुराकर भाग गया। यह भी उसके घर का सारा रुपया चुराने आयी है। "रुपया चुरायेगी तो यह भी मर जायेगी।" मुन्ना ने कहा, "भगवान सबको दण्ड देता है।" निरमल बोली, "ससुराल में भी रुपया चुराये होगी।" मेवा बोला, "अरे कूबड़ थोड़े है। ओही रुपया बाँधे है पीठ पर। मनसेधू का रुपया है।" "सचमुच?" निरमल ने अविश्वास से कहा। "और नहीं क्या! कूबड़ थोड़े है। है तो दिखावै!" मुन्ना द्वारा उत्साहित होकर मेवा पूछने ही जा रहा था कि देखा साबुनवाली सत्ती खड़ी बात कर रही है गुलकी से—कह रही थी—"अच्छा किया तुमने। मेहनत से दुकान करो। अब कभी थूकने भी न जाना उसके यहाँ। हरामजादा, दूसरी औरत कर ले, चाहे दस और कर ले, सबका खून उसी के माथे चढ़ेगा। यहाँ कभी आवे तो कहलाना मुझसे। इसी चाकू से दोनों आँखें निकाल लूँगी।"

बच्चे डरकर पीछे हट गये। चलते-चलते सत्ती बोली, "कभी रुपये-पैसे की ज़रूरत हो तो बताना, बहिना।"

कुछ दिन बच्चे डरे रहे। पर अकस्मात् उन्हें सूझा कि सत्ती को गुलकी डराने के लिए बुलाती है। इसने उनके गुस्से में घी का काम किया। पर कर क्या सकते थे। अन्त में उन्होंने एक तरीका ईज़ाद किया। वे एक बुढ़िया का खेल खेलते थे। उसको उन्होंने संशोधित किया। मटकी को लैमजूस देने का लालच देकर कुबड़ी बनाया गया। वह उसी तरह पीछ दोहरी कर चलने लगी। बच्चों ने सवाल-जवाब शुरू किये—

"कुबड़ी-कुबड़ी, का हेराना?"

"सुई हिरानी!"

"सुई लैके क्या करबे?"
"कन्था सीबै!"
"कन्था सी के क्या करबे?"
"लकड़ी लाबै!"
"लकड़ी लाय के क्या करबे?"
"भात पकइबै!"
"भात पकाय के का करबे?"
"भात खाबै!"
"भात के बदले लात खाबे?"

और इसके पहले कि कुबड़ी बनी मटकी कुछ कह सके, वे उसे जोर से लात मारते और मटकी मुँह के बल गिर पड़ती, उसकी कोहनियाँ और घुटने छिल जाते और होंठ दबाकर वह रुलाई रोकती, बच्चे खुशी से चिल्लाते, 'मार डाला कुबड़ी को! मार डाला कुबड़ी को!" गुलकी यह सब देखती और मुँह फेर लेती।

एक दिन जब इसी प्रकार मटकी को कुबड़ी बनाकर गुलकी की दुकान के सामने ले गये तो इसके पहले कि मटकी जवाब दे उन्होंने अनचिते में उसे इतनी ज़ोर से ढकेल दिया कि वह कोहनी भी न टेक सकी और सीधे मुँह के बल गिरी। नाक, होंठ और भौंहे खून से लथपथ हो गये। वह 'हाय! हाय!' कर इस बुरी तरह चीखी की लड़के 'कुबड़ी मर गयी!' चिल्लाते हुए सहम भी गये और हतप्रभ हो गये। अकस्मात् उन्होंने देखा कि गुलकी उठी। वे जान छोड़कर भागे। पर गुलकी उठकर आयी, मटकी को गोद में लेकर पानी से उसका मुँह धोने लगी और धोती से उसका खून पोंछने लगी। बच्चों ने पता नहीं क्या समझा कि वह मटकी को मार रही है, या क्या कर रही है कि वे अकस्मात् उस पर टूट पड़े। गुलकी की चीखें सुनकर मुहल्ले के लोग आये तो उन्होंने देखा कि गुलकी के बाल बिखरे हैं, दाँतों से खून बह रहा है, अधउघारी चबूतरे के नीचे पड़ी है और सारी तरकारी सड़क पर बिखरी है। घेघा बुआ ने उसे उठाया, धोती ठीक की और बिगड़कर बोली, "औकात रत्तीभर नै, तेहा पौवा भर। आपन बखत देख के चुप नै रहा जात। काहे लड़कन के मुँह लगत हो?" लोगों ने पूछा तो कुछ नहीं बोली। जैसे उसे पाला मार गया हो। उसने चुपचाप अपनी दुकान ठीक की और दाँतों से खून पोंछा, कुल्ला किया और बैठ गयी।

उसके बाद अपने इस कृत्य से बच्चे जैसे खुद सहम गये थे। बहुत दिनों तक वे शान्त रहे। आज मेवा ने जब उसकी पीठ पर धूल फेंकी तो जैसे उसे खून चढ़ गया पर फिर न जाने क्या सोचकर चुप रह गयी और जब नारा लगाते हुए जुलूस गली में मुड़ गया तो उसने आँसू पोंछे, पीठ पर से धूल झाड़ी और साग पर पानी छिड़कने लगी। "लड़के का हैं गल्ली के, राच्छस हैं!" घेघा बुआ बोली। "अरे, उन्हें काहे कहो, बुआ! हमारा भाग ही खोटा है!" गुलकी ने गहरी साँस लेकर कहा॰॰

इस बार जो झड़ी लगी तो पाँच दिन तक लगातार सूरज के दर्शन नहीं हुए। बच्चे सब घर में कैद थे और गुलकी कभी दुकान लगाती थी, कभी नहीं। राम-राम करके छठवें दिन, तीसरे पहर झड़ी बन्द हुई। बच्चे हकीमजी के चौतरे पर खड़े हो गये, मेवा बिलबोटी बीन लाया था और निरमल ने टपकी हुई निमकौड़ियाँ बीनकर एक दुकान लगा ली थी और गुलकी की तरह आवाज़ लगा रही थी–"ले खीरा, आलू, मूरी, घिया-बण्डा!" थोड़ी देर में काफी शिशु-ग्राहक दुकान पर जुट गये। अकस्मात् बुआ के चौतरे से गीत का स्वर उठा। बच्चों ने घूमकर देखा, मटकी और मिरवा गुलकी की दुकान पर बैठे हैं। मटकी खीरा खा रही है और मिरवा झबरी का सिर अपनी गोद में रखे बिल्कुल उसकी आँखों में आँखें डालकर गा रहा है–"सनम तेरी कसम ···!"

तुरन्त मेवा गया और पता लगाकर आया कि गुलकी ने दोनों को एक-एक अधन्ना दिया है और दोनों मिलकर झबरी कुतिया के कीड़े निकाल रहे हैं। चौतरे पर हलचल मच गयी और मुन्ना ने कहा–"निरमल! मिरवा-मटकी को एक भी निमकौड़ी मत देना। रहें उस कुबड़ी के पास।" "हाँ जी!" निरमल ने आँख मटकाकर गोल मुँह करके कहा–"हमार अम्मा कहत रही उन्हें छूओ न! न साथ खायो, न खेलो। उन्हें बड़ी बुरी बीमारी है।" "आक् थू!" मुन्ना ने उनकी ओर देखकर उबकाई जैसा मुँह बनाकर थूक दिया।

गुलकी बैठी-बैठी सब समझ रही थी और जैसे इस निरर्थक घृणा में उसे कुछ रस आने लगा था। उसने मिरवा से कहा, "तुम दोनों मिलके गाओ तो एक अधन्ना दें। खूब ज़ोर से!" दोनों भाई-बहन से गाना शुरू किया, "माल कताली मल जाना, पल अकियाँ किछी छे···" अकस्मात् फटाक से दरवाज़ा खुला और एक लोटा पानी दोनों के ऊपर फेंकती हुई घेघा बुआ गरजी–"दुर कलमुँहे! अबहिन बित्तौ भर के नाहीं ना, पतुरियन के गाना गावे लगें। न बहिन का ख्याल, न बिटिया का। और ए कुबड़ी! हम तुहूँ से कहे देइत है कि हम चकलाखाना खोलै बरे अपना चौतरा नहीं दिया रहा। हुँह! चली हुआँ से मुजरा करावै!"

गुलकी ने उधर पानी छिटकाते हुए कहा, "बुआ, बच्चे हैं। गा रहे हैं। कौन कसूर हो गया।"

"ए हाँ! बच्चे हैं। तुहूँ तो दूध पियत बच्ची हौ। कह दिया जबान न लड़ायो हमसे, हाँ! हम बहुतै बुरी हैं। एक तो पाँच महीने से किरावा नाही दियो और हियाँ दुनिया भरके अन्धे-कोढ़ी बटुरे रहत है। चलौ उठाओ अपनी दुकान हियाँ से। कल से न देखी हियाँ तुम्हें! राम! राम! सब अधरम की सन्तान राच्छस पैदा भये हैं मुहल्ले में! धरतियौ नाही फाटत कि मर बिलाय जायँ।"

गुलकी सन्न रह गयी। उसने किराया सचमुच पाँच महीने से नहीं दिया था। बिक्री ही नहीं थी। मुहल्ले में कोई उससे कुछ लेता ही नहीं था पर इसके लिए बुआ उसे निकाल देंगी यह उसे कभी आशा नहीं थी। वैसे महीने में बीस दिन वह भूखी सोती

थी। धोती में दस-दस पैबन्द थे। मकान गिर चुका था। एक दालान में थोड़ी-सी जगह में वह सो जाती थी। पर दुकान तो वहाँ रखी ही नहीं जा सकती। उसने चाहा कि वह बुआ के पैर पकड़ ले, मिन्नत कर ले। पर बुआ ने जितनी ज़ोर से दरवाज़ा खोला था उतनी ही ज़ोर से बन्द कर दिया था। जब से चौमासा आया था, पुरवाई बही थी उसकी पीठ में भयानक पीड़ा उठती थी। उसके पाँव काँपते थे। सट्टी में उस पर बुरी तरह उधार चढ़ गया था। पर अब होगा क्या? वह मारे खीज के रोने लगी।

इतने में कुछ खटपट हुई और उसने घुटनों से मुँह उठाकर देखा कि मौका पाकर मटकी ने एक ताजा फूट निकाल लिया है और मरभुखी की तरह उसे वह हबर-हबर खाती जा रही है। एक क्षण वह उसके फूलते-पिचकते पेट को देखती रही, फिर ख्याल आते ही कि फूट पूरे दस पैसे का है, वह उबल पड़ी और सड़ासड़ तीन-चार खपच्ची मारते हुए बोली, "चोट्टी! कुतिया! तोरे बदन में कीड़ा पड़ै!" मटकी के हाथ से फूट गिर पड़ा पर वह नाली में से फूट के टुकड़े उठाकर भागी। न रोयी, न चीखी क्योंकि उसके मुँह में फूट भरा था। मिरवा हक्का-बक्का इस घटना को देख रहा था कि गुलकी उसी पर बरस पड़ी। सड़-सड़ उसने मिरवा को मारना शुरू किया—"भाग यहाँ से, हरामज़ादे!" मिरवा दर्द से तिलमिला उठा—"हमला पैछा देव तो जाइ।" "देते हैं पैसा, ठहर तो!" सड़-सड ··· रोता हुआ मिरवा चौतरे की ओर भागा।

निरमल की दुकान पर सन्नाटा छाया था। सब चुप उसी ओर देख रहे थे। मिरवा ने आकर कुबड़ी की शिकायत मुन्ना से की। मुन्ना चुप रहा। फिर मेवा की ओर घूमकर बोला, "मेवा, बता दो इसे!" मेवा पहले हिचकिचाया, फिर बड़ी मुलायमियत से बोला, "मिरवा, तुम्हें बिमारी हुई है न! तो हम लोग अब तुम्हें नहीं छुएँगे। साथ नहीं खिलाएँगे। तुम उधर बैठ जाओ।"

"हम बिमाल है, मुन्ना?"

मुन्ना कुछ पिघला—"हाँ, हमें छुओ मत। निमकौड़ी खरीदना हो तो उधर बैठ जाओ। हम दूर से फेंक देंगे। समझे!" मिरवा समझ गया, सिर हिलाया और अलग जाकर बैठ गया। मेवा ने निमकौड़ी उसके पास रख दी और वह चोट भूलकर पकी निमकौड़ी का बीजा निकालकर छीलने लगा।

इतने में ऊपर से घेघा बुआ की आवाज़ आयी—"ए मुन्ना! तईं तू लोग परे हो जाओ! अबहिन पानी गिरी ऊपर से।" बच्चों ने ऊपर देखा। तिछत्ते पर घेघा बुआ कछोटा मारे पानी में छप-छप करती घूम रही थी। कूड़े से तिछत्ते की नाली बन्द थी और पानी भरा था। जिधर बुआ खड़ी थी उसके ठीक नीचे गुलकी का सौदा था। बच्चे वहाँ से दूर थे पर गुलकी को सुनाने के लिए बात बच्चों से कही गयी थी। गुलकी कराहती हुई उठी। कूबड़ की वजह से वह तनकर तिछत्ते की ओर देख भी नहीं सकती थी। उसने धरती की ओर देखकर बुआ से कहा, "इधर की नाली काहे खोल रही हो? उधर की नाली खोलो न।"

"काहे उधर की खोली! उधर हमार चौका है कि नै!"

"इधर हमार सौदा लगा है।"

"ऐ हैं!" बुआ हाथ चमकाकर बोली, "सौदा लगा है रानी साहब का! किरावा देय की दाईं हियाव फाटत है और टर्राय की दाईं नटई में गामा पहलवान का ज़ोर तो देखौ। सौदा लगा है तो हम का करी। नारी तो इहै खुली!"

"खोलों तो देखें!" अकस्मात् गुलकी ने तड़पकर कहा। आज तक उसका यह स्वर किसी ने न सुना था–"पाँच महीने का दस रुपया नहीं दिया बेसक, पर हमारे घर की धन्नी निकाल के बसन्तू के हाथ किसने बेचा? तुमने! पच्छिम ओर का दरवाज़ा चिरवा के किसने जलवाय? तुमने! हम गरीब हैं। हमरा बाप नहीं है। सारा मुहल्ला हमें मिल के मार डालो।"

"हमें चोरी लगाती है! अरे, कल की पैदा हुई!" बुआ मारे गुस्से के खड़ी-बोली बोलने लगी थी।

बच्चे चुप खड़े थे। वे कुछ-कुछ सहमे हुए थे। कुबड़ी का यह रूप उन्होंने कभी न देखा था, न सोचा था।

"हाँ! हाँ! हाँ! तुमने, ड्राइवर चाचा ने, चाची ने, सबने मिलके हमारा मकान उजाड़ा है। अब हमारी दुकान बहाव देव। देखेंगे हम भी। निरबल के भी भगवान हैं!"

"ले! ले! ले! भगवान है तो ले!" और बुआ ने पागलों की तरह दौड़कर नाली का कूड़ा लकड़ी से ठल दिया।

छः इंच गन्दे पानी की धार धड़-धड़ करती हुई उसकी दुकान पर गिरने लगी। तरोइयाँ पहले नाली में गिरीं, फिर मूली, खीरे, साग, अदरक उछल-उछलकर दूर जा गिरे। गुलकी आँखें फाड़े पागल-सी देखती रही और फिर दीवार पर सिर पटककर हृदय विदारक स्वर में डकार मारकर रो पड़ी–"अरे मोर बाबू–हमें कहाँ छोड़ गये! अरे मोरी माई! पैदा होते ही हमें काहे नहीं मार डाला! अरे धरती मइया, हमें काहे नहीं लील लेती!"

सिर खोले, बाल बिखेरे, छाती कूट-कूटकर गुलकी रो रही थी और तिछत्ते का पिछले नौ दिन का पानी घड़-घड़ घड़-घड़ गिर रहा था।

बच्चे चुप खड़े थे। अब तक जो हो रहा था उनकी समझ में आ रहा था, पर आज यह क्या हो गया यह उनकी समझ में नहीं आ सका। पर वे कुछ बोले नहीं। सिर्फ मटकी उधर गयी और नाली में बहता हुआ एक मोटा हरा खीरा निकालने लगी कि मुन्ना ने डाँटा, "खबरदार, जो कुछ चुराया!" मटकी पीछे हट गयी। वे सब किसी अप्रत्याशित भय, संवेदना या आशंका से जुड़-बटुरकर खड़े हो गये। सिर्फ मिरवा अलग सिर झुकाये खड़ा था। झींसी फिर पड़ने लगी थी और वे एक-एक कर अपने घर चले गये।

दूसरे दिन चौतरा खाली था। दुकान का बाँस उखड़वाकर बुआ ने नाँद में गाड़कर

उस पर तुरई की लतर चढ़ा दी थी। उस दिन बच्चे आये पर उनकी हिम्मत उस चौतरे पर जाने की नहीं हुई। जैसे वहाँ कोई मर गया हो। बिल्कुल सुनसान चौतरा था और फिर तो ऐसी झड़ी लगी कि बच्चों का निकलना बन्द। चौथे या पाँचवे दिन भयानक वर्षा तो हो ही रही थी, पर बादल भी ऐसे गरज रहे थे कि मुन्ना अपनी खाट से उठकर अपनी माँ के पास घुस गया। बिजली चमकते ही कमरा जैसे रोशनी से नाच-नाच उठता था। छत पर बूँदों की पटर-पटर कुछ धीमी हुई, थोड़ी हवा भी चली और पेड़ों का हर-हर सुनायी पड़ा कि इतने में घड़-घड़-घड़ घड़ाम! भयानक आवाज हुई। माँ भी चौंक पड़ी। पर उठी नहीं। मुन्ना आँखें खोले अंधेरे में ताकने लगा। सहसा लगा मुहल्ले में कुछ लोग बातचीत कर रहे हैं। घेघा बुआ की आवाज सुनायी पड़ी—"किसी का मकान गिरा है, रे?" "गुलकी का!" किसी का दूरागत उत्तर आया। "अरे बाप रे, दब गयी का?" "नहीं! आज तो मेवा की माँ के यहाँ सोयी है!" मुन्ना लेटा था और उसके ऊपर अँधेरे में ये सवाल-जवाब इधर से उधर और उधर से इधर जा रहे थे। वह फिर काँप उठा, माँ के पास घुस गया और सोते-सोते उसने साफ सुना—कुबड़ी फिर उसी तरह रो रही है, गला फाड़कर रो रही है। कौन जाने मुन्ना के ही आँगन में बैठकर रो रही है। नींद में वह स्वर कभी दूर जाता, कभी पास आता हुआ ऐसा लग रहा था जैसे कुबड़ी मुहल्ले के हर आँगन में रो रही हो, पर कोई सुन नहीं रहा, सिवाय मुन्ना के।

बच्चों के मन में कोई बात इतनी गहरी लकीर नहीं बनाती कि उधर से उनका ध्यान हटे ही नहीं। सामने गुलकी थी तो वह एक समस्या थी, पर उसकी दुकान हट गयी, फिर वह जाकर साबुनवाली सत्ती के गलियारे में सोने लगी और दो-चार घर से माँग-जाँचकर खाने लगी। उस गली में दिखती ही नहीं थी। बच्चे भी दूसरे कामों में व्यस्त हो गये। अब जाड़े आ रहे थे तो उनका जमावड़ा सुबह न होकर तीसरे पहर होता था। जमा होने के बाद जुलूस निकलता था और जिस जोशीले नारे से गली गूँज उठती थी, वह था—"घेघा बुआ को वोट दो!" पिछले दिनों म्युनिसिपैलटी का चुनाव हुआ था और उसी में बच्चों ने यह नारा सीखा था। वैसे कभी-कभी बच्चों में दो पार्टियाँ भी होती थीं, पर दोनों को घेघा बुआ से अच्छा उम्मीदवार कोई नहीं मिलता था, अतः दोनों ही गला फाड़-फाड़कर उनके लिए वोट माँगती थीं।

उस दिन जब घेघा बुआ के धैर्य का बाँध टूट गया और नयी-नयी गालियों से विभूषित अपनी प्रथम इलेक्शन स्पीच देने ज्यों ही चौतरे पर अवतरित हुई कि उसे डाकिया आता हुआ दिखायी पड़ा। वह अचकचाकर रुक गयी। डाकिये के हाथ में एक पोस्टकार्ड था और वह गुलकी को ढूँढ़ रहा था। बुआ ने लपककर पोस्टकार्ड लिया, एक साँस में पढ़ गयी। उसकी आँखें मारे अचरज के फैल गयीं और डाकिये को बताकर कि गुलकी सत्ती साबुनवाली के ओसारे में रहती है, वह झट से दौड़ी-दौड़ी निरमल की माँ ड्राइवर की पत्नी के यहाँ गयी। बड़ी देर तक दोनों में

सलाह-मशविरा होता रहा और अन्त में बुआ आयी और उसने मेवा को भेजा–"जा, गुलकी को बुलाय ला!"

पर जब मेवा लौटा तो उसके साथ गुलकी नहीं, सत्ती साबुनवाली थी और सदा की भाँति इस समय भी उसकी कमर में वह काले बेंट का चाकू लटक रहा था, जिससे वह साबुन की टिक्की काटकर दुकानदारों को देती थी। उसने आते ही भौंह सिकोड़कर बुआ को देखा और कड़े स्वर में बोली, "क्यों बुलाया है गुलकी को? तुम्हारा दस रुपया किराया बाकी था, तुमने पन्द्रह रुपये का सौदा उजाड़ दिया! अब क्या काम है?"

"अरे! राम-राम! कैसा किराया, बेटी! अन्दर आओ, अन्दर आओ!" बुआ के स्वर में असाधारण मुलायमियत थी। सत्ती के अन्दर जाते ही बुआ ने फटाक से किवाड़ बन्द कर लिये। बच्चों का कौतूहल बहुत बढ़ था। बुआ के चौके में एक झँझरी थी। सब बच्चे वहाँ पहुँचे और आँख लगाकर कनपटियों पर दोनों हथेलियाँ रखकर 'घण्टीवाला बाइसकोप' देखने की मुद्रा में खड़े हो गये।

अन्दर सत्ती गरज रही थी–"बुलाया है तो बुलाने दो। क्यों जाये गुलकी? अब बड़ा ख्याल आया है! इसलिए कि उसकी रखैल को बच्चा हुआ है तो जाके गुलकी झाड़ू-बुहारू करे, खाना बनावै, बच्चा खिलावै और वह मरद का बच्चा गुलकी की आँख के आगे रखैल के साथ गुलछर्रे उड़ावै!"

निरमल की माँ बोली–"अरे बिटिया! पर गुज़र तो अपने आदमी के साथ करेगी न! जब उसकी पत्री आयी है तो गुलकी को जाना चाहिए। और मरद तो मरद। एक रखैल छोड़ दुइ-दुइ रखैल रख ले तो औरत उसे छोड़ देगी? राम! राम!"

"नहीं, छोड़ नहीं देगी तो जाये के लात खायेगी?" सत्ती बोली।

"अरे बेटा!" बुआ बोली, "भगवान रहे न! तोन मथुरापुरी में कुब्जा दासी के लात मारिन तो ओकर कूबर सीधा हुइ गवा। पती तो भगवान है, बिटिया! ओको जाय देव!"

"हाँ-हाँ, बड़ी हितू न बनिए। उसके आदमी से आप लोग मुफ्त में गुलकी का मकान झटकना चाहती हैं। मैं सब समझती हूँ।"

निरमल की माँ का चेहरा जर्द पड़ गया। पर बुआ ने ऐसी कच्ची गोली नहीं खेली थी। वह डपटकर बोली, "खबरदार, जो कच्ची ज़बान निकाल्यो! तुम्हारा चलित्तर कौन नै जनता! ओही छोकरा मानिक ··· "

"ज़बान खींच लूँगी ··· " सत्ती गला फाड़कर चीखी, "जो आगे एक हरूफ कहा!" और उसका हाथ अपने चाकू पर गया।

"अरे! अरे! अरे!" बुआ सहमकर दस कदम पीछे हट गयी, "तो का खून करवो का? सत्ती जैसे आयी थी वैसे ही चली गयी।

तीसरे दिन बच्चों ने तय किया कि होरी बाबू के कुएँ पर चलकर बरें पकड़ी जायें।

उन दिनों उनका ज़हर शान्त रहता है, बच्चे उन्हें पकड़कर उनका छोटा-सा काला डंक निकाल लेते और फिर डोरी से बाँधकर उसे उड़ाते हुए घूमते। मेवा, निरमल और मुन्ना एक-एक बर्र उड़ाते हुए जब गली में पहुँचे तो वहाँ देखा बुआ के चौतरे पर टीन की कुर्सी डाले कोई आदमी बैठा है। उसकी अजब शक्ल थी। कान पर बड़े-बड़े बाल, मिचमिची आँखें, मोछा और तेल से चुचुआते हुए बाल। कमीज़ और धोती पर पुराना बदरंग बूट। मटकी हाथ फैलाये कह रही है, "एक डबल दै देव! ए दै देव-ना!" मुन्ना को देखकर मटकी ताली बजा-बजाकर कहने लगी, "गुलकी का मनसेधू आवा है। ए मुन्ना बाबू! ई कुबड़ी का मनसेधू है।" फिर उधर मुड़कर-"एक डबल दै देव।" तीनों बच्चे कौतूहल से रुक गये। इतने में निरमल की माँ एक गिलास में चाय भरकर लायी और उसे देते-देते निरमल के हाथ में बर्र देखकर डाँटने लगी। बर्र छुड़ाकर निरमल को पास बुलाया और बोली, "बेटा, ई हमारी निरमला है। ए निरमला, जीजाजी हैं, हाथ जोड़ो! बेटा, गुलकी हमरी जात-बिरादरी की नहीं तो का हुआ, हमरे लिए जैसे निरमल वैसे गुलकी। अरे निरमल के बाबू और गुलकी के बाप की दाँतकाटी रही। एक मकान बचा है उनकी चिन्हारी, और का!" एक गहरी साँस लेकर निरमल की माँ ने कहा।

"अरे तो का उन्हें कोई इन्कार है।" बुआ आ गयी थी, "अरे, सौ रुपया तुम दैबे किये रह्यू। चलो, तीन सौ रुपया और दै देव। अपने नाम कराय लेब!"

"भवा! भवा! ऐ बेटा दमाद हो, पाँच सौ रुपया कहबो तो का निरमल की माँ को इन्कार है।"

अकस्मात् वह आदमी उठकर खड़ा हो गया। आगे-आगे सत्ती चली आ रही थी, पीछे-पीछे गुलकी। सत्ती चौतरे के नीचे खड़ी हो गयी। बच्चे दूर हट गये। गुलकी ने सिर उठाकर देखा और अचकचाकर सिर पर पल्ला डालकर माथे तक खींच लिया। सत्ती दो-एक क्षण उसकी ओर एकटक देखती रही और फिर गरजकर बोली, "यही कसाई है। गुलकी, आगे बढ़कर मार दो चपोटा इसके मुँह पर! खबरदार, जो कोई बोला!" बुआ चट से देहरी के अन्दर हो गयी, निरमल की माँ की घिग्घी बँध गयी और वह आदमी हड़बड़ाकर पीछे हटने लगा।

"बढ़ती क्यों नहीं, गुलकी! बड़ा आया उहाँ से विदा कराने!"

गुलकी आगे बढ़ी-सब सन्न थे-सीढ़ी चढ़ी, उस आदमी के चेहरे पर हवाइयाँ उड़ने लगीं। गुलकी चढ़ते-चढ़ते रुकी, सत्ती की ओर देखा, ठिठकी, अकस्मात् लपकी और उस आदमी के पाँव गिरकर फफक-फफककर रोने लगी-"हाय, हमें काहे को छोड़ दियौ! तुम्हरे सिवा हमरा लोक-परलोक में और कौन है। अरे, हमरे मरे पर कौन चुल्लू भर पानी चढ़ाई···"

सत्ती का चेहरा स्याह पड़ गया। उसने बड़ी हिकारत से गुलकी की ओर देखा और गुस्से से थूक निगलते हुए कहा, "कुतिया!" और तेज़ी से चली गयी। निरमल की

माँ और बुआ गुलकी के सिर पर हाथ रखकर कह रही थीं–"मत रो, बिटिया, मत रो! सीता मइया भी तो बनवास भोगिन रहा। उठो, गुलकी बेटी। धोती बदल लेव, कंघी-चोटी करो। पति के सामने ऐसे आना असगुन होता है। चलो।"

गुलकी आँसू पोंछती-पोंछती निरमल की माँ के घर चली। बच्चे पीछे-पीछे चले तो बुआ ने डाँटा–"ऐ, चलो एहर, हुआँ लड्डू बँट रहा है का!"

दूसरे दिन निरमल के बाबू (ड्राइवर साहब) गुलकी और जीजा दिनभर कचहरी में रहे। शाम को लौटे तो निरमल की माँ ने पूछा, "पक्का कागज़ लिख गया?" "हाँ-हाँ रे, हाकिम के सामने लिख गया।" फिर ज़रा निकट आकर फुसफुसाकर बोले, "मिट्टी के मोल मकान मिला है। अब कल दोनों को विदा करो। अरे, पहले सौ रुपया लाओ! बुआ का हिस्सा भी देना है।" निरमल की माँ उदास स्वर में बोली, "बड़ी चण्ट है बुढ़िया–गाड़-गाड़ के रख रही है, मर के साँप होयगी।"

सुबह निरमल की माँ के यहाँ मकान खरीदने की कथा थी। शंख, घंटा-घड़ियाल, केले का पत्ता, पंजीरी, पंचामृत का आयोजन देखकर मुन्ना के अलावा सब बच्चे जमा हो गये थे; गुलकी एक पीली धोती पहने, माथे तक घूँघट काढ़े, सुपारी काट रही थी और बच्चे झाँक-झाँककर देख रहे थे। मेवा ने पास पहुँचकर कहा, "ए गुलकी, ए गुलकी, जीजा के साथ जाओगी क्या?" कुबड़ी ने झेंपकर कहा, "धत रे! ठिठोली करता है!" और लज्जा-भरी जो मुस्कान किसी भी तरुणी के चेहरे पर मनमोहक लाली बनकर फैल जाती, वह उसके झुर्रियोंदार, बेडौल, नीरस चेहरे पर विचित्र रूप से वीभत्स लगने लगी। उसके काले पपड़ीदार होंठ सिकुड़ गये, आँखों के कोने मिचमिचा उठे और अत्यन्त कुरुचिपूर्ण ढंग से उसने पल्ले से सिर ढाँक लिया और पीठ सीधी करके जैसे कूबड़ छिपाने का प्रयास करने लगी। मेवा पास ही बैठ गया। कुबड़ी ने पहले इधर-उधर देखा, फिर फुसफुसाकर मेवा से कहा, "क्यों रे, जीजाजी कैसे लगे तुझे?" मेवा ने असमंजस में या संकोच में पड़कर कोई जवाब नहीं दिया तो जैसे अपने को समझाते हुए गुलकी बोली, "कुछ भी होय, है तो अपना आदमी! हारे-गाढ़े कोई और काम आवेगा? औरत को दबाकर रखना ही चाहिए।" फिर थोड़ी देर चुप रहकर बोली, "मेवा भइया, सत्ती हमसे नाराज़ है। अपनी सगी बहन क्या करेगी, जो सत्ती ने किया हमारे लिए। ये चाची और बुआ तो मतलब के साथी हैं, हम क्या जानते नहीं? पर भइया, अब जो कहो कि हम सत्ती के कहने से मरद को छोड़ दें, सो नहीं हो सकता।" इतने में किसी का छोटा-सा बच्चा घुटनों के बल चलकर मेवा के पास आकर बैठ गया। गुलकी क्षणभर उसे देखती रही, फिर बोली, "पति से हमने अपराध किया तो भगवान ने बच्चा छिना लिया, अब भगवान हमें क्षमा कर देंगे।" फिर कुछ क्षण के लिए चुप हो गयी, "क्षमा करेंगे तो दूसरी सन्तान देंगे?

तुम्हारे पिताजी को भगवान बनाये रक्खे। खोट तो हमी में है। फिर सन्तान होगी तो सौत का राज नहीं चलेगा!"

इतने में गुलकी ने देखा कि दरवाज़े पर उसका आदमी खड़ा बुआ से कुछ बातें कर रहा है। गुलकी ने तुरन्त पल्ले से सिर ढँका और लजाकर उधर पीठ कर ली। बोली, "राम! राम! कितने दुबरा गये हैं! हमारे बिना कौन खाने-पीने का ध्यान रखता। अरे, सौत तो अपने मतलब की होगी। ले भइया मेवा, जा, दो बीड़ा पान दे आ जीजा को!" फिर उसके मुँह पर वही लाज की वीभत्स मुद्रा आयी—"तुझे कसम है, बताना मत किसने दिया है।"

मेवा पान लेकर गया पर वहाँ उस पर किसी ने ध्यान ही नहीं दिया। वह आदमी बुआ से कह रहा था, "इसे ले तो जा रहा हूँ, पर इतना कहे देता हूँ, आप भी समझा दें उसे—कि रहना हो तो दासी बनकर रहे। न दूध की, न पूत की। हमारे कौन काम की; पर हाँ, औरतिया की सेवा करे, उसका बच्चा खिलावे, झाड़ू-बुहारू करे तो दो रोटी खाए पड़ी रहे। पर कभी उससे ज़बान लड़ाई तो खैर नहीं। हमारा हाथ बड़ा जालिम है। एक बार कूबड़ निकला, तो अगली बार प्रान ही निकलेगा।"

"क्यों नहीं, बेटा! क्यों नहीं!" बुआ बोली और उन्होंने मेवा के हाथ से पान लेकर अपने मुँह में दबा लिये।

करीब तीन बजे इक्का लाने के लिए निरमल की माँ ने मेवा को भेजा। कथा की भीड़-भाड़ से उनका 'मूड़ पिराने' लगा था, अतः अकेली गुलकी सारी तैयारी कर रही थी। मटकी कोने में खड़ी थी। मिरवा और झबरी बाहर गुमसुम बैठे थे। निरमल की माँ ने बुआ को बुलाकर पूछा कि विदा-विदाई में क्या करना होगा, तो बुआ मुँह बिगाड़कर बोली, "अरे, कोई जात-बिरादरी की है का? एक लोटा में पानी भरके इक़न्नी-दुकन्नी उतार के परजा-पजारू को दे दियो बस!" और फिर बुआ शाम की तैयारी में लग गयी।

इक्का आते ही जैसे झबरी पागल-सी इधर-उधर दौड़ने लगी। उसे जाने कैसे आभास हो गया कि गुलकी जा रही है, सदा के लिए। मेवा ने अपने छोटे-छोटे हाथों से बड़ी-बड़ी गठरियाँ रखीं, मटकी और मिरवा चुपचाप आकर इक्के के पास खड़े हो गये। सिर झुकाये पत्थर-सी चुप गुलकी निकली। आगे-आगे हाथ में पानी का भरा लोटा लिये निरमल थी। वह आदमी जाकर इक्के पर बैठ गया। "अब जल्दी करो!" उसने भारी गले से कहा। गुलकी आगे बढ़ी, फिर रुकी और उसने टेंट से दो अधन्ने निकाले—"ले, मिरवा! ले, मटकी!" मटकी, जो हमेशा हाथ फैलाये रखती थी, इस समय जाने कैसा संकोच उसे आ गया कि वह हाथ नीचे कर दीवार से सटकर खड़ी हो गयी और सिर हिलाकर बोली—"नहीं!" —"नहीं बेटा, ले लो!" गुलकी ने पुचकारकर कहा। मिरवा-मटकी ने पैसे ले लिये और मिरवा बोला, "छलाम, गुलकी!

ए आदमी, छलाम!"

"अब क्या गाड़ी छोड़नी है!" वह फिर भारी गले से बोला।

"ठहरो बेटा, कहीं ऐसे दामाद की विदाई होती है।" सहसा एक बिल्कुल अजनबी किन्तु अत्यन्त मोटा स्वर सुनायी पड़ा। उसने अचरज से देखा कि मुन्ना की माँ चली आ रही है। "हम तो मुन्ना का आसरा देख रहे थे कि स्कूल से आ जाये, उसे नाश्ता करा लें तो आयें, पर इक्का आ गया तो हमने समझा अब तू चली। अरे निरमल की माँ, कहीं ऐसे बेटी की बिदा होती है। लाओ, ज़रा रोली घोलो जल्दी से, चावल लाओ और सेन्दुर भी ले आना, निरमल बेटा! तुम बेटा उतर आओ इक्के से!"

निरमल की माँ का चेहरा स्याह पड़ गया था। बोली, "जितना हमसे बन पड़ा, किया। किसी को दौलत का घमण्ड थोड़े ही दिखाना था!" "नहीं बहन! तुमने तो किया, पर मुहल्ले की बिटिया तो सारे मुहल्ले की बिटिया होती है। हमारा भी तो फर्ज था। अरे, माँ-बाप नहीं तो मुहल्ला तो है। आओ, बेटा!" और उन्होंने टीका करके आँचल के नीचे छिपाये कुछ कपड़े और एक नारियल उसकी गोद में डालकर उसे चिपका लिया। गुलकी जो अभी तक पत्थर-सी चुप थी, सहसा फूट पड़ी। उसे पहली बार लगा जैसे वह मायके से जा रही है–मायके से ··· अपनी माँ को छोड़कर ··· छोटे भाई-बहनों को छोड़कर ··· और वह अपने कर्कश फूटे हुए गले से विचित्र स्वर में रो पड़ी।

"ले! चुप हो जा! तेरा भाई भी आ गया।" वह बोलीं। मुन्ना बस्ता लटकाये स्कूल से चला आ रहा था। कुबड़ी को अपनी माँ के कन्धे पर सिर रखकर रोते देखकर वह बिल्कुल हतप्रभ-सा हो गया। "आओ बेटा! गुलकी जा रही है न आज! दीदी है न! बड़ी बहन है। चल, पाँव छू ले! आ इधर!" माँ ने फिर कहा। मुन्ना ··· और कुबड़ी के पाँव छुए? क्यों? क्यों? पर माँ की बात! एक क्षण में जैसे उसके मन में एक पूरा पहिया घूम गया और वह गुलकी की ओर बढ़ा। गुलकी ने दौड़कर उसे चिपका लिया और फूट पड़ी–"हाय मेरे भइया! अब हम जा रहे हैं। अब किससे लड़ोगे, मुन्ना भइया? अरे मेरे बीरन, अब किससे लड़ोगे?" मुन्ना को लगा जैसे उसकी छोटी-छोटी पसलियों में एक बहुत बड़ा-सा आँसू जमा हो गया जो अब छलकने ही वाला है। इतने में उस आदमी ने फिर आवाज दी और गुलकी कराहकर मुन्ना की माँ का सहारा लेकर इक्के पर बैठ गयी। इक्का खड़-खड़ कर चल पड़ा। मुन्ना की माँ मुड़ी कि बुआ ने व्यंग्य किया–"एक आध गाना भी बिदाई का गये जाओ, बहन! गुलकी बन्नो ससुराल जा रही है!" मुन्ना की माँ ने कुछ जवाब नहीं दिया, मुन्ना से बोली, "जल्दी घर आना, बेटा। नाश्ता रखा है।"

पर पागल मिरवा ने, जो बम्बे पर पाँव लटकाये बैठा था, जाने क्या सोचा कि वह सचमुच गला फाड़कर गाने लगा–"बन्नो डाले डुपट्टे का पल्ला, मुहल्ले से चली गयी राम!" यह उस मुहल्ले में हर लड़की की विदा पर गाया जाता था। बुआ ने

घुड़का तब भी वह चुप नहीं हुआ, उलटे मटकी बोली, "काहें न गावें, गुलकी ने पैसा दिया है!" और उसने भी सुर मिलाया–"बन्नो तली गई लाम! बन्नो तली गई लाम! बन्नो तली गई लाम!"

मुन्ना चुपचाप खड़ा रहा। मटकी डरते-डरते आयी–"मुन्ना बाबू! कुबड़ी ने अधन्ना दिया है। ले लें?"

"ले ले!" बड़ी मुश्किल से मुन्ना ने कहा और उसकी आँखों से दो बड़े-बड़े आँसू डबडबा आये। उन्हीं आँसुओं की झिलमिली में कोशिश करते हुए मुन्ना ने जाते हुए इक्के की ओर देखा। गुलकी आँसू पोंछते हुए परदा उठाकर सबको मुड़-मुड़कर देख रही थी। मोड़ पर एक धचके से इक्का मुड़ा और फिर अदृश्य हो गया।

सिर्फ झबरी सड़क तक इक्के के साथ गयी और फिर लौट आयी। □

# मेरा दुश्मन

**कृष्ण बलदेव वैद**
(जन्म : सन् 1927 ई.)

वह इस समय दूसरे कमरे में बेहोश पड़ा है। आज मैंने उसकी शराब में कोई चीज़ मिला दी थी, कि खाली शराब वह शरबत की तरह गट-गट पी जाता है, और उस पर कोई खास असर नहीं होता। आँखों में लाल डोरे-से झूलने लगते हैं, माथे की शिकनें पसीने में भीगकर दमक उठती हैं, होठों का ज़हर और उजागर हो जाता है और बस–होशोहवास बदस्तूर कायम रहते हैं।

हैरान हूँ कि यह तरकीब मुझे पहले कभी क्यों नहीं सूझी। शायद सूझी भी हो, और मैंने कुछ सोचकर इसे दबा दिया हो। मैं हमेशा कुछ-न-कुछ सोचकर कई बातों को दबा जाता हूँ। आज भी मुझे अन्देशा तो था कि वह पहले ही घूँट में ज़ायका पहचानकर मेरी चोरी पकड़ लेगा। लेकिन गिलास खत्म होते-होते उसकी आँखें बुझने लगी थीं और मेरा हौसला बढ़ गया था। जी में आया था कि उसी क्षण उसकी गरदन मरोड़ दूँ, लेकिन फिर नतीजों की कल्पना से दिल दहलकर रह गया था। मैं समझता हूँ कि हर बुज़दिल आदमी की कल्पना बहुत तेज़ होती है, हमेशा उसे हर खतरे से बचा ले जाती है। फिर भी हिम्मत बाँधकर मैंने एक बार सीधे उसकी ओर देखा ज़रूर था। इतना भी क्या कम है कि साधारण हालात में मेरी निगाहें सहमी हुई-सी उसके सामने इधर-उधर फड़फड़ाती रहती हैं। साधारण हालत में मेरी स्थिति उसके सामने बहुत असाधारण रहती है।

खैर, अब उसकी आँखें बन्द हो चुकी थीं और सिर झूल रहा था। एक ओर लुढ़ककर गिर जाने से पहले उसकी बाँहें दो लदी हुई ढीली टहनियों की सुस्त-सी उठान के साथ मेरी ओर उठ गयी थीं। उसे इस तरह लाचार देखकर भ्रम हुआ कि वह दम तोड़ रहा है।

लेकिन मैं जानता हूँ कि वह मूज़ी किसी भी क्षण उछलकर खड़ा हो सकता है। होश सँभालने पर वह कुछ कहेगा नहीं। उसकी ताकत उसकी खामोशी में है। बातें

वह उस ज़माने में भी बहुत कम किया करता था, लेकिन अब तो जैसे बिल्कुल गूँगा हो गया हो।

उसकी गूँगी अवहेलना की कल्पना-मात्र से मुझे दहशत हो रही है। कहा न कि मैं एक बुज़दिल इन्सान हूँ।

वैसे मैं न जाने कैसे समझ बैठा था कि इतने अरसे की अलहदगी के बाद अब मैं उसके आतंक से पूरी तरह आज़ाद हो चुका हूँ। इसी खुशफ़हमी में शायद उस रोज़ उसे मैं अपने साथ ले आया था। शायद मन में कहीं, उस पर रोब गाँठने, उसे नीचा दिखाने की दुराशा भी रही हो। हो सकता है कि मैंने सोचा हो कि वह मेरी जीती-जागती खूबसूरत बीवी, चहकते-मटकते तन्दुरुस्त बच्चों और आरास्ता-पैरास्ता आलीशान कोठी को देखकर खुद ही मैदान छोड़कर भाग जायेगा, और हमेशा के लिए मुझे उससे निजात मिल जायेगी। शायद मैं उस पर यह सब साबित कर दिखाना चाहता था कि उससे पीछा छुड़ा लेने के बाद किस खुशगवार हद तक मैंने अपनी ज़िन्दगी को सँभाल-सँवार लिया है।

लेकिन ये सब लँगड़े बहाने हैं। हक़ीकत शायद यह है कि उस रोज़ मैं उसे अपने साथ नहीं लाया था, बल्कि वह खुद ही मेरे साथ चला आया था, जैसे मैं उसे नहीं बल्कि वह मुझे नीचा दिखाना चाहता हो। ज़ाहिर है कि उस समय यह बारीक बात मेरी समझ में नहीं आयी होगी। मौके पर ठीक बात मैं कभी नहीं सोच पाता। यही तो मुसीबत है। वैसे मुसीबतें और भी बहुत हैं, लेकिन उन सबका ज़िक्र करना यहां बेकार होगा।

खैर, माला के सामने उस रोज़ मैंने इसी किस्म की कोई लँगड़ी सफाई पेश करने की कोशिश की थी और उस पर कोई असर नहीं हुआ था। वह उसे देखते ही बिफर उठी थी। सबसे पहले अपनी बेवकूफी और सारी स्थिति का अहसास शायद मुझे उसी क्षण हुआ था। मुझे उस कमबख्त से, वहीं घर से दूर, उस सड़क के किनारे किसी-न-किसी तरह निबट लेना चाहिए था। अगर अपनी उस सहमी हुई खामोशी को तोड़कर मैंने अपनी तमाम मज़बूरियाँ उसके सामने रख दी होतीं, माला का एक खाका-सा खींच दिया होता, साफ-साफ उससे कह दिया होता—देखो गुरु, मुझ पर दया करो और मेरा पीछा छोड़ दो—तो शायद वहीं हम किसी समझौते पर पहुँच जाते। और नहीं तो वह मुझे कुछ मोहलत तो दे ही देता। छूटते ही दो मोरचों को एक साथ सँभालने की दिक्कत तो पेश न आती। कुछ भी हो, मुझे उसे अपने घर नहीं लाना चाहिए था। लेकिन अब यह सारी समझदारी बेकार थी। माला और वह एक-दूसरे को यूँ घूर रहे थे जैसे दो पुराने और जानी दुश्मन हों। एक क्षण के लिए मैं यह सोचकर आश्वस्त हुआ था कि माला सारी स्थिति खुद सँभाल लेगी, और फिर दूसरे ही क्षण मैं माला की लानत-मलामत की कल्पना कर सहम गया था। बात को मज़ाक में घोल देने की कोशिश में मैंने एक खास गिलगिले लहजे में—जो मेरे पास ऐसे नाज़ुक मौकों

के लिए सुरक्षित रहता है–कहा था, डार्लिंग! ज़रा रास्ता तो छोड़ो, कि हम बहुत लम्बी सैर से लौटे हैं, ज़रा बैठ जायें तो जो सज़ा जी में आये, दे देना।

वह रास्ते से तो हट गयी थी, लेकिन उसके तनाव में कोई कमी नहीं हुई थी, और न ही उसने मुझे बैठने दिया था। साथ ही उस मुरदार ने मेरी तरफ यूँ देखा था जैसे कह रहा हो–तो तुम वाक़ई इस औरत के गुलाम बनकर रह गये हो। और खुद मैं उन दोनों की तरफ़ यूँ देख रहा था जैसे एक की नज़र बचाकर दूसरे से कोई साज़िशी सम्बन्ध पैदा कर लेने की ख्वाहिश हो।

फिर माला ने मौक़ा पाते ही मुझे अलग ले जाकर डाँटना-डपटना शुरू कर दिया था–मैं पूछती हूँ कि यह तुम किस आवारागर्द को पकड़कर साथ ले आये हो? ज़रूर कोई तुम्हारा पुराना दोस्त होगा? है न! इत्ते बरस शादी को हो चले; लेकिन तुम अभी तक वैसे-के-वैसे ही रहे। मेरे बच्चे उसे देखकर क्या कहेंगे? पड़ोसी क्या सोचेंगे? अब कुछ बोलोगे भी?

मैं हैरान था कि क्या बोलूँ! माला के सामने मैं बोलता कम हूँ, ज़्यादा समय तोलने में ही बीत जाता है, और उसका मिजाज़ और बिगड़ जाता है। वैसे उसका गुस्सा बज़ा था। उसका गुस्सा हमेशा बज़ा होता है। हमारी कामयाब शादी की बुनियाद भी इसी पर कायम है–उसकी हर बात हमेशा सही होती है, और मैं अपनी हर गलती को चुपचाप और फौरन कबूल कर लेता हूँ। ऊपर से वह कुछ भी क्यों न कहे, उसे मेरी फ़रमाबरदारी पर पूरा भरोसा है। बीच-बीच में महज़ मुझे खुश कर देने के ख्याल से वह इस किस्म की शिकायतें ज़रूर कर दिया करती है–तुम्हें न जाने हर मामूली-से-मामूली बात पर मेरे खिलाफ डट जाने में क्या मज़ा आता है? मानती हूँ कि तुम मुझसे कहीं ज़्यादा समझदार हो, लेकिन कभी-कभी मेरी बात रखने के लिए ही सही ··

मुझे उसके ये झूठे उलाहने बहुत पसन्द हैं, गो मैं उनसे ज़्यादा खुश नहीं हो पाता। फिर भी वह समझती है कि इनसे मेरा भ्रम बना रहता है, और मैं जानता हूँ कि बागडोर उसी के हाथ में रहती है। और यह ठीक ही है।

तो माला दाँत पीसकर कह रही थी–अब कुछ बोलोगे भी? मेरे बच्चे पार्क से लौटकर इस मनहूस आदमी को बैठक में बैठा देखेंगे, तो क्या कहेंगे? उन पर क्या असर होगा? उफ़, इतना गन्दा आदमी! सारा घर महक रहा है। बताओ न, मैं अपने बच्चों से क्या कहूँगी?

अब ज़ाहिर है कि मैं माला को कुछ भी नहीं बता सकता था। सो मैं सिर झुकाये खड़ा रहा और वह मुँह उठाये बहुत देर तक बरसती रही।

वैसे यहाँ यह साफ़ कर दूँ कि वे बच्चे माला अपने साथ नहीं लायी थी। वे मेरे भी उतने ही हैं जितने कि उसके, लेकिन ऐसे मौक़ों पर वह हमेशा 'मेरे बच्चे' कहकर मुझसे उन्हें यूँ अलग कर लिया करती है, जैसे कोई कीचड़ से लाल निकाल रहा हो। कभी-कभी मुझे इस बात पर बहुत दुःख भी होता है, लेकिन फिर ठंडे दिल

से सोचने पर महसूस होता है कि शारीरिक सचाई कुछ भी हो, रूहानी तौर पर हमारे सभी बच्चे माला के ही हैं। उनके रंग-ढंग में मेरा हिस्सा बहुत कम है। और यह ठीक ही है, क्योंकि अगर वे मुझ पर जाते तो उन्हें भी मेरी ही तरह सीधा होने में न जाने कितनी देर लग जाती। मैं खुश हूँ कि उनका भविष्य खूब रौशन है और उस रौशनी में मेरा हाथ बस इतना ही है कि मैं उनका कानूनी, और शायद जिस्मानी बाप हूँ, उनके लिए पैसे कमाता हूँ, और दिलोजान से उनकी माँ की सेवा में दिन-रात जुटा रहता हूँ।

खैर! कुछ देर यूँ ही सिर नीचा किये खड़े रहने के बाद आखिर मैंने निहायत आजिज़ाना आवाज़ में कहना शुरू किया था—अरे भई, मैं तो उस कमबख्त को ठीक तरह से पहचानता भी नहीं, उससे दोस्ती का तो सवाल ही पैदा नहीं होता। अब अगर रास्ते में कोई आदमी मिल जाये तो . . .

न जाने मेरे फ़िकरे का अन्त क्योंकर होता! शायद होता भी कि नहीं। लेकिन माला ने बीच में ही पाँव पटककर कह दिया—झूठ, सरासर झूठ!

यह कहकर वह अन्दर चली गयी, और मैं कुछ देर तक और वहीं सिर नीचा किये खड़ा रहने के बाद वापस उस कमरे में लौट आया, जहाँ बैठा वह बीड़ी पी रहा था और मुस्करा रहा था, जैसे सब जानता हो कि मैं किस मरहले से गुज़रकर आ रहा हूँ।

अब हुआ दरअसल यह था कि उस शाम माला से, कुछ दूर अकेला घूम आने की इजाज़त माँगकर मैं यूं ही—बिना मतलब घर से बाहर निकल गया था। आमतौर पर वह ऐसी इजाज़तें आसानी से नहीं देती, और न ही मैं माँगने की हिम्मत कर पाता हूँ। बिना मतलब घूमना उसे बहुत बुरा लगता है। कहीं भी जाना हो, किसी से भी मिलना हो, कुछ भी करना या न करना हो, मतलब का साफ़ और सही फ़ैसला वह पहले से ही कर लेती है। ठीक ही करती है। मैं उसकी समझदारी की दाद देता हूँ। वैसे घर से दूर अकेला मैं किसी मतलब से भी नहीं जा पाता। माला की सोहबत की कुछ ऐसी आदत-सी पड़ गयी है, कि उसके बिना सब सूना-सूना-सा लगता है। जब वह साथ रहती है तो किसी किस्म का कोई ऊल-जलूल विचार मन में उठ ही नहीं पाता, हर चीज़ ठोस और बामतलब दिखायी देती है। अन्दर की हालत ऐसी रहती है जैसे माला के हाथों सजाया हुआ कोई कमरा हो, जिसमें हर चीज़ करीने से पड़ी हो, बेकायदगी की कोई गुंजायश न हो। और जब वह साथ नहीं होती, तो वही होता है जो उस शाम हुआ!, या फिर उसी क़िस्म का कोई दूसरा हादसा, क्योंकि उससे पहले वैसी बात कभी नहीं हुई थी।

तो उस शाम न जाने किस धुन में मैं घर से बहुत दूर निकल गया था। आमतौर पर घर से दूर रहने पर भी मैं घर ही के बारे में सोचता रहता हूँ। इसलिए नहीं कि

घर में किसी क़िस्म की कोई परेशानी है। गाड़ी न सिर्फ चल रही है, बल्कि खूब चल रही है। बाग़डोर जब माला-जैसी औरत के हाथ हो, तो चलेगी नहीं तो और करेगी भी क्या? नहीं, घर में कोई परेशानी नहीं—अच्छी तनख्वाह, अच्छी बीवी, अच्छे बच्चे, अच्छे बारसूख दोस्त, उनकी बीवियाँ भी खूब हट्टी-कट्टी और अच्छी, अच्छा सरकारी मकान, अच्छा खुशनुमा लॉन, पास-पड़ोस भी अच्छा, महँगाई के बावजूद दोनों वक़्त अच्छा खाना, अच्छा बिस्तर और अच्छी बिस्तरी ज़िन्दगी। मैं पूछता हूँ, इस सबके अलावा और चाहिए भी क्या एक अच्छे इन्सान को। फिर भी अकेला होने पर घरेलू मामलों को बार-बार उलट-पलटकर देखने से वैसा ही इत्मीनान मिलता है, जैसा किसी भी सेहतमन्द आदमी को बार-बार आईने में अपनी सूरत देखकर मिलता होगा। मेरा मतलब है कि वक़्त अच्छी तरह कट जाता है, ऊब नहीं होती। यह भी माला के ही सुप्रभाव का फल है नहीं तो एक ज़माना था कि मैं हरदम ऊब का शिकार रहा करता था।

हो सकता है कि उस शाम दिमाग़ कुछ देर के लिए उसी गुज़रे हुए ज़माने की ओर भटक गया हो। कुछ भी हो, मैं घर से बहुत दूर निकल गया था, और फिर अचानक वह मेरे सामने आ खड़ा हुआ था।

महसूस हुआ था जैसे मुझे अकेला देखकर घात में बैठे हुए किसी खतरनाक अजनबी ने ही रास्ता रोक लेना चाहा हो। मैं ठिठककर रुक गया था। उसकी सुती हुई आँखों से फिसलकर मेरी निगाह उसकी मुस्कराहट पर जा टिकी थी, जहाँ अब मुझे उसके साथ बिताये हुए सारे गर्दआलूद ज़माने की एक टिमटिमाती हुई-सी झलक दिखाई दे रही थी। महसूस हो रहा था कि बरसों तक रूपोश रहने के बाद फिर मुझे पकड़कर किसी के सामने पेश कर दिया गया हो। मेरा सिर इस पेशी के ख्याल से दबकर झुक गया था।

कुछ, या शायद कितनी ही देर हम सड़क के उस नंगे और आवारा अँधेरे में एक-दूसरे के रूबरू खड़े रहे थे। अगर कोई तीसरा उस समय देख रहा होता, तो शायद समझता कि हम किसी लाश के सिरहाने खड़े कोई प्रार्थना कर रहे हैं, या एक-दूसरे पर झपट पड़ने से पहले किसी मन्त्र का जाप।

वैसे यह सच है कि उसे पहचानते ही मैंने माला को याद करना शुरू कर दिया था, कि हर संकट में मैं हमेशा उसी का नाम लेता हूँ। साथ ही वहाँ से दुम दबाकर भाग उठने की ख्वाहिश भी मन में उठती रही थी। एक उड़ती हुई-सी तमन्ना यह भी हुई थी कि वापस घर लौटने के बजाय चुपचाप उस कमबख्त के साथ हो लूँ, जहाँ वह ले जाना चाहे चला जाऊँ, और माला को खबर तक न हो। इस विचार पर तब भी बहुत चौंका था, और अभी तक हैरान हूँ, क्योंकि आखिर उसी से पीछा छुड़ाने के लिए ही तो मैंने माला की गोद में पनाह ली थी। अगर आज से कुछ बरस पहले मैंने उसके खिलाफ़ बग़ावत न की होती तो ··· लेकिन उस भागने को बग़ावत का

नाम देकर मैं अपने-आपको धोखा दे रहा हूँ, मैंने सोचा था, और मेरा मुँह शर्म के मारे जल उठा था। मेरा मुँह अक्सर इस आग में जलता रहता है।

उस हरामज़ादे ने ज़रूर मेरी सारी परेशानी को भाँप लिया होगा। उससे मेरी कोई कमज़ोरी छिपी नहीं, और उससे भागकर माला की गोद में पनाह लेने की एक बड़ी वजह यही थी। उसकी हँसी में मुझे सूखे पत्तों की हैबतनाक खड़खड़ाहट सुनायी दे रही थी, और उस खड़खड़ाहट में उसके साये में गुज़ारे हुए ज़माने की बेशुमार यादें आपस में टकरा रही थीं। बड़ी मुश्किल से आँख उठाकर उसकी ओर देखा था। उसका हाथ मेरी तरफ बढ़ा हुआ था। मैं बिदककर दो कदम पीछे हट गया था, और उसकी हँसी और ऊँची हो गयी थी। कसे हुए दाँतों से मैंने उसकी आँखों का सामना किया था। अपना हाथ उसके खुरदरे हाथ में देते हुए और उसकी साँसों की बदबूदार हरारत अपने चेहरे पर झेलते हुए मैंने महसूस किया था जैसे इतनी मुद्दत आज़ाद रह लेने के बाद फिर अपने-आपको उसके हवाले कर दिया हो। अजीब बात है, इस एहसास से जितनी तकलीफ़ मुझे होनी चाहिए थी, उतनी हुई नहीं थी। शायद हर भगोड़ा मुज़रिम दिल से यही चाहता है कि कोई उसे पकड़ ले।

घर पहुँचने तक कोई बात नहीं हुई थी। अपनी-अपनी खामोशी में लिपटे हुए हम धीमे-धीमे चल रहे थे, जैसे कन्धों पर कोई लाश उठाये हुए हों।

सो, जब माला की डाँट-डपट सुन लेने के बाद, मुँह बनाये, मैं वापस बैठक में लौटा, तो वह बदज़ात मज़े में बैठा बीड़ी पी रहा था। एक क्षण के लिए भ्रम हुआ, जैसे वह कमरा उसी का हो। फिर कुछ सँभलकर, उससे नज़र मिलाये बिना, मैंने कमरे की सारी खिड़कियाँ खोल दीं, पंखे को और तेज़ कर दिया, एक झुँझलाई हुई ठोकर से उसके जूतों को सोफे के नीचे धकेल दिया, रेडियो चलाना ही चाहता था कि उसकी फटी हुई हँसी सुनायी दी और मैं बेबस हो उससे दूर हटकर चुपचाप बैठ गया।

जी में आया कि हाथ बाँधकर उसके सामने खड़ा हो जाऊँ, सारी हक़ीकत सुनाकर कह दूँ—देखो दोस्त, अब मेरे हाल पर रहम करो, और माला के आने से पहले चुपचाप यहाँ से चले जाओ, वरना नतीजा बहुत बुरा होगा।

लेकिन मैंने कुछ कहा नहीं। कहा भी होता तो सिवाय एक और ज़हरीली हँसी के उसने मेरी अपील का कोई जवाब न दिया होता। वह बहुत ज़ालिम है, हर बात की तह तक पहुँचने का कायल, और भावुकता से उसे सख्त नफ़रत है।

उसे कमरे का जायजा लेते देख मैंने दबी निगाह से उसकी ओर देखना शुरू कर दिया। टाँगें समेटे वह सोफे पर बैठा हुआ एक जानवर-सा दिखायी दिया। उसकी हालत बहुत खस्ता दिखायी दी, लेकिन उसकी शक्ल अब भी मुझसे कुछ-कुछ मिलती थी। इस विचार से मुझे कोफ़्त भी हुई, और एक अजीब क़िस्म की खुशी

भी महसूस हुई। एक ज़माना था जब वही एकमात्र मेरा आदर्श हुआ करता था, जब हम दोनों घंटों एक साथ घूमा करते थे, जब हमने बार-बार कई नौकरियों से एक साथ इस्तीफे दिये थे, कुछेक से एक साथ निकाले गये थे, जब हम अपने आपको उन तमाम लोगों से बेहतर और ऊँचा समझते थे जो पिटी-पिटाई लकीरों पर चलते हुए अपनी सारी ज़िन्दगी एक बदनुमा और रिवायती घरौंदे की तामीर में बरबाद कर देते हैं, जिनके दिमाग़ हमेशा उस घरौंदे की चहारदीवारी में क़ैद रहते हैं, जिनके दिल सिर्फ़ अपने बच्चों की किलकारियों पर ही झूमते हैं, जिनकी बेवकूफ़ बीवियाँ दिन-रात उन्हें तिगनी का नाच नचाती हैं, और जिन्हें अपनी सफ़ेदपोशी के अलावा और किसी बात का कोई ग़म नहीं होता। कुछ देर मैं उस ज़माने की याद में डूबा रहा। महसूस हुआ, जैसे वह फिर उसी दुनिया का पैगाम लाया हो, फिर मुझे उन्हीं वीरानों में भटका देने की कोशिश करना चाहता हो, जिनसे भागकर मैंने अपने लिए एक फूलों की सेज सँवार ली है, जिस पर माला क़रीब हर रात मुझसे मेरी फरमाबरदारी का सबूत तलब किया करती है, और जहाँ मैं बहुत सुखी हूँ।

वह मुस्करा रहा था, जैसे उसने मेरे अन्दर झाँक लिया हो। उसे इस तरह आसानी से अपने ऊपर काबिज़ होते देख मैंने बात बदलने के लिए कहा—कितने रोज यहाँ ठहरोगे?

उसकी हँसी से एक बार फिर हमारे घर की सजी-सँवरी फिज़ा दहल गयी, और मुझे खतरा हुआ कि माला उसी दम वहाँ पहुँचकर उसका मुँह नोच लेगी। लेकिन यह खतरा इस बात का गवाह है कि इतने बरसों की दासता के बावजूद मैं अभी तक माला को पहचान नहीं पाया। थोड़ी ही देर में वह एक बहुत खूबसूरत साड़ी पहने, मुस्कराती-इठलाती हुई हमारे सामने आ खड़ी हुई। हाथ जोड़कर बड़े दिलफ़रेब अन्दाज़ में नमस्कार करती हुई बोली—आप बहुत थके दिखाई देते हैं, मैंने गरम पानी रखवा दिया है, आप 'वाश' कर लें तो कुछ पीकर ताजा दम हो जायें, खाना तो हम लोग देर से ही खायेंगे।

मैं बहुत खुश हुआ, अब मामला माला ने अपने हाथ में ले लिया था, और मैं यूँ ही परेशान हो रहा था। मन हुआ कि उठकर माला को चूम लूँ। मैंने कनखियों से उस हरामज़ादे की तरफ़ देखा। वह वाक़ई सहमा हुआ-सा दिखायी दिया। मैंने सोचा, अब अगर वह खुद-ब-खुद ही न भाग उठा, तो मैं समझूँगा कि माला की सारी समझ-सीख और रूप-रंग बेकार है। कितना लुत्फ़ आये अगर वह कमबख्त भी भाग खड़ा होने के बजाय माला के दाँव में फँस जाये, और फिर मैं उससे पूछूँ—अब बता, साले, अब बात समझ में आयी? मैंने आँखें बन्द कर लीं, और उसे माला के इर्द-गिर्द नाचते हुए, उस पर फ़िदा होते हुए, उसके साथ लेटे हुए देखा। एक अजीब राहत का एहसास हुआ। आँखें खोलीं तो वह गुसलखाने में जा चुका था, और माला झुकी सोफ़े को ठीक कर रही थी। मैंने उसकी आँखों में आँखें डालकर मुस्कराने की कोशिश

की, लेकिन फिर उसकी तनी हुई सूरत से घबराकर नज़रें झुका लीं। ज़ाहिर था कि उसने अभी मुझे माफ़ नहीं किया था।

नहाकर वह बाहर निकला, तो उसने मेरे कपड़े पहने हुए थे। इस बीच माला ने बीअर निकाल ली और उसका गिलास भरते हुए पूछ रही थी–आप खाने में मिर्च कम लेते हैं या ज़्यादा? मैंने बहुत मुश्किल से हँसी पर काबू किया–उस साले को खाना ही कब मिलता होगा, मैं सोच रहा था, और माला की होशियारी पर खुश हो रहा था।

कुछ देर हम बैठे पीते रहे, माला उससे घुल-मिलकर बातें करती रही, उससे छोटे-छोटे सवाल पूछती रही–आपको यह शहर कैसा लगा? बीअर ठंडी तो है न? आप अपना सामान कहाँ छोड़ आये?–और वह बगलें झाँकता रहा। हमारे बच्चों ने आकर अपने 'अंकल' को ग्रीट किया, बारी-बारी उसके घुटनों पर बैठकर अपना नाम वगैरह बताया, एक-दो गाने गाये, और फिर 'गुड नाइट' कहकर अपने कमरे में चले गये। माला की मीठी बातों से यूँ लग रहा था जैसे हमारे अपने ही हल्के का कोई बेतकल्लुफ दोस्त कुछ दिनों के लिए हमारे पास आ ठहरा हो, और उसकी बड़ी-सी गाड़ी हमारे दरवाज़े के सामने खड़ी हो।

मैं बहुत खुश था, और जब माला खाना लगवाने के लिए बाहर गयी, तो उस शाम पहली बार मैंने बेधड़क उस कमीने की तरफ़ देखा। वह तीन-चार गिलास बीअर के पी चुका था, और उसके चेहरे की ज़र्दी कुछ कम हो चुकी थी। लेकिन उसकी मुस्कराहट में माला के बाहर जाते ही फिर वही ज़हर और चैलेंज आ गया था, और मुझे महसूस हुआ जैसे वह कह रहा हो–बीवी तुम्हारी मुझे पसन्द है, लेकिन बेटे! उसे खबरदार कर दो, मैं इतना पिलपिला नहीं जितना वह समझती है।

एक क्षण के लिए फिर मेरा जोश कुछ ढीला पड़ गया। लगा जैसे बात इतनी आसानी से सुलझनेवाली नहीं। याद आया कि खूबसूरत और शोख औरतें उस ज़माने में भी उसे बहुत पसन्द थीं, लेकिन उनका जादू ज़्यादा देर तक नहीं चलता था। फिर भी मैंने सोचा, बात अब मेरे हाथ से निकल गयी है और सिवाय इन्तजार के मैं और कुछ नहीं कर सकता था।

खाना उस रोज़ बहुत उम्दा बना था और खाने के बाद माला खुद उसे उसके कमरे तक छोड़ने गयी थी। लेकिन उस रात मेरे साथ माला ने कोई बात नहीं की। मैंने कई मज़ाक किये, कहा–नहा धोकर वह काफ़ी अच्छा लग रहा था, क्यों? बहुत छेड़-छाड़ की, कई कोशिशें की कि सुलहनामा हो जाये, लेकिन उसने मुझे अपने पास फटकने नहीं दिया। नींद उस रात मुझे नहीं आयी, फिर भी अन्दर से मुझे इत्मीनान था कि किसी-न-किसी तरह माला दूसरे रोज़ उसे भगा सकने में ज़रूर कामयाब हो जायेगी।

लेकिन मेरा अन्दाज़ा गलत निकला। माना कि माला बहुत चालाक है, बहुत समझदार है, बहुत मनमोहिनी है, लेकिन उस हरामज़ादे की ढिठाई का भी कोई

मुक़ाबला नहीं। तीन दिन तक माला उसकी ख़ातिर-तवाज़ा करती रही। मेरे कपड़ों में वह अब बिल्कुल मुझ-जैसा हो गया था, और नज़र यूँ आता था जैसे माला के दो पति हों। मैं तो सुबह-सवेरे गाड़ी लेकर दफ्तर को निकल जाता था, पीछे उन दोनों में न जाने क्या बातें होती थीं। लेकिन जब कभी उसे मौक़ा मिलता, वह मुझे अन्दर ले जाकर डाँटने लगती–अब यह मुरदार यहाँ से निकलेगा भी कि नहीं! जब तक यह घर में है, हम किसी को न तो बुला सकते हैं, न किसी के यहाँ जा सकते हैं। मेरे बच्चे कहते हैं कि इसे बात करने तक की तमीज़ नहीं। आखिर यह चाहता क्या है।

मैं उसे क्या बताता कि वह क्या चाहता है। कभी कहता–थोड़ा सब्र और करो, अब जाने की सोच ही रहा होगा। कभी कहता–क्या बताऊँ, मैं तो खुद शर्मिन्दा हूँ। कभी कहता–तुमने खुद ही तो उसे सिर पर चढ़ा लिया है। अगर तुम्हारा बरताव रूखा होता तो···

माला ने अपना बरताव तो नहीं बदला, लेकिन चौथे रोज़ अपने बच्चों सहित घर छोड़कर अपने भाई के यहाँ चली गयी। मैंने बहुतेरा रोका, लेकिन वह नहीं मानी। उस रोज़ वह कमबख्त बहुत हँसा था, ज़ोर-ज़ोर से, बार-बार।

आज माला को गये पाँच रोज़ हो गये हैं। मैंने दफ्तर जाना छोड़ दिया है। वह फिर अपने असली रंग में आ गया है। मेरे कपड़े उतारकर उसने फिर अपना वह मैला-सा कुर्ता-पाज़ामा पहन लिया है। कहता कुछ नहीं, लेकिन मैं जानता हूँ कि वह क्या चाहता है–यह मौक़ा फिर हाथ नहीं आयेगा! वह चली गयी है, बेहतर यही है कि उसके लौटने से पहले तुम भी यहाँ से भाग चलो। उसकी चिन्ता मत करो, वह अपना इन्तज़ाम खुद कर लेगी।

और आज आखिर मैं उसे थोड़ी देर के लिए बेहोश कर देने में कामयाब हो गया हूँ। अब मेरे सामने दो ही रास्ते हैं। एक यह कि होश आने से पहले मैं उसे जान से मार डालूँ। और दूसरा यह कि अपना ज़रूरी सामान बाँधकर तैयार हो जाऊँ और ज्यूँ उसे होश आये, हम दोनों फिर उसी रास्ते पर चल दें, जिससे भागकर कुछ बरस पहले मैंने माला की गोद में पनाह ली थी। अगर माला इस समय यहाँ होती तो वह कोई तीसरा रास्ता भी निकाल लेती। लेकिन वह नहीं है, और मैं नहीं जानता कि मैं क्या करूँ। □

# आटे के सिपाही

**आनन्दप्रकाश जैन**
(जन्म : सन् 1927 ई.)

बरेली जिला जेल के काले सींखचों के पीछे जिस आदमी का शासन चलता था उसके बारे में बहुत-सी किंवदंतियाँ प्रचलित थीं—यह कि अंग्रेजी शासन की शह पर उसने, कैदी बनकर आये कितने ही अनाज्ञाकारी दुर्दान्त डाकुओं को जेल के कारखाने की धधकती हुई भट्टियों में झोंकवा दिया था; यह कि कोई पेशेवर अपराधी ऐसा रहा होगा, जो रिहाई के समय जेलर की हत्या करने का संकल्प करके न गया हो।

जेल की कसमों का बाहरी जीवन में पहुँचकर कितना महत्त्व रह जाता है, इस बात को छोड़कर यहाँ ध्यान देने की बात केवल इतनी है कि तेईस सितम्बर सन् तैंतालीस की दोपहर को कुछ संयुक्त प्रान्तीय राजनीतिक कैदी इसी जेलर की जेल में स्थानान्तरित होकर आये। बाहरी जीवन में भी सभी व्यक्तियों का अपना विशिष्ट स्थान था। बाबू राजनारायण सिन्हा वकील, छुट्टो जी प्रान्तीय कांग्रेस के अध्यक्ष, गिरदावरसिंह सनातन धर्म कॉलिज के प्रिंसिपल, चतुरसिंह हलवाई, कामरेड मुरारीलाल, कामरेड विनायक, क्रान्तिकारी 'लन्दनतोड़', जफरअली कांग्रेस से संलग्न मुस्लिम दल के सेक्रेटरी तथा अन्य।

जिस डेस्क पर अपराधियों के अँगूठों और उंगलियों के निशान लिये जाते हैं उसी के पास इन लोगों ने पूर्वी देहातियों की एक छोटी-सी भीड़ भी देखी, जो आपस में अपनी बोली में चख-चखकर रहे थे। सिन्हा साहब को जब यह मालूम हुआ कि ये लोग भी राजनीतिक बन्दी हैं और इसी आन्दोलन के सिलसिले में चुनकर लाये गये हैं, तो उनकी सिकुड़ती हुई नाक जहाँ की तहाँ ठहर गयी, मगर उन्होंने हतप्रभ से होकर अपने साथियों की तरफ देखा।

उसी समय जेलर के कमरे से जमादार लाखनसिंह निकल कर आया और उसने उस भीड़ की तरफ उँगली उठाकर जोर से आज्ञा के स्वर में कहा, "ए, जोड़ा-जोड़ा बैठो, जोड़ा-जोड़ा।"

देहाती बन्दी इसका मतलब नहीं समझे, इसलिए मुँह बा कर एक-दूसरे की ओर देखने लगे। जमातार ताव न लाकर आगे बढ़ा और उसने सबसे आगे वाले देहाती को इस तरह से धक्का दिया कि वह जमीन पर लुढ़क गया और उसकी कुहनी छिल गयी! मगर जमादार ने इस ओर ध्यान न देकर दूसरे को भी धक्का देकर नीचे बैठाया और इस प्रकार सारी भीड़ मिनट भर में दो के पीछे दो-दो की एक पंक्ति बनाकर बैठ गयी। किसी के मुँह से जरा भी तो चूँ की आवाज़ नहीं निकली।

वकील साहब के सब्र का प्याला लबरेज हो गया। उन्होंने नाक की जुम्बिश से अपना चश्मा तनिक ऊपर उठाते हुए कहा, "ये राजनीतिक कैदी हैं, ताज्जुब है!"

जमादार ने उनकी ओर घूरकर देखा, फिर बोला, "नया रंगरूट है। यहाँ गुरुप्रसाद जेलर का डण्डा चलता है। सब मालूम हो जाएगा।"

वकील साहब की कनपटी गरम हो गयी। इसके बाद जमादार ने एक, दो, तीन, चार, पाँच··· गिनती-गिननी शुरू की और बैठे हुए सब कैदियों को खड़े करके पिछले बन्द फाटक की छोटी खिड़की में से भीतर धकेल दिया। वकील साहब ने देखा कि पच्चीस-तीस देहातियों के उस समूह में केवल एक चौड़ी छाती वाला व्यक्ति था, जिसने इस प्रकार बैठते और धकेले जाते देखकर जमादार की ओर आँखें तरेरी थीं। इन आँखों को देखकर जमादार ने कहा था, "चेहरे पर बहुत बड़ी-बड़ी मूँछे रखता है, पहलवान!"

उसी समय पीछे से आवाज आयी, "लाखनसिंह!"

सब लोगों की निगाहें घूम गयीं। जेलर के कमरे के दरवाजे पर बिरजिस पहने, बूट डाँटे, कूल्हों पर हाथ रखे एक साँवले रंग का व्यक्ति खड़ा था! पेट थोड़ा आगे निकला हुआ था और मुँह पर कतरी हुई मक्खीनुमा मूँछें थीं। लाखनसिंह ने उसकी पुकार के उत्तर में कहा, "हजूर"?

वही जेलर था। उसने कहा, "इन लोगों को बैठाओ।"

छुट्टो जी ने कहा, "बैठने की क्या जरूरत है? हम लोग खड़े-खड़े ही ठीक हैं··· "

'नहीं'। जमादार ने जोर से धमकाते हुए कहा, "गिनती होनी है। बैठो, जोड़ा-जोड़ा, जोड़ा-जोड़ा, जल्दी करो। जेलर साहब का हुक्म है।"

"क्या आप लोग हिसाब में कमजोर हैं?" जफरअली ने कहा, "हम लोग बारह आदमी हैं। इसी तरह गिन लीजिए।"

लाखनसिंह ने अपनी मूँछें हिलाई और जेलर की तरफ देखा कि इशारा हो और वह अपनी कार्यवाही दिखाये। जेलर ने लहजे को नरम, किन्तु आवाज को गला दबाकर मोटी बनाते हुए कहा, "देखिए, याद रखिए कि यह बरेली जिला है। यहाँ आदमी अकल से काम लेता है, तो पागल बना दिया जाता है। अगर आप लोग जेल के कायदे-कानून की इज्जत नहीं करेंगे, तो मुझसे बुरा कोई न होगा। वैसे मैं आपका

गुलाम हूँ।"

लन्दनतोड़ बिगड़े, "तो गुलाम साहब, हम लोगों को सुभीते से भीतर जाने दीजिए। नहीं तो लन्दन से पहले बरेली की जिला जेल टूटेगी।"

जेलर ने एक क्षण के लिए लन्दनतोड़ की ओर देखा। फिर लाखनसिंह की तरफ देखकर हुक्म किया, "ए, इस आदमी को डण्डाबेड़ी देकर आज ही तन्हाई में पहुँचाओ। बाकी लोग जोड़ा-जोड़ा बैठ जाएं।" और मानो अन्तिम बार व्यवस्था देकर जेलर कमरे के भीतर चला गया। प्रबल विरोधियों की तरह बाहर रह गये बारह सभ्य राजनीतिक बन्दी और काल की तरह घूरता हुआ लाखनसिंह जमादार।

इससे पहले की स्थिति बिगड़ती, वकील साहब ने प्रस्ताव रखा, "देखो जमादार साहब, हम लोग सभ्य आदमी हैं। अगर आप लोगों ने बेजा ज्यादती की, तो मरते मर जायेंगे, मगर बेइज्जती नहीं सहेंगे। अकल से काम लो, बीच का रास्ता निकालो। हम लोग दो-दो करके लाइन बनाकर खड़े हुए जाते हैं, तुम गिन लो। मगर बैठने की बात हम नहीं मानेंगे। कुछ करने से पहले जेलर साहब से पूछ आओ, वरना ऐसा न हो कि लेने के देने पड़ जायें।"

जमादार कुछ झिझका। लन्दनतोड़ चिल्लाये, "वाह वकील साहब! यह तो कुछ भी न रहा। नाक ऐसे न पकड़ी, घुमाकर पकड़ ली।"

जब जमादार ने इस बीच के प्रस्ताव का विरोध होते देखा, तो प्रस्ताव पर राय ले आने में ही उसने शायद भलाई समझी। वह भीतर गया और वकील साहब ने लन्दनतोड़ की अकल पर तरस खाते हुए कहा, "सिखतड़ों की तरह बातें करते हो। लड़ाई अंग्रेज सरकार से है या इन टुकड़ाखोरों से? कोयलों पर मोहरें लुटाने से फायदा?"

कामरेड मुरारीलाल ने कहा, "तो फिर उन उजड्ड देहातियों ने ही क्या बेजा किया था, जिन पर आपने ···।"

उसी समय जमादार बाहर आ गया। उसने आते ही कहा, "अच्छा, इस बार तो मान लेते हैं, मगर आगे एक न सुनी जायेगी। जोड़े-जोड़े खड़े हो जाओ।"

जमादार की इस भाषा को पीकर भी लोग 'जोड़े-जोड़े' खड़े हो गये। सही सलामत शरीर बचाकर जब ये लोग अपने फट्टे-कंबल, तसले-कटोरी लेकर और घुटन्ने पहनकर तीसरी चौहद्दी के भीतर नियत बैरक में पहुँचे, तो देखा कि देहाती उनसे पहले वहाँ पहुँचकर ढूलों[1] और झिर्रियों[2] में अपने-अपने निवास स्थान बना चुके थे। शौचालय के पास की कुछ सीटें इन लोगों के लिए शेष बच गयी थीं।

चतुरसिंह हलवाई के साथ-साथ वकील साहब और प्रिंसिपल साहब ने भी दाँत

1. सोने के लिए बना हुआ पक्का चबूतरा।
2. दो चबूतरों के बीच में बना हुआ नीचा, जंगलेदार स्थान।

पीसे और चुपचाप स्थान चुनकर अपने-अपने फट्टे-कंबल बिछाने लगे। मगर उस समय तो प्रायः सभी लोगों के हाथ से पकड़ी हुई वस्तु छूट गयी, जब उन्होंने देखा कि देहाती राजनीतिक कैदी शौचालय के लिए बनी हुई दीवार के पीछे घुटन्ना बाँधता हुआ निकला—दिन में ही। यह देहाती वही चौड़ी छाती वाला पहलवान था। जब वह पास से गुजरा, तो वकील साहब ने रोष के साथ उससे पूछा, "क्या नाम है जी तुम्हारा?"

"धन्नासिंह!" पहलवान ने ठिठक कर उत्तर दिया।

"तो, भाई धन्नासिंह" वकील साहब बोले, "आज तुम दिन में गये सो गये, आगे कभी दिन में गये, तो हमारा असहयोग आन्दोलन अंग्रेज सरकार की बजाए तुमसे छिड़ जायेगा।"

छुट्टो जी मुस्कराये और जफरअली ने दाँत निपोरकर धन्नासिंह को कटती नजरों से देखा। धन्नासिंह यह कहकर आगे बढ़ गया, "मैं तो सिर्फ दो बखत नियम से जाता हूँ। इस बात पर तो भगवान् भी रोक लगाता नहीं।"

शौचालय में से आने वाली बदबू को रोकने के मसले पर शाम तक इन राजनीतिज्ञों की बैठक चलती रही। तभी रसौढ़ा आ गया और सब लोग अपने-अपने तसले-कटोरियों में पनियाली दाल और भुजिया, और हाथों पर गिनती की तीन-तीन रोटियाँ सँभालने लगे। रोटियाँ देखते ही वकील साहब के रोएँ खड़े हो गये क्योंकि रोटियाँ तन्दूरी थीं, और यह बात वह पहले ही कहीं सुन चुके थे कि तन्दूरी रोटियाँ जरूरत से ज्यादा हाजिम होती हैं। इसके बाद, जब एक-एक दो-दो रोटी खाकर राजनीतिज्ञों के पेटों ने तोबा बोल दी, तो उन्होंने घबराहट के साथ देखा कि देहाती बन्धुओं में से अधिकांश तीनों की तीनों रोटियाँ निबटा चुके थे।

वकील साहब ने चिल्लाकर प्रिंसिपल साहब को उस ओर इशारा करते हुए कहा, "कहते हैं कि जब वाजिदअली शाह को फाँसी देने के तरीके का सवाल पैदा हुआ, तो किसी ने कहा था कि गोली या रस्सी की जरूरत नहीं, सिर्फ पास से टोकरा लिये एक भंगिन को गुजरा दिया जाए। दिमाग की नस फट जायेगी और लखनऊ का नवाब मर जायेगा। पहले इस बात पर यकीन नहीं आता था, मगर मालूम होता है कि हम लोगों की मृत्यु भी विधाता ने इसी भाव लिखी है।"

देहाती बन्धुओं ने इस श्लेष को नहीं समझा। वहाँ चर्चा ही दूसरी चल रही थी। किस के घर की खेती कौन सम्भालेगा, किसकी जोरू बच्चों सहित मायके चली जायेगी, किसकी दर-दर भटकेगी, किसी के घरवाले जख्मी पड़े हैं और किसके घरवार को पहले ही आग लग चुकी है—यही उस चर्चा का प्रधान रुख था। जोरू-जातों का नाम आते ही सहसा बैरक में एक और काण्ड हो गया। जोर-जोर से रोने की आवाज सारी बैरक में गूँज गयी।

इधर से राजनीतिक नेताओं की नजरें उस ओर उठीं, तो यह देखकर लगभग सभी

ने दाँतों तले उँगली दबा ली कि रोने वाला और कोई नहीं, धन्नासिंह पहलवान था। वकील साहब खड़े होकर यह तमाशा देखने लगे। प्रिंसिपल साहब ढूले पर चढ़कर बैठ गये और चतुरसिंह भागा धन्नासिंह के पास पहुँचा। जाते ही वह बोला, "इतने जोर-जोर से क्यों रो रहा है? किसी जी-जिनावर ने तो नहीं काट खाया?"

धन्नासिंह और भी फूट-फूटकर रो पड़ा। पास वालों ने चतुरसिंह को समझाया कि उसके पीछे उसके बाल-बच्चे बेसहारा हो गये हैं। सिपाहियों ने उसके खेत को आग लगा दी, उसके घर का सामान लूट लिया, उसके बच्चों को बुरी तरह मारा और उसकी बहू से बलात्कार किया था।

पूर्वी भाषा में दी गई इस कैफियत को दोनों कामरेड खड़े-खड़े सुन रहे थे कि छुट्टो जी की आवाज कानों में पड़ी : "अरे, तो रोता क्यों है, कायर कहीं के। देश-भक्ति में तो यही सब इनाम मिलता है। किसे नहीं मिला? महात्मा गांधी ने अपना सारा जीवन फूँक दिया, जवाहरलाल ने तन-मन सारा वार दिया, बैरिस्टरों ने बैरिस्टरी छोड़ी, वकीलों ने वकालात छोड़ी, छात्रों ने पढ़ाई-लिखाई को तिलांजलि दे दी। कोई यहाँ पर साह बनकर नहीं आया है। अरमान किस बात का है?"

कामरेड मुरारीलाल ने कहा, "मगर अफसोस, प्रधानजी, इस गरीब के पास इससे ज्यादा त्याग करने के लिए कुछ था ही नहीं।"

मगर जब पता चला कि धन्नासिंह पहलवान अपनी इच्छा से स्वतन्त्रता आन्दोलन में नहीं कूदा था, बल्कि सिर्फ सरकारी कारगुजारी का शिकार हुआ था, तो जफरअली ने व्यंग्य बाण छोड़ा, "लीजिए, यह तो आपके दरजे में ही आ गया। यह तो लोकयुद्ध का सिपाही था, मुफ्त में राष्ट्रीय आन्दोलन में पकड़ा गया।"

जफरअली साहब मुस्लिम लीग से निकलकर राष्ट्रीय आन्दोलन में आये थे। उसी पर छींटा कसते हुए कामरेड विनायक बोल उठे, "जफरअली साहब, आपकी जगह तो जिन्ना साहब के साथ थी। कुएँ से निकलकर मेंढक तालाब में आ पड़ा, तो समुद्र पर कीचड़ उछालने लगा?"

इस राजनीतिक विवाद का शोर धीरे-धीरे इतना बढ़ा कि धन्नासिंह का धीमा होता हुआ रोदन उसमें बिल्कुल दब गया। शाम को बैरक बन्द होने से पहले ही जमादार आकर लन्दनतोड़ को तन्हाई और डण्डाबेड़ी के लिए लिवा ले गया। इस नयी घटना से ही राजनीतिक विवाद खत्म हो पाया और बात जेल अधिकारियों से मोर्चा लेने की घातों पर उतर आयी।

दूसरे दिन धन्नासिंह के लिए चक्की का आर्डर आ गया। जब सफेद-पोश वर्ग के काम करने की बारी आयी, तो वकील साहब अगुआ बने। जेलर के सामने तनकर उन्होंने कहा, "देखिए, अब तक आपने जो सलूक हमारे साथ किया है, हम उसकी तारीफ करते हैं। जहाँ तक काम करने का सवाल है, आपके शैडूल में हर कैदी के लिए तीन सौ गज बान बटना या तीन सेर आटा पीसने में दूसरे आदमी के साथ हाथ

बँटाना है। यह तो आप अपनी अकल से ही सोच सकते हैं कि हम लोगों में से कोई भी आदमी ये नीचे दरजे के काम पूरे नहीं कर सकता। उस समय या तो आपको रिआयत ही करनी पड़ेगी या फिर जब तक हम जेल में हैं, तब तक सजा ही देते रहिएगा। खैर, यह दोनों ही बातें आपको गवारा नहीं होंगी, यह हम जानते हैं। बीच का रास्ता यह है कि हम लोग चरखे पर सूत बड़े मजे से कात सकते हैं, जिसके बारे में आपकी जेल मैनुअल में कोई हिदायत नहीं है। बस तो, हम से काम लेने का तरीका है कि छटाँक भर रुई का सूत, बहुत बारीक, हम लोगों से रोज कतवा लिया जाए ··· बाकी आपकी मरजी। अपनी खोपड़ी के आप खुद मालिक हैं।"

जेलर बड़बड़ाता चला गया। मगर वकील साहब की सारी बातें दलील से पुर थीं। जेल अधिकारियों ने छटाँक भर की जगह आध पाव सूत की शर्त पर उनकी बात मान ली। वह बीच के रास्ते का आदमी बहुत पसन्द आया।

शाम के समय पसीने से लथपथ धन्नासिंह जब वापस बैरिक में लौटा, तो लोगों ने देखा कि उसके चौड़े चेहरे पर से मूँछें लोप हो गयी थीं। वे जमादार लाखनसिंह की क्रोधाग्नि की भेंट चढ़ चुकी थीं। फिर भी आते ही उसने अपने साथियों से कहा, "मैंने और बिरजू ने मिल कर पूरा तीस सेर पीस डाला। एक भी दाना नहीं छोड़ा।" और यह कहकर उसने अपनी चौड़ी छाती की तरफ तनकर देखा।

वकील साहब उस समय खाली ढूले पर इत्मीनान से बैठे पैर का अँगूठा सहला रहे थे। वहीं से उन्होंने अपने समस्त साथियों को लक्ष्य करके कहा, "देखा आपने? नीचता की हद है। बिना बुलाये मेहमानों की तरह ये लोग राष्ट्रीय आन्दोलन में जेल आये, और अब जेल अधिकारियों का काम इस तरह कर रहे हैं, जैसे इनकी ससुराल हो।"

कामरेड विनायक ने कहा, "ससुराल में जँवाई लोग काम नहीं करते, वकील साहब, बल्कि पैर का अँगूठा सहलाया करते हैं।"

वकील साहब की कनपटी गरम हो गयी, जैसा कि ऐसे अवसरों पर अकसर हो जाया करती थी। कामरेड विनायक बात कहकर चरखे का पहिया घुमाने लगे। वकील साहब ने प्रत्युत्तर देने के लिए मुँह खोला ही था कि कामरेड मुरारीलाल ने कहा, "शान्ति से, वकील साहब, शांति से। देखते नहीं, चरखे का पहिया घूँ-घूँ बोलकर शान्ति का सन्देश दे रहा है।"

वकील साहब मुरारीलाल की तरफ घूरकर चुप रह गये। सहसा जफरअली लेटे-लेटे उठ खड़े हुए, मानो उन्होंने किसी की कोई बात सुनी ही न हो। "वकील साहब", उन्होंने कहा, "आप तो मोटा-झोटा सूत निकालकर आध पाव को घण्टे भर में खत्म कर देते हैं, मगर अपने से यह भी नहीं होता। आज सूत सब मिलाकर दे दीजिए, नहीं तो कल ही हमारा आपका साथ छूट जाएगा। कमबख्त जेलर बिना तन्हाई दिये नहीं मानेगा।"

छुट्टो जी ने कहा, "बैठे-बैठे मन ऊब जाता है। हरामजादों ने सारी किताबें फाटक

पर रखवा ली। काश कि यहाँ, शतरंज होती। जेलखाना ऐसे कटता, जैसे सत्कर्मों से पाप—क्या कहते हैं?"

वकील साहब ने मुँह लटकाए-लटकाए कहा, "मुझे इस शब्द 'काश' से कभी कोई उत्साह नहीं होता। यहाँ कहाँ से बिसात आये और कहाँ के मोहरे? बस, सूत कातो और जेल काटो। आज से सबका सूत मिलाकर देंगे। जेल वाले हमें व्यक्तिगत रूप से अलग-अलग करना चाहते हैं। हमें अपना संगठित रूप नहीं तोड़ना चाहिए।"

कुछ देर बाद जब सूत इकट्ठा किया जा रहा था, तो देहाती वर्ग की तरफ देखकर छुट्टो जी उछल गये, "अरे, देखो, देखो!"

सब लोगों ने देखा। जमीन पर मिट्टी से आड़ी-तिरछी लकीरें खींचकर वे लोग मिट्टी की बनाई हुई गोलियों से तिया-पाँचा का खेल खेल रहे थे। वकील साहब ने कहा, "ठीक है, हाथी, घोड़े, ऊँट, बादशाह मिट्टी के बनाये जायें और कोयले से लकीरें खींचकर बिसात बनायी जाये। बस, बन गयी शतरंज! वाह, छुट्टो जी, क्या सूझ आयी है आपको! दाद देता हूँ।"

चतुरसिंह हलवाई ने कभी शतरंज नहीं खेली थी। इस योजना से उत्साह न पाकर उसने कहा, "किसी का हक नागहानी क्यों छीनते हैं, वकील साहब? सूझ तो जिन्हें आयी वे पहले से ही खेल रहे हैं।"

"अच्छा, अच्छा!" वकील साहब ने हंसकर कहा। उन्हें चतुरसिंह हलवाई से बाहर से ही कुछ विशेष लगाव था, इसलिए प्रत्युत्तर देने की आवश्यकता नहीं समझी। वह उसी समय उठे और बैरक के बाहर निकलकर उन्होंने तसले से कच्ची जमीन खोद डाली। घण्टे भर में शतरंज के मोहरों के दो सेट बनकर तैयार हो गये। अब एक सेट को रंगने की समस्या आ पड़ी।

जब तक मोहरे सूखते रहे, तब तक इसी समस्या पर विचार होता रहा कि मोहरों को किस तरह रंगा जाये। रंग के नाम को जेल में पान की पीक तक नहीं थी। शतरंज के बारीक खेल में दोनों तरफ के मोहरों का स्पष्ट रूप से, बिसात पर अलग-अलग दिखाई देना लाजमी था। शतरंज के मोहरे और रंग। जब तक रोटी-परेड नहीं लगी, सभी लोगों के दिमागों में यह बात घूमती रही कि इस अभाव के देश में रंग की ईजाद करने का श्रेय किसको मिले।

देहाती और बाबू वर्ग दोनों रोटी खाने बैठे! चतुरसिंह हलवाई कटोरी हाथ में लिए उसमें रोटी के टुकड़े भिगो-भिगोकर खा रहा था। दाल को समेटने की आवश्यकता थी ही नहीं क्योंकि दाल के दाने उस दाल में नहीं थे। दूसरे सिर पर धन्नासिंह चौथाई-चौथाई तन्दूरी रोटी का एक-एक लुकमा बनाकर खा रहा था। ऊपर से उसने दाल जो सपोड़ी, तो चतुरसिंह को हँसी आयी, गले में गये हुए निवाले से धसका लगा और हाथ में पकड़ी हुई कटोरी का सन्तुलन बिगड़ गया। दाल का सारा पानी कुरता और घुटन्ना भिगोता हुआ ढूले पर गिर पड़ा।

चतुरसिंह घबराहट के साथ उठ खड़ा हुआ। उसी समय कामरेड विनायक चिल्ला उठे, "आइडिया! आइडिया!"

"क्या आइडिया?" वकील साहब चौंककर बोले।

"मिट्टी के मोहरों को दाल में डुबकी दीजिए, मोहरे रंग जाएँगे" कामरेड विनायक बोले।

वकील साहब दाल पीने को ही थे कि हाथ रुक गया। "बहुत खूब। इसे कहते हैं मौलिकता। कामरेड, बरेली जेल में अगर नोबिल प्राइज देने की प्रथा होती, तो मैं आपकी सिफारिश करता।"

उसी समय वकील साहब ने अपनी दाल में मोहरों का एक सेट डुबोया और कुछ ही देर में बटियाले और पीले मोहरे, ढूले के ऊपर बनी हुई बिसात पर आमने-सामने युद्ध करने के लिए डट गए।

धन्नासिंह बाहर हौदी पर पानी पीने गया था, सहसा वह हड़बड़ाया हुआ भीतर घुसा और तेज खुसर-पुसर के स्वर में अपने साथियों से बोला, "मोहरे छिपा लो, मोहरे छिपा लो, साहब रौंद पर आ रहा है!"

वकील साहब ने मुँह बिचका कर पहलवान के शरीर और उसके भीतर वास करती हुई आशंका की प्रवृत्ति को निरखा और अपने घोड़े को ढाई खाने आगे कुदा दिया। उन्होंने जेल सुपरिन्टेन्डेन्ट बहुत से देखे थे।

साहब ने बैरक में प्रवेश किया। साथ में जेलर सहित जेल का पूरा अमला था। सभी लोगों के लिए खड़े होना लाजमी था, नहीं तो पूरी परेड करनी पड़ती। साहब हाथ में ली हुई छड़ी हिलाते हुए तेजी से सारी बैरक में घूम गये। वकील साहब के पास पहुँचकर उनकी निगाह ढूले पर बनी हुई शतरंज पर पड़ी और उन्होंने तुरन्त जेलर की ओर देखकर कहा, "वैल, क्या इन लोगों को काम नहीं दिया गया? ··· और जेल की मिट्टी इस तरह बरबाद की जाती है।"

"मैं अभी बैरक की तलाशी लिवाता हूँ, हजूर" जेलर ने कहा।

उसी समय, साहब की नजरों के सामने-ही-सामने बैरक भर की तलाशी ली गयी। दाल के पानी में रंगे हुए बढ़िया मोहरे तो गये ही, साथ में देहाती बन्धुओं के तिये-पाँचे का सैट भी जाता रहा। इसके अतिरिक्त इस नयी आयी हुई बारात में बीड़ी जैसी खतरनाक चीज नहीं मिली।

तलाशी के लिए झेंप मिटाने को, जाते-जाते जेलर चेतावनी देकर गया, "आप लोग खूब शौक से शतरंज खेलिए! लेकिर अगर जेल की मिट्टी को इस तरह बरबाद किया गया, तो याद रखिए, एक-एक को तन्हाई दिखाऊँगा। इसमें जरा भी रूरिआयत नहीं होगी।"

बाहर जाकर साहब ने कहा, "आप इनको कोई काम नहीं देते? आप तो उल्टे इन्हें शतरंज खेलने का न्योता-सा दे आये।"

जेलर ने दाँत निपोरकर कहा, "हजूर, जेल में मिट्टी के अलावा और किसी चीज से शतरंज के मोहरे नहीं बन सकते। इन लोगों को जरा अकल तो कुरेदने दीजिए। प्यासा पानी देखकर न मरा, तो क्या मरा!"

साहब मुस्कराते हुए आगे निकल गये। पीछे बैरक में एक अच्छा हंगामा मचा। देहाती बन्धु बाबू लोगों की तरफ उँगली उठा-उठाकर अपने खेल के साधन के चले जाने का दोष उस पर मढ़ने लगे। मगर प्रकट में कोई न बोला। केवल वकील साहब ने स्वयं ही कहा, "धत्तेरे की! मालूम हुआ कि कहीं-कहीं पालिसी से हट जाने में भी नुकसान उठाना पड़ता है। अब तो मिट्टी भी गयी–या तन्हाई आबाद करने के लिए तैयार हो जाइए।"

तभी दूसरी ओर से एक देहाती बाबू लोगों में आया और बोला, "आप लोगों की बहुत सी रोटियाँ बच जाती हैं। उधर कई मनई भूखे रह जाते हैं। अगर बची हुई रोटियाँ भाइयों के काम आ जायें तो···"

"राम! राम!" वकील साहब ने कहा, "इन लोगों के खाने की भी हद है! अभी बदबू के मारे तबीयत परेशान हुई जाती है···!"

देहाती ने कहा, "भैया, दिनभर चक्की पीसने से पेट में लगी हुई आग तीन रोटियों से भी न बुझ पाये, तो इसमें मनई का क्या कसूर? आप लोगों का बड़ा पेट है, मगर उसमें भोजन की जगह बहुत कम है। हम लोगों का छोटा पेट है, मगर सारा भोजन गपकने को तैयार रहता है··· "

वकील साहब इस कैफियत से क्रुद्ध होकर बोले, "तो कौन आपसे कहता है कि आप दुश्मन की चक्की पीसा करें···?"

"कमेरों को काम के बिना कोई नहीं बख्शता, वकील जी," देहाती ने कहा, "आप बाबू लोग हैं सफेद कपड़ा पहनते हैं, इसलिए बच जाते हैं···"

"आप लोगों को सफेद कपड़ा पहनने को कोई मना करता है?" वकील साहब ने कहा

"वाह! क्या बात कही है!" कामरेड विनायक ने कहा, "आपको भूखों से बहस करना बहुत अच्छा आता है, वकील साहब!"

वकील साहब इस व्यंग्य से कुढ़ गये। बोले, "तो दे दीजिए न अपनी रोटियाँ इनको। देखें कितने बड़े त्यागी बनते हैं!"

कामरेड विनायक बोले, "जरूर दे देता, मगर मैं उन्हें खा चुका हूँ। अब कल से एक रोटी जरूर दूँगा"

वकील साहब ने कुछ उत्तर न देकर अपने वर्ग से बची हुई रोटियाँ इकट्ठी की और उस आदमी के हाथ में सौंप दीं। सबने देखा कि धन्नासिंह कुछ देर बाद बिरजू तथा अन्य साथियों सहित उन रोटियों पर हाथ साफ कर रहा था।

अभी घण्टा भर भी न बीता था कि देहाती वर्ग में फिर खेल की चहल-पहल नजर आने लगी। वकील साहब विचार मग्न पड़े थे कि चौंककर उठ बैठे। ये लोग

अब काहे के मोहरे बनाकर खेल रहे हैं? उन्होंने देखा कि उसी भावना से सामने छुट्टो जी भी उठ बैठे हैं। वकील साहब ने चतुरसिंह हलवाई की तरफ देखा और वह मतलब समझकर उन लोगों का खेल देखने गया। खेल में साफ-सुथरी, गोल-गोल गोलियाँ इधर से उधर रखी जा रही थीं। कुछ मोहरे चौकोर थे, तो कुछ चपटे। उसने आवश्यक पूछताछ की और हँसता हुआ लौट आया। बोला, "अरे, आदमी से कोई जीता है। उन लोगों ने रोटियों को पानी में पीसकर उसका आटा बनाया और आटे के मोहरे बना डाले।"

"उफ! मौलिकता सीमा पार कर गयी!" वकील साहब चिल्लाये। "क्या जरा-सी बात, कम्बख्त पहले ध्यान में नहीं आयी! ··· अब? अब तो रह गये। रोटियाँ ही नहीं हैं।"

मगर यह अनुसन्धान इतना जबरदस्त था कि इसकी खुशी में रात कट गयी। सुबह रोटियाँ मिलने के बाद सबसे पहला काम यह हुआ कि उन्हें मीसकर दो बादशाहों की फौजें तैयार की गईं और उसमें से एक फौज को दाल के पीले पानी में डुबकी दी गयी।

उस शाम को शतरंज का खेल खूब जमा। कामरेड मुरारीलाल ने वह मात खायी कि पैदली भी शरमा गये। विनायक बाबू ने ऐसी जिच उपस्थित कर दी कि छुट्टो जी मुँह ताकते रह गये। मगर यह रात उन फौजों पर सही-सलामत नहीं गुजर सकी। सुबह के समय किसी मोहरे का सिर गायब मिला, किसी का धड़ और दसियों सिपाही समूचे के समूचे गायब थे। बाबू वर्ग के साथ-साथ देहाती वर्ग में भी हड़कंप मच गया। वहाँ भी गोलियाँ और शक्करपारे गायब थे।

वकील साहब हताश होकर बोले, "चूहे! ये कमबख्त नये दुश्मन निकले।"

कामरेड विनायक हँसकर बोले, "आदमी की रोटी के बहुत दुश्मन हैं, वकील साहब। यहाँ तक कि आदमी ही आदमी की रोटी का सबसे बड़ा दुश्मन है। अवसर सराहिए कि अभी आपका पाला बड़े दुश्मनों से नहीं पड़ा! जिस बादशाह के फौजफर्राटे को चूहे उठाकर ले जायें उसकी हकूमत कितने दिन टिक सकती है! रोटी के लिए क्रान्ति करने वाली चूहों की जनता जिन्दाबाद!"

छुट्टो जी ने कहा, "जनता के लाडले साहब, चुप रहिए!"

मोहरे फिर बनाये गये। फिर शतरंज का खेल जमकर खेला गया, मगर मोहरे बनाने की झंझट में नेता वर्ग की ओर से खद्दर जनता को रोटी मिलनी बन्द हो गयी। जब दो दिन तक रोटी नहीं मिली, तो तीसरे दिन उधर से कोई माँगने भी नहीं आया। केवल धन्नासिंह ने उन लोगों की तरफ बहुत देर तक घूरकर ही अपना पेट भर लिया।

वकील साहब इस बार मोहरों को तसले के नीचे, और तसले के ऊपर चादर की तहें रखकर, उसका सिरहाना बनाकर सोये। चूहों की यह हिम्मत नहीं थी कि उनका सिर हटाकर बादशाह और पैदलों को खींच ले जाते। वकील साहब की शक्ति से परिचय न होने के कारण उन्होंने रात को कुछ हल्के से हमले किये, मगर इसके अतिरिक्त और कोई खास फरक न पड़ा कि वकील का सिर तसले से हट गया। क्या

चूहों में इतनी ताकत हो सकती है कि वे औंधे तसले में से रोटी निकाल ले जाते?

मगर सुबह को वकील साहब ने अपनी बुद्धिमानी पर स्वयं ही प्रसन्न होते हुए जब तसला सीधा किया, तो बौखला गये। उसके नीचे इस बार सब मोहरे-बादशाह, वजीर, ऊँट, घोड़े, हाथी और पैदल-गायब थे।

"असम्भव!" वह जोर से चिल्लाये।

साथी लोग पलक मारते इकट्ठे हो गये। "क्या असम्भव, वकील साहब?" छुट्टो जी ने पूछा

"यह असम्भव है कि सिर के नीचे से तसला खिसकाकर चूहे शतरंज के मोहरे उसके नीचे से निकाल कर ले जायें। जरूर यह कामरेडों ने मसखरी की है। इन लोगों को ऐसे उत्पात मचाने की आदत है।" वकील साहब बोले।

कामरेड मुरारीलाल गरम हो गये, "बस, बस, वकील साहब, शरम नहीं आती आपको! क्या राजनीति आपके दिमाग पर इतनी छा गयी कि आरोपों के आकार-प्रकार का भी ध्यान नहीं रहा?"

"आखिर वे गरीब निर्दोष मोहरे किसी के मतलब के ही क्या हैं?" छुट्टो जी ने कहा।

"जाहिर है कि हसद ही इसकी वजह हो सकती है" जफरअली ने कहा, "और कोई वजह जहन में नहीं आती।"

वकील साहब ने कहा, "तब तो ये देहाती ही हैं, जिन्होंने यह काम किया है। हममें से लगभग सभी शतरंज खेलते हैं। मोहरे सभी के काम के थे।"

इधर से कामरेड विनायक देहातियों में गये। सब बैठे देखते रहे। वे लोग खुद परेशान थे कि क्या माजरा है। कामरेड विनायक की बात सुनकर पहले तो सब-के-सब भोले-भाले बहुत बिगड़े। मगर कामरेड विनायक उन लोगों में ऐसे रमे कि सारा भेद निकल गया। कुछ देर बाद वह हँसते हुए अपने स्थान पर लौट आये।

"मैं भी कितना बड़ा बेवकूफ हूँ।" कामरेड विनायक ने कहा।

"क्यों, किसने चुराये मोहरे?" वकील साहब ने उत्सुकता से पूछा।

"वकील साहब, हमारे आटे के बने हुए फौज सपाटे को न ईर्ष्या ने चुराया, न चूहों ने, बल्कि उन्हें भूख नाम की डायन चुरा कर खा गयी। धन्नासिंह को दो दिन से ज्यादा रोटी नहीं मिल पायी थी, इसलिए रात को वह आपके बादशाह और सिपाही लोगों को खा गया।"

सारी बैरक में सन्नाटा छा गया। सुई भी गिरती तो आवाज सुनाई दे जाती। लोगों की निगाह दूसरी और घूमी तो देखा धन्नासिंह मुंह बाये, आंखें फाड़े उन लोगों की ओर देख रहा था।

सहसा एक ठहाका कामरेड मुरारीलाल ने लगाया, और उसके पीछे सारी बैरक में ठहाकों का ऐसा तूफान बरपा कि कान पड़ी आवाज सुनाई देनी बंद हो गयी। □

# रामजानकी रोड

लक्ष्मीनारायण लाल
(जन्म : सन् 1927 ई.)

नाम है रामजानकी रोड, पर है सड़क कच्ची। नहीं राम, भूल हो रही है। पूरी रोड कच्ची नहीं है। अयोध्या की सरजू नदी के इस पार बस्ती ज़िले में राम रेखा नदी से लेकर, जहाँ से वह रोड शुरू होती है, गोरखपुर ज़िले की भीतरी सरहद तक, यानी कि बसंवारी की कुआनो नदी तक ही यह सड़क कच्ची है।

ज़िला बस्ती के क्षेत्र तक।

कुआनो नदी के उस पार सिकरीगंज, उरुआ बाज़ार से आगे यह सड़क पक्की है। चमाचम। जिला गोरखपुर। आगे है गोला बाज़ार, फिर बलिया ज़िला, छपरा डिस्ट्रिक्ट, चम्पारन, मोतिहारी, मिथिला और वह जनकपुर।

जै हो मातु जानकी!
सियावर रामचन्द्र की जै!

इस रोड पर मुसाफिर के पांव पड़ते ही वह यही जै-जैकार कर उठता है। गायघाट से कलवारी तक डाक लेकर दौड़ता हुआ वह हरकारा यहां तक बताता है कि इस रामजानकी रोड पर चोर-चंडाल भी जब पांव रखते हैं, तो वे भी धीरे से यही बोलते हैं–जै हो मातु जानकी और डाकू-चोर पराया धन लिये हुए कभी भी इस रोड के बीच से नहीं चलते। किनारे से चलते हैं वे।

पर कानपुर की रस्तोगी कम्पनी की जीप इस रोड के बीच से चलती है। ड्राइवर है वही लाल बेनीसिंह–गोरा, सुन्दर, राजपूत नौजवान। खिंची हुई रतनारी आंखें। जीप पर उसके बगल में बैठते हैं रस्तोगी कम्पनी के मैनेजर साहब, पीछे कम्पनी के तीन सिपाही। और लाल बेनीसिंह की यह जीप रामजानकी रोड पर बेतहाशा दौड़ती है–हैंसर बाज़ार से लेकर कलवारी तक। रास्ते में इसके स्टेशन है–गायघाट, कुदरहा, बाराकोन्नी, सनिचरा और हैंसर बाज़ार। हेडक्वार्टर है कम्पनी का गोरखपुर शहर में–गोलघर, पीली कोठी। कम्पनी के मालिक बाबू यहीं रहते हैं।

हर महीने की पन्द्रह तारीख को लाल बेनीसिंह की जीप पर नोटों से भरी थैलियां रखी जाती हैं। वहीखाते और प्रोनोट-दस्तावेज़ के कागज़ात रखे जाते हैं। मैनेजर साहब कुरते के नीचे कमर में पिस्तौल बांधते हैं, हाथ में पान-तम्बाकू से भरा हुआ चांदी का डिब्बा संभालते हैं। सिपाही लोग मूंछों पर ताव दिए हुए पीछे बैठते हैं और लाल बेनी सबको लादे हुए गोरखपुर से पश्चिम-दक्षिण दिशा में अपनी जीप बढ़ाकर झट उसी रामजानकी रोड की कच्ची सड़क पर उसे मोड़ देता है। जै मातु जानकी ···

पहले पड़ता है वही हैंसर बाज़ार। यहीं से कर्ज पर रुपया बांटने का काज शुरू होता है। सच, बड़ा नाम है उस रस्तोगी कम्पनी का। जीप देखते ही कर्ज लेनेवाले दौड़ते हैं। इस तरह कि वह धन मुफ्त में ही सदाव्रत की तरह बंट रहा हो। मुकदमा, ब्याह-शादी, मरनी-करनी, घूस-नजर–सब इसी कर्ज से। धकाधक प्रोनोट-दस्तावेज लिखे जाते हैं। किस्त बंधती है और थैली में से दस-दस, पांच-पांच के नोट गिने जाते हैं। दनादन अंगूठे लगते हैं। नंग-धड़ंग बच्चे-बूढ़े, सूखी हुई जवान औरतें अपने बच्चों को नंगी छाती से चिपकाए हुए, सब दूर खड़े बस वही रुपयों का गिनना देखते हैं–चुपचाप, मंत्रमुग्ध।

इस तरह हैंसर बाज़ार से कलवारी तक जाते-जाते लाल बेनीसिंह की जीप को आठ दिन लग जाते हैं। और ठीक दसवें दिन कलवारी से वही जीप फिर हैंसर बाज़ार की ओर बढ़ती है–इस बार पिछले महीने के कर्जदारों से किस्त के नकद रुपये वसूलती हुई।

और महीने के अन्त में वह जीप नोटों से भरी हुई दुगुनी थैलियां लादे फिर उसी गोरखपुर मालिक बाबू की कोठी पर पहुंच जाती है।

वही गोरखपुर!

वही पीली कोठी।

यहां पहुंचकर वह लाल बेनीसिंह सिहर उठता है। बहुत ज़ोर से कुछ कांपने लगता है उसके भीतर। कारण है वही जनकनन्दिनी–मालिक बाबू की बड़ी लड़की, जो यहां कॉलेज में बी.ए. में पढ़ती थी।

तब लाल बेनीसिंह मालिक बाबू का ही निजी ड्राइवर था। ठीक दस बजे जनकनन्दिनी को नयी स्टूडीबेकर पर बैठाए हुए वह उसे कॉलेज पहुंचाता था, और तीन बजे उसे कॉलेज से घर लाता था।

इसी लाल बेनी ने ही एक दिन जनकनन्दिनी को उस रामजानकी रोड की कथा बतायी थी–मालिक बाबू के 'बिजनेस' की और उस रोड की कथा कि जिस पर अयोध्या से जनकपुर रामचन्द्रजी की बारात गयी थी, कि जिस पर जानकी और राम का रथ चला था। दुल्हन जानकी, दूल्हा राम। पीछे-पीछे वही तीनों भइया–लक्ष्मण, भरत और शत्रुघ्न, अपनी-अपनी प्रिया के संग। और पीछे वही अवध की बारात। मिथिला जाती हुई और मिथिला से अवधपुरी लौटती हुई।

कितनी पवित्र है वह रोड! कितनी पावन!

और एक दिन वह जनकनन्दिनी उसी लाल बेनीसिंह के संग वही रामजानकी रोड देखने के लिए पागल हो उठी।

"ठाकुर, तुम मुझे समझाओ नहीं। समझ लो, मैं दीवानी हो गयी हूं।"

"पर···"

"पर कुछ नहीं!, बस मुझे यहां से ले चलो अपने संग उसी भूमि पर।"

"लेकिन···"

"लेकिन कुछ नहीं। बस, चलो, ठाकुर!"

और वह ठाकुर उस जनकनन्दिनी को उसी स्टूडीबेकर में अपने संग बैठाए इसी रामजानकी रोड पर ले आया था। कॉलेज जाने के समय ठीक दस बजे वे दोनों गोरखपुर से चले थे। और बारह बजते-बजते सामने वही रामजानकी रोड। माघ का महीना। सड़क के दोनों ओर गेहूं, मटर, अरहर, ऊख के लहलहाते खेत। सरसों और अलसी के फूलों से भरी हुई वह धरती। जनकनन्दिनी सड़क की धूल को अपने माथे पर लगाती और जगह-जगह कार रोककर उन फूल-भरे खेतों में सो-सो जाती। अपूर्व निद्रा। शस्य-श्यामला स्नान। गेहूं-मटर की हरीतिमा में बैठकर जैसे अपने प्राणों को स्पर्श करने लगती और नंगे पैरों उसी रोड की धूल में दौड़ती। नीले अन्तरिक्ष में न जाने क्या निहारती! रोड के किनारे-किनारे गांवों-बस्तियों में अनायास चली जाती। गरीब दुर्भिक्ष-पीड़ित लोग, गन्दे घर, नंग-धड़ंग बच्चे। फूल-सी कुम्हलाई हुई वे औरतें। अभाव-अन्धकार में पलते हुए वे लोग। जनकनन्दिनी ने वह सब इतना पहली ही बार देखा था।

सो वह जनकनन्दिनी ठाकुर के संग-संग रामजानकी रोड देखकर करीब आधी रात की बेला में गोरखपुर लौटी थी।

कोठी में बड़ा तहलका मचा था। किसी ने यह अफवाह उड़ा दी थी कि लाल बेनीसिंह कार सहित जनकनन्दिनी को लेकर भाग गया।

उन दोनों को कोठी के सानने देखते ही मालिक ने लाल बेनी के ऊपर अपनी भरी बन्दूक तान ली थी। पर उस ठाकुर के सामने तड़ककर आ खड़ी हुई वही जनकनन्दिनी। कितनी बड़ी घटना थी वह! मालिक बाबू क्या, इस कोठी में किसी ने इसकी कल्पना तक न की थी। बहुत बड़ी घटना थी वह। दोनों के लिए बड़ी। बहुत बड़ी··· इसलिए भी नहीं कि तब जनकनन्दिनी की पढ़ाई बन्द कर दी गयी, इसलिए भी नहीं कि तब से लाल बेनीसिंह को वह स्टूडीबेकर छूने तक नहीं दी गयी और उसे फिर तब से रामजानकी रोड पर वही केवल जीप चलानी पड़ी, इसलिए भी नहीं कि अब उसे कोठी के भीतर पांव रखने तक का हुकुम नहीं, बल्कि इसलिए कि तब से उसे एक अजब पुकार सुनायी पड़ती है—हर क्षण की वह पुकार जो उस कोठी में एकाएक बन्द कर दी गयी! पर वह अनाहद पुकार उसे हर क्षण जगाए रखती है।

हिरणी की तरह वे आंखें उसके सामने सदा खिंची रहती हैं। एक अजब सुगंधित, एक गजब की कोमलता, जिसकी अनुभूति अभी तक उस लाल बेनी को नहीं थी। उस अबोध को, जैसे कोई फूलों का बाण बेध गया हो–आर-पार! एक आश्चर्यजनक दर्द जिसे अपने में संजोए हुए वह अपने माथे से उसे छू लेना चाहता हो! एक अद्‌भूत रहस्य जिस पर वह अपने-आपको न्यौछावर करना चाहता हो।

कम्पनी के स्टाफ के लोग तब से मालिक बाबू से कहते हैं कि इस बेईमान पाजी लाल बेनीसिंह को कम्पनी से निकाल दिया जाए। पर मालिक को लाल बेनीसिंह के चरित्र की एक और भी बात नहीं भूलती–विश्वास और वफादारी की बात!

तब लाल बेनीसिंह नया-नया ही कम्पनी में ड्राइवर हुआ था–मालिक का निजी ड्राइवर। कानपुर की बात है वह–असली घर की बात। मालिक बाबू की वह कोई यार-दोस्त थीं। उन्हीं को संग लिये हुए वह एक जगह गए थे। बहुत पी ली थी दोनों ने। एकदम बेहोश। स्त्री के शरीर भर में बेशकीमती जेवरात। मालिक बाबू के पास धन-पर्स में भी और कार में भी। लाल बेनीसिंह ने एक-एक को उठाकर कार में रखा और जैसे ही वह कार बढ़ाने को हुआ, सामने चार बदमाश। लाल बेनीसिंह अकेले उनसे निहत्थे लड़ा था। दोनों हाथ उसके लहुलूहान, पर वह मालिक को वहां से सुरक्षित ले आया था। सब कुछ सुरक्षित। और आज तक उस घटना को कोई नहीं जान सका था।

पर इसे वह जनकनन्दिनी जानती थी। हाथों में घाव के निशान देखकर एक दिन कॉलेज जाते समय उसी जनकनन्दिनी ने ही पूछा था, "ठाकुर, तुम्हारे इन हाथों में घाव के ये निशान कैसे हैं?"

"ये निशान···" ठाकुर ने उसे सब बता दिया था।

और भी सब ठाकुर के विषय में यह जनकनन्दिनी जानती है–उसकी हाई स्कूल तक की पढ़ाई, उसका गाँव, उसकी विधवा माँ, उसका निश्छल व्यक्तित्व, उसकी हर एक सांस।

और एक दिन लाल बेनीसिंह घबरा गया।

रात का समय था। वह कोठी की बायीं ओर गैराज के बाहर चारपाई बिछाए सो रहा था। रामजानकी रोड की पन्द्रह दिन की यात्रा करके वह उसी दिन लौटा था। आसमान में खूब घने बादल छाए थे। गैरेज के ऊपर कटहल का घना वृक्ष झुका था। उसके फूलों की सुवास चारों ओर बरस रही थी।

लाल बेनीसिंह वह आवाज़ सुनते ही हड़बड़ाकर उठ गया। सामने जो देखता है, तो उसे विश्वास नहीं होता–वही जनकनन्दिनी आयी खड़ी है। वही मुग्धा सुन्दरी, दीवानी जनकनन्दिनी।

"ठाकुर, उठो, मुझे लेकर भाग चलो कहीं!"

"पर कैसे?"

"मैं बताती हूं न ···"

"नहीं-नहीं ऐसा नहीं करते। सोचो तो"

"ठाकुर, तुम्हारे इन हाथों की कसम, मैं तुम्हारे बिना नहीं रह सकती।"

"नहीं-नहीं"

" ··· मुझे बहुत-बहुत सुख होगा, ठाकुर! तुम नहीं जानते कि ···"

जनकनन्दिनी हहाकर रो पड़ी। निःशब्द रोती रही। ठाकुर थर-थर कांपता रहा, जैसे कटहल के पात हवा में कांप रहे हों। उसके दोनों हाथ जनकनन्दिनी ने अपने हाथों में बाँधकर अपने सीने में गड़ा लिये थे। अंक के समुद्र में दोनों हाथ, जिन पर उसके नयन-नक्षत्रों की अनरत वर्षा हो रही थी। उन नक्षत्रों के बीच बिजली तड़प-तड़पकर प्रकाश बिखेर रही थी। पर जो उस आकाश में गरज रहा था, उससे केवल ठाकुर का ही आकाश कांपता था। जनकनन्दिनी तो जैसे धरती थी—शान्त, शीला, रसमयी, समर्पिता ···

"तुम मुझे अपना प्यार नहीं दोगे, ठाकुर?"

ठाकुर रोने लगा। वही उत्तर था उसका।

फिर वह भरे कंठ से बोला, "तुम मुझे शक्ति दो, नन्दिनी!"

"दूंगी, सब कुछ दूंगी, ठाकुर! बस, तुम घबराना नहीं।"

बस, यह कहकर जनकनन्दिनी वहां से विजयी, परितुष्ट अभिसारिका की तरह माथा उठाए चली गयी। ठाकुर बस देखता ही रहा, जैसे कोई साक्षात् स्वप्न के भीतर देखता है और नाक में उसकी सुगन्ध भर जाती है। कान में उसका संगीत सुनाई देने लगता है। कंठ में उसकी अमृत-वर्षा होने लगती है।

अगले ही दिन कोठी के भीतर एक कोहराम मच गया। जनकनन्दिनी ने मां-बाप के सामने मुंह खोलकर कह दिया कि वह ठाकुर के संग ब्याह करेगी।

उस ठाकुर के संग! मालिक की बेटी का ब्याह?

उस ड्राइवर के संग! जनकनन्दिनी का ब्याह?

हां, ब्याह! सप्तपदी! स्वयंबर ···!

दो दिनों तक मालिक बाबू अपने कमरे से बाहर नहीं निकले। कम्पनी का हिसाब-किताब बन्द। मां का बस रोते रहना और वह जनकनन्दिनी अपना माथा उठाए आश्वस्त बैठी रही—अडिग, निठकम्प।

बाहर वह लाल बेनीसिंह तब से अपनी सांस बांधे अविचल बैठा है। और सब कुछ उस कोठी के आकाश में खिंचने लगा है, जैसे कोई इन्द्रधनुष खिंचे, जिसे न कोई बादल ढंक सके, न जिसे कोई हवा उड़ाए, जैसे कोई वह शंकर-पिनाक हो। जनकनन्दिनी का व्रत, संकल्प और धर्म, जिसे उठानेवाला केवल वही ठाकुर। केवल वही लाल बेनीसिंह।

अब क्या होगा?

जनकनन्दिनी का ब्याह–
नहीं–नहीं!
हां!
अच्छा · · · !

तीसरे दिन वह लाल बेनीसिंह उस कोठी के भीतर बुलाया गया। एक ओर मालिक बाबू, दूसरी ओर उनकी पत्नी। सामने वही जनकनन्दिनी। सिर उठाए। शान्त। अविचल।

"लाल बेनीसिंह!"

"हां, मालिक!"

ठाकुर ने सहसा अपना माथा ऊपर उठाया। जनकनन्दिनी की नयन–डोर में उसकी आंखों के सारे पुष्प उसी क्षण ही गुंथ गए। अद्‌भुत पुष्पहार, जिसका एक छोर मानो ठाकुर के गले में है, दूसरा जनकनन्दिनी के। और लाल बेनीसिंह का माथा चमक गया।

"सुनो, ठाकुर!"

"जी!"

"तुम मेरी इस बेटी के साथ ब्याह करोगे?"

"जी, हां।"

और वहां का सारा आकाश निस्तब्ध रह गया। उस आकाश में कब से खिंचा हुआ वह इन्द्रधनुष, वह शंकर–पिनाक जैसे पुष्प बन उठा और उस पुष्पवत शंकर पिनाक को अपने उन हाथों में उठाए हुए वह अपलक मालिक बाबू की आंखों में देखने लगा।

उतनी आंखें! उतनी दृष्टि! और सब कुछ वहां चुपचाप। मौन खिंचा हुआ।

सहसा मालिक की आवाज़ फूटी, "ठीक है, ब्याह होगा! होगा ब्याह · · ·" और एक दिन वह ब्याह हो गया।

तब मालिक बाबू ने एक नयी 'फारवर्डिंग एजेन्सी' खोली। नाम रखा–'ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी'। इसके आगे ठाकुर लाल बेनीसिंह को और कुछ नहीं मालूम। इसके लिए दो नयी ट्रकें खरीदी गयीं। बिल्कुल नये रास्ते और नयी सड़कें ढूंढी गयीं।

रामजानकी रोड से नेपाल के बॉर्डर तक–बुटबल, तौलिहवा, गोबरहवा बाज़ार। और नेपाल बॉर्डर से यहां इस कच्ची सड़क रामजानकी रोड से होते हुए आगे अकबरपुर–फैजाबाद · · ·

ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी।

दामाद और लड़की के रहने के लिए मालिक बाबू ने गोरखपुर के अलीनगर मुहल्ले में एक छोटा–सा सुन्दर मकान ले दिया। नयी एजेन्सी का काम ठाकुर को समझा दिया–नेपाल बॉर्डर से सामान इधर लाने और इधर से उधर पहुंचाने का काम।

इसके लिए रस्तोगी फर्म से पांच सौ रुपये महीने की तनख्वाह दामाद के लिए तय कर दी। दो नये ड्राइवर भी तय कर दिए गए उन ट्रकों को चलाने के लिए। फारवर्डिंग एजेन्सी का 'रूट' भी निश्चित हो गया। बुटबल से डुइहिया घाट, तौलिहवा, गोबरहवा बाज़ार, नौगढ़, बूढ़ी राप्ती, राप्ती, बांसी, रुधौली, मेहदावल, बखिरा से होते हुए खलीलाबाद, फिर वही रामजानकी रोड।

और सारी ज़िम्मेदारी ठाकुर लाल बेनीसिंह की। लेन-देन, फायदा-नुकसान, हिसाब-किताब सब रस्तोगी कम्पनी का। काम और सारा नाम उसी लाल बेनीसिंह का।

और उस ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी का काम शुरू।

चार महीने वर्षा से बिताकर पन्द्रह सितम्बर से ट्रकों का रूट पर आना-जाना प्रारम्भ हो गया। महीने में एक बार ठाकुर बेनीसिंह को बतौर मालिक, ड्राइवर के बगल में बैठकर रामजानकी रोड से बुटबल तक जाना पड़ता था और फिर एक ही बार भरे सामान के साथ लौटना पड़ा था।

एक दिन जनकनन्दिनी ने पति से पूछा, "तुम्हारी फारवर्डिंग एजेन्सी के ट्रकों पर किसका सामान इधर से उधर जाता रहता है?"

"कुछ तो कम्पनी का ही माल रहता है और बाकी अन्य व्यापारियों का सामान।"

"कम्पनी का क्या माला आता है उधर से?"

"यही चावल वगैरह।"

"और इधर से उधर क़म्पनी का क्या माल जाता है?"

ठाकुर ने बताया, "चीनी, मिट्टी का तेल, तम्बाकू, कपड़ा, दाल और पेट्रोल!"

जनकनन्दिनी ने और जानना चाहा, "और व्यापारियों का क्या-क्या माल इधर से जाता है।"

"कम्पनी के अलावा इधर से और किसी का भी कोई सामान उधर नहीं जाता। ट्रक खाली ही नहीं रहती।"

"और व्यापारियों का उधर-से-इधर क्या-क्या माल आता है?"

ठाकुर ने इसका भी उत्तर दिया, "चावल, खुली चाय, अदरक, सोंठ, कच्चे फल, चीड़-सागौन के तख्ते और बीड़ी बनाने के पत्ते, तेजपात, इलायची, जावित्री वगैरह।"

"इतने-इतने सामान! इतना माल!"

जनकनन्दिनी आश्चर्यचकित रह गयी। फिर पूछा उसने, "वहां से यहां इतनी दूर इतना-इतना माल ले आने और ले जाने का सरकारी हुक्म है क्या?"

"कुछ है, कुछ नहीं भी है।"

"मतलब?"

"ऐसा है कि सरकार से कम्पनी के पास अपनी फारवर्डिंग एजेन्सी का परमिट या लाइसेंस तो है ही।"

"यह परमिट और लाइसेंस किसके पास है?"

"मेरे पास है।"

ठाकुर ने पत्नी को दिखा दिया।

पर जनकनन्दिनी अब भी सन्तुष्ट न हुई।

"इसे बनवाया किसने?"

"अरे, वही कम्पनी के मालिक बाबू ने। काफी रुपये खर्च हुए हैं, तब मिला है कहीं!"

"और जिन सामानों के ले आने, ले जाने का परमिट और लाइसेंस नहीं हैं, उसके लिए···"

"उसके लिए घूस-नजराना बंधा है।"

"किसे?"

"नेपाल बॉर्डर से लेकर रामजानकी रोड तक।"

"कौन लोग हैं वे?"

ठाकुर गिनाने लगा, "पुलिस के लोग, ट्रैफिक सिपाही, एक्साइज इंस्पेक्टर, उनका स्टाफ, नदी के पुल के चौकीदार, चुंगी वाले, तहसील के हाकिम···"

जनकनन्दिनी इतनी बड़ी कैफियत सुनकर घबरा गयी। उसने अपने पति से एक दूसरा सवाल किया, "इतना सारा घूस-नजराना कौन देता है?"

"वही रस्तोगी कम्पनी।"

"और इससे कम्पनी को लाभ कितना होता है?"

"यह तो पता नहीं।"

जनकनन्दिनी चुप हो गयी। गम्भीर। एकटक वह बहुत देर तक ठाकुर का मुंह निहारती रही।

"अरे, इस तरह तुम मेरा मुंह क्या देख रही हो?"

"सुनो ठाकुर, यह काम बुरा है।"

"बुरा है, तो कम्पनी के लिए। मैं तो गाढ़ी कमाई करता हूँ और उसके बदले अपनी तनख्वाह पाता हूं।"

"वह तो ठीक है। जिस दिन यह घूस-नजराना कहीं फेल हो गया तो?"

ठाकुर ने हंसकर उत्तर दिया, "अरे, कहीं घूस-नजराना भी फेल होता है। और इसका कोई हद्द-हिसाब है क्या? एक जगह घूस-नजराना फेल भी हो गया, तो हो जाने दो, ऊपर और जगहें तो हैं। अरे, यह तो कम्पनी का रोज़ का धन्धा है। इसमें ज़रा भी कोई डर नहीं।"

अपने पति का वह उत्साह देखकर जनकनन्दिनी उसका हाथ पकड़कर रोने लगी, "कम्पनी को डर न सही, तुम्हें तो डर है!"

"अरे, मुझे क्या डर!"

"मुझे तो डर लगता है, ठाकुर।"

ठाकुर हंसने लगा। जनकनन्दिनी उतनी ही और रोती रही। उसके वे आंसू तब थमे, जब उसने अपने पति से यह सौगन्ध मनवा ली, "जिस ट्रक पर बिना लाइसेन्स और बिना परमिट का सामान लदा हो, उस पर तुम यात्रा नहीं करोगे!"

"ठीक हूं, नहीं करूंगा!"

ठाकुर तब से महीने में एक बार अपनी यात्रा में उसी ट्रक के संग आता-जाता है जिसमें बिना परमिट और बिना लाइसेंस का कोई विशेष सामान न लदा हो।

पर वह जनकनन्दिनी अब भी और न जाने क्या चाहती है! एक दिन उसका पति जब यात्रा से लौटा, तो वह उसका हाथ उसी तरह अपने अंक में गड़ाए, भरे कंठ से बोली, "यहां से कहीं और चलो, ठाकुर। कहीं बहुत दूर। या अपने उसी गांव में ही मां के पास, ताकि मुझे लगे कि मैं तुम्हारे संग अपनी ससुराल में हूं। मैं यहां अपने नैहर में नहीं रहना चाहती। मुझे यहां डर लगता है, ठाकुर!"

"कैसा डर?"

"पता नहीं, कैसा! पर बहुत डर लगता है मुझे।"

"अब तो कोई डर की बात ही नहीं है।"

"मुझे कम्पनी की तुम्हारी इस तनख्वाह से डर लगता है।"

"कैसा डर?"

"अपने उसी पिता से!"

ठाकुर फिर हंसने लगा और जनकनन्दिनी फिर उसी तरह रोने लगी। बच्चों की तरह रुदन। ठाकुर उसे समझाने लगा।

जनकनन्दिनी बोली, "ठाकुर, मुझे सिर्फ तुम्हारा प्यार चाहिए। न यह सुख, न यह सुविधा। मुझे इस कम्पनी से डर लगता है। तभी अपने ब्याह से पहले मैंने तुमसे कहा था कि तुम मुझे लेकर कहीं भाग चलो।"

ठाकुर हंसकर बोला, "अरे, मालिक बाबू के घर से तुम्हें भगाकर ही तो मैं यहां ले आया हूं!"

"कहां? नहीं, हम भाग कहां सके हैं! हम तो और भी जकड़ लिये गये हैं।"

"तुम उसी कम्पनी के नौकर ही रहे न!"

"तो क्या हुआ?"

"हुआ क्यों नहीं, ठाकुर। तुम तो कुछ समझते ही नहीं!"

जनकनन्दिनी फफककर रो पड़ी। बड़ी देर तक रोती रही। सारा मुख आंसुओं से तर। उसकी बड़ी-बड़ी निर्मल आंखों से वह आंसुओं की धारा जैसे टूटती ही न थी। उसी अश्रु-मुख से बोली, "तुम मुझे न मिले होते, तो मेरी शादी उसी तरह हुई होती। वह रस्तोगी वंश का वह कोई मेरा पति होता, जो इसी तरह की किसी और कम्पनी का मालिक होता या मालिक का पुत्र होता। मैं उसकी किसी एक बड़ी हवेली में बन्द रहती और उसके बच्चों की मां बनती रहती। आगे चलकर मेरे वे बेटे भी इसी तरह

की अपनी-अपनी कम्पनियां खोलते और मेरी बेटियां भी फिर इसी तरह के रस्तोगी घरों में ब्याही जातीं। ठाकुर, इसमें रस्तोगियों का कोई कसूर नहीं। रस्तोगी तो महज एक उदाहरण मात्र है, एक कल्पना है, सारा कसूर तो ऐसी कम्पनियों के इस ढांचे का है। मैं नहीं चाहती कि इस ढांचे में मेरे ठाकुर का भी हाथ हो। मेरे ठाकुर···"

ठाकुर चुपचाप जनकनन्दिनी की बात सुनता रहा।

"सुनो, ठाकुर, जब तुम मेरे पास से उतने दिनों के लिए एजेन्सी के उस दौरे पर जाते हो न, तो मैं अकेली रात को अक्सर एक स्वप्न देखती हूँ—अजीब-सा स्वप्न··· कि तुम कोई काला वस्त्र पहने दौड़ रहे हो और कोई तुम्हारा पीछा कर रहा है। उसके हाथ में एक काली तलवार है। तलवार से ताजा खून टपक रहा है और उस खून के छींटे तुम्हारे माथे पर पड़ रहे हैं···" कहते-कहते जनकनन्दिनी ठाकुर के अंक में अपना मुंह गड़ाकर चुप हो गयी।

ठाकुर ने उसे समझाना चाहा। उसे सान्त्वना दी, "सुनो··· सुनो, अच्छा, सुनो तो, इस महीने फारवर्डिंग एजेन्सी के अपने दौरे पर मैं नहीं जाऊंगा। कम्पनी में कल ही कह दूंगा।"

"नहीं, ठाकुर, तुम इस नौकरी को छोड़ ही दो। कल ही अपना इस्तीफा भेज दो। मैंने यह सब सोचकर तुमसे ब्याह नहीं किया था कि मैं वहीं मालकिन बनके ठाट से इस तरह के घर में बैठूंगी और तुम···"

ठाकुर बोला, "सच, मुझे कोई तकलीफ नहीं है। मैं तो तुम्हें पाकर जैसे स्वर्ग में हूं, नन्दिनी!"

"पर उस स्वर्ग का ब्याज भी तो तुम्हीं को भरना पड़ रहा है, ठाकुर!"

"कैसा ब्याज?"

"मेरा··· सोचती हूं, ठाकुर कि मेरा प्रेम कितना अच्छा व्यापार सिद्ध हुआ मेरे लिए! एक हाथ में मूलधन, दूसरे में ब्याज! वाह रे मैं! वही रस्तोगी कम्पनी यहां भी।"

ठाकुर ने उदास होकर पूछा—"फिर क्या करूँ मैं तुम्हारे लिए, बोलो?"

"यह काम छोड़कर यहां से कहीं दूर चलो!"

"मालिक बाबू का कितना बड़ा एहसान है मुझ पर, वह क्या सोचेंगे?"

"कैसा एहसान?"

"तुमको मुझे दिया है।"

जनकनन्दिनी सहसा जाग गयी। उसके गोरे मुख पर जैसे किसी ने सिन्दूर पोत दिया हो। वह तड़पकर बोली, "मैं तुम्हारे हाथ में अपने उस पिता का दान नहीं हूं। मैं आत्मसमर्पण हूं। प्रिया हूं तुम्हारी। स्वयम्बरा हूं।"

पूस का महीना था वह। उस महीने ठाकुर लाल बेनीसिंह अपने उस फारवर्डिंग के काम पर नहीं गया। बस, जनकनन्दिनी के साथ।

पर वह पूस का महीना बीत भी नहीं पाया था कि एक दिन ठीक दोपहर के समय

एक्साइज और पुलिस, दोनों की जीपें ठाकुर के दरवाज़ें पर हरहराकर आ रुकीं। रामजानकी रोड पर 'ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी' की ट्रक पकड़ी गयी थी। उसके ऊपर-ऊपर तो चावल के बोरे लदे थे, नीचे फर्श पर करीब पांच मन गांजा और चरस मिला था; उसी तरह चावल की बोरियों में बन्द।

ठाकुर फारवर्डिंग एजेन्सी!

नाम उसी ठाकुर लाल बेनीसिंह का!

पुलिस ने ठाकुर को गिरफ्तार कर लिया।

दोनों जीपें घर के दरवाजें से जनकनन्दिनी के पति को बन्दी बनाकर ले गयीं।

जनकनन्दिनी की आंखों में एक भी आंसू नहीं। जरा भी प्रतिवाद नहीं। फरियाद नहीं। रस्तोगी कम्पनी के मालिक बाबू, जनकनन्दिनी के वही पिता, बेटी को समझाते हुए बोले, "घबराती क्यों हो, बेटी, इसमें कौन-सी बड़ी बात है! अभी मैं ठाकुर को जमानत पर छुड़ाकर ले आता हूं। अभी, इसी वक्त!"

"और?" जनकनन्दिनी ने बड़े ही ठंडे स्वर में अपने पिता से पूछा।

पिता ने उत्तर दिया, "और क्या? अरे, ज्यादा-से-ज्यादा दो-चार महीने ठाकुर पर मुकदमा चलेगा। इसके लिए कम्पनी की तरफ से अच्छे-से-अच्छे वकील-एडवोकेट लगे हुए हैं। कम्पनी के मैनेजर हैं। वे लोग सरकार से मुकदमा लड़ लेंगे। इसका सारा खर्चा कम्पनी देगी। बस, इसमें किस बात की चिन्ता!"

"और?"

"मुकदमे में हमारी ही जीत होगी।"

"और?"

"ठाकुर फिर उसी तरह अपनी 'फारवर्डिंग एजेन्सी' का काम करेगा।"

"और?" जनकनन्दिनी ने अन्त में जैसे विक्षिप्त स्वरों में पूछा। फिर उस दृष्टि से उसने अपने पिता को देखा कि जैसे म्यान से अचानक कोई तलवार खिंचकर कौंध जाये।

उस अन्तिम "और" का कोई उत्तर नहीं। वह पिता, वह रस्तोगी कम्पनी के मालिक बाबू, यह इन्सान-इन तीनों को एक के ऊपर एक रखकर जैसे उस "और" की तलवार ने उस पूरे ढेर को एक ही धार में आर-पार कर दिया हो।

जनकनन्दिनी का अकेले जो स्वप्न पिछले बहुत दिनों से अक्सर पीछा कर रहा था-वह तलवार का दुःस्वप्न, उसमें से टपकते हुए खून के छींटे उसके बेतहाशा भागते हुए पति के माथे पर पड़ रहे थे, उसने आज उसे प्रत्यक्ष देख लिया कि वह तलवार यही है। यही है वह। यही है वह 'और'···

जनकनन्दिनी ने बढ़कर हवा में तनी हुई वह तलवार अपनी दोनों मुट्ठियों में भींच ली। वह तलवार आज उसकी मुट्ठी में! फिर वह निहारने लगी। निहारती रही। निहारती रही और उसकी धार पर नन्दिनी की अश्रुधार बहती रही। 'और'··· और'···

□

# कच्ची सड़क

सर्वेश्वरदयाल सक्सेना
(जन्म : सन् 1927 ई.)

उस कच्ची सड़क पर बैलों के खुरों के बड़े ताजे चिह्न अभी भी दिखाई दे रहे थे और धूल उठकर किसी नन्हें झीने दुपट्टे सी भटकटैय्या की झाड़ियों में उलझ गई थी।

उसके कन्धों तक पहुंचने वाले सफेद चिट्टे विशाल नागौरी बैल अभी-अभी हुमचकर उसके घर के सामने रुके थे और उन्हें देखने के लिए गांव के छोटे-बड़ों की भीड़ एकत्र होने लग गई थी। बैलों के गले में सफेद-नीली गुरियों की माला थी, पीतल की नन्हीं सी घंटी थी और पूर्णमासी के चांद के फ्रेम जैसी सींगों में गेंदें की माला उलझी हुई थी।

"वाह जगेसरी वाह। कै दांतू है?" गांव के एक बूढ़े ने प्रशंसा भरी दृष्टि से देखते हुए पूछा–

"अभी तो बच्चा है काका छः दांत।"

"शाबाश, कितने में–तीन सौ?"

"नहीं काका, चार सौ। पूरे मेले में इससे अच्छी जोड़ नहीं थी।" नाटा कद, सांवला चमकता रंग, कसा हुआ कसरती शरीर। जवाब देते समय जगेसर का सीना चौड़ा होकर फूल गया था।

"भाई-बाप होते, आज देख के कितने खुश होते।" झुकी कमर वाली एक बुढ़िया ने तारीफ की कि जगेसर को सचमुच अपने माता-पिता याद आने लगे। वह यह अरमान मन में लिए इस संसार से चले गए थे।

"उन्हीं का प्रताप है अइय्या, नहीं तो मेरी क्या हस्ती थी।" जगेसर ने अपने माता-पिता को मन-ही-मन प्रणाम करते हुए कुछ फंसते गले से उत्तर दिया।

"अब विवाह के डारो।" गांव की एक भौजाई ने आधे घूंघट की ओट से देखते हुए कहा और फिर खिलखिलाकर हंस पड़ी।

"शुभ बेला, गीत कढाओं भौजी!" जगेसर ने ब्याह की हंसी को अपने मर्म पर झेलते हुए कहा–

"देवरानी ले आओ फिर गीत सुन्यों।" इतना कहकर भौजी ठुमक कर चल दी। लेकिन चार कदम जाकर एक बार पीछे उलटकर देखा फिर गाती हुई चली गईं।

रसबुनियां गुलाब चुएला।
उहै रसबुनियां से पगिया रंगायूं
उ हौरिलवा के नाम बोंधेला।
रसबुनियां गुलाब चुएला।

"यौवन के गुलाब से रस की बूंदें चू रही हैं जिनसे मैंने उसकी पाग रंगी है··· जगेसर ने पंक्तियों को मन ही मन दोहराया और बैलों के लिए नए हौद में सानी चलाने लगा।"

रामनवमी के दिन जगेसर ने गुलाबी रंग में अपनी पगड़ी रंगी और उसे मुरेठ कर बांधा। नया मारकीन का कुरता पहना। बैलों की सींग में सुनहरा 'चमकौआ' लगाया। नई बैलगाड़ी जोती और उस पर कालीन लादकर शहर की ओर चलने के लिए तैयार हो गया। गांव से शहर कोई बीस मील था। यह गांव कालीनों के लिए प्रसिद्ध था। तीन-चार सौ घरों के इस गांव में कालीनें बनती थीं जिन्हें शहर ले जाकर कालीनों के व्यापारियों को बेचा जाता था। गांव का यह धन्धा बहुत दिनों से चला आ रहा था। कालीनें बैलगाड़ियों पर जाती थीं। और एक अच्छी बैलगाड़ी रख पाना इस गांव का बहुत ही सम्मानजनक और लाभदायक रोज़गार था। जगेसर बचपन से ही यह स्वप्न देखता था। माता-पिता के न रहने पर पूरे चार वर्ष शहर में रिक्शा चलाकर, रात-दिन एक-एक पाई बचाकर आज उसका स्वप्न पूरा हुआ था। अपनी बैलगाड़ी पर एक बार वह हुमचकर सीना तानकर बैठा और बैल इशारा पाकर उस कच्ची सड़क पर इस तरह चले जैसे कोई हल्की नाव पानी में फिसलती है।

"बोलो भगवान राम की जय!" बैलगाड़ी के चलते ही कालीनों के साथ जानेवाले कारिन्दे ने जयकार की।

"आज भगवान राम का जन्म है, बड़े शुभ दिन तुमने बैलगाड़ी अनवासी है। रामजी कल्याण करेंगे।" कारिन्दे ने बैलगाड़ी पर चढ़ कालीनों पर बैठते हुए कहा।

जगेसर कुछ नहीं बोला, मानो मन ही मन प्रार्थना कर रहा हो।

"बड़े ठाकुर कह रहे थे सबसे पहला नम्बर अब जगेसर की बैलगाड़ी का रहेगा।" कारिन्दे ने बैलगाड़ी की तारीफ करते हुए कहा।

बड़े ठाकुर इस गांव के मुखिया थे। सबसे अधिक सम्पन्न व्यक्ति, पहले ज़मींदार थे, अब गांव के कांग्रेस के सबसे बड़े कार्यकर्त्ता हैं, ग्राम पंचायत के सरपंच। गांव के आर्थिक, सामाजिक और राजनीतिक जीवन के वह ही केन्द्र हैं। गांव में कालीन

वालों से कालीनें बनवाकर शहर में थोक व्यापारियों के हाथ बेचने का काम ठाकुर ही करते हैं। अपनी बैलगाड़ी बनवाकर जगेसर उनकी ड्योढ़ी में उन्हें प्रणाम करने गया था। ठाकुर बुनकरों से घिरे बैठे हिसाब-किताब कर रहे थे। जगेसर से उन्होंने कहा था–

"अच्छा किया। हमें गाड़ियों की बहुत जरूरत है तैयार माल जितनी जल्दी शहर पहुंचना चाहिए–उतनी जल्दी पहुंच नहीं पाता और इससे हमारा और गांव का ही नहीं, देश का नुकसान होता है। जितना ही ज़्यादा हम माल तैयार करेंगे, विदेशों में भेजेंगे, उतना ही हमारा देश तरक्की करेगा और हम दुनिया के बड़े देशों में गिने जाएंगे।"

और जगेसर ने पहली बार अपने निजी हानि-लाभ से ऊपर उठकर अपनी बैलगाड़ी का एक ऐसा महत्व भी समझा था जिसका सम्बन्ध देश से और देश की प्रगति से था। उसके जी में आया कि उसके पास एक ही नहीं कई बैलगाड़ियां हो, और गांव का सारा माल तैयार होते ही शहर पहुंच जाए और उसका देश देखते ही देखते एक बड़ा देश हो जाए। उसने देखा कि वह अकेला नहीं खड़ा है, वहीं उसके आसपास आठ दस बैलगाड़ी वाले और भी है जो अन्य कामों के साथ-साथ गांव से कालीनें शहर पहुंचाते हैं।

जगेसर ने मन को समेटा, बैलों को थोड़ा ललकारा, बैलगाड़ी और तेज़ी से चल पड़ी और दबी जबान से उसने कारिन्दा साहब की तारीफ को स्वीकारते हुए कहा।

"आपका आशीर्वाद चाहिए, कारिन्दा साहब।"

तीसरे दिन शहर से लौटते समय जगेसर अपने पहले भाड़े का लड्डू खरीदता लाया। गांव में शिवजी के मन्दिर में भोग लगाने के बाद उसने लड्डू गांव भर में बांटे। जिस समय वह लड्डू बांट रहा था, बड़े ठाकुर कुछ अन्य कांग्रेसी नेता लोगों के साथ उसे दिखाई पड़े। उन्होंने जगेसर का प्रसाद ग्रहण किया। उसे पीठ पर हाथ फेरकर शाबाशी दी और अपने कांग्रेसी मित्रों से कहा–

"गांव का सच्चा सेवक है। नई बैलगाड़ी बनाई है, पहली बार उसे जोता है।"

सभी लोगों ने जगेसर की सराहना की।

एक ने, जिनके कपड़े सबसे ज्यादा सफेद थे और टोपी सबसे अधिक नोकीली थी, शायद सबसे बड़े नेता थे, कहा–

"महात्मा जी कह गए हैं, ग्रामोद्योग से ही देश का कल्याण होगा। गांव वालों को हर काम अपने पैरों पर खड़ा होकर करना चाहिए। अपने गांव को स्वर्ग बनाओ, सारा देश स्वर्ग हो जाएगा।"

जगेसर ने उनके मुख से निकली महात्मा जी की वाणी को मन ही मन हाथ जोड़कर सुना और बहुत प्रसन्न हुआ कि इस बेला जबकि वह प्रसाद बांट रहा है उसे

महात्मा जी की वाणी सुनने को मिली। कितना भाग्यशाली है वह।

फिर शाम को गांव में एक सभा हुई। सभा में स्थानीय नेताओं और सरकारी अधिकारियों के अलावा, जिनके चेहरों से जगेसर परिचित था, बाहर के कुछ अपरिचित नेता लोग भी आए थे। उन्होंने बड़े ओजस्वी व्याख्यान दिए और श्रमदान की महिमा समझाई–"गांव का हर आदमी अगर एक-एक ईंट रक्खें तो देखते-देखते एक बहुत बड़ा किला तैयार हो सकता है। सरकार आपकी है, आपकी ही तरह गरीब है। उससे यह उम्मीद नहीं करनी चाहिए कि सारा काम वह खुद करेगी, कर भी नहीं सकती। आप उसके काम में हाथ बटाएं। अपने गांव की ज़रूरत का काम मिलजुल कर खुद कर लें। कुएं, तालाब, सड़कें बनाएं, बांध बांधे, छोटी-मोटी नहरें तैयार कर लें। अपने गांव को आदर्श गांव बनाएं। आखिर आपके घर का काम करने दूसरा कौन आएगा। ··· पैसा हर आदमी नहीं दे सकता क्योंकि हर के पास नहीं होता लेकिन श्रम हर आदमी दे सकता है, उसके लिए गरीब अमीर का कोई प्रश्न नहीं। इसलिए श्रमदान सबसे बड़ा दान है। ···"

फिर ठाकुर साहब ने अपने भाषण में कहा–"हमारे गांव को सबसे बड़ी जरूरत एक पक्की सड़क की है। गांव से शहर तक अगर एक पक्की सड़क हो तो हमारा गांव सबसे अधिक समृद्ध गांव हो सकता है। कच्ची सड़क के कारण बरसात में तीन-चार महीने गांव का रोज़गार लगभग ठप्प-सा ही रहता है। कितनी कठिनाइयां होती हैं यह हम ही जानते हैं। पक्की सड़क हो जाने से गांव से बाहर का सम्बन्ध सीधा और आसान हो जाएगा और हमारा छोटा-सा गांव अपनी सारी शक्ति से देश के निर्माण में योग दे सकेगा।"

फिर जिला के योजना अधिकारी ने एलान किया था कि अगर गांव वाले मिलकर आठ मील की सड़क श्रमदान द्वारा पक्की कर दें तो शेष सड़क सरकार पक्की बनवा देगी।

जगेसर हर्ष से उछल पड़ा। कितना आसान हो जाएगा फिर बैलगाड़ियों का सड़क पर आना-जाना। कछार की कच्ची लीकों में अभी उन्हें कितना भटकना पड़ता है। एड़ी, चोटी का पसीना एक करना पड़ता था। गांव के सभी लोगों में खुशी और उत्साह की लहर दौड़ गई थी। और सबने एक स्वर में श्रमदान द्वारा आठ मील सड़क पक्की बनाने का फैसला कर लिया था।

उसी रात सानी चलाते समय बैलों से जगेसर ने कहा था–"घबराओ मत, सोचते होंगे कहां आ फंसे। अब आगे इतनी मसकत तुम्हें नहीं करनी पड़ेगी, और फिर सुखद कल्पना करता हुआ सो गया था, नींद के हल्के झोंकों में गीत की वह मीठी लहर फिर आई थी, 'रसबुनियां गुलाब चूएला।'

अभी नहीं अगले साल जेठ में। वह बुदबुदाया था और थकान से चूर अपने कसमसाते शरीर को स्वयं से लपेट कर सो गया था।

चैत का महीना खत्म होने से पहले ही सड़क के लिए श्रमदान का काम जोर-शोर से शुरू हो गया। सड़क बरसात के पहले पहल आषाढ़ लगते ही बन जानी थी। गांव में चहल-पहल हो गई। सरकारी कर्मचारी जीप में बैठ-बैठकर आने जाने लगे और बनती हुई सड़क की देखभाल, नाप-जोख करने लगे। जगेसर उमंग से भरा हुआ था। अपने कसे हुए शरीर और उत्साह के कारण वह गांववालों का नेता हो रहा था। फावड़ा चलाते समय और दुरमुट से सड़क पीटते समय उसकी मांसपेशियों की एक-एक रग मछली-सी चमक उठती थी और नसें चट-चट बोलती थीं। श्रमदान का यह संगीत अपनी भौजी को सुनाते हुए उसने कहा–

"भौजी, मिसरी खाय के गला मीठा कर लो, कहीं ऐसा न हो गला फंस जाए और गीत बीच में टूट जाए।"

"वह दिन आने दो, फिर देखना गला है कि सुर बहार।"

भौजी ने सांखी भरकर कंकड़ डाले और जगेसर पूरी शक्ति से हुमच कर दुरमुट चलाने लगा।

"देख रही हो भौजी, कंकड़ को मिट्टी होते देर नहीं लगती।"

"हां देवर, आदमी का पौरुख ही पारस है, जिसे चाहे सोना बना दे। देवरानी के बड़े भाग्य होंगे···।"

जेठ का महीना समाप्त होते-होते सड़क बनकर तैयार हो गई। ठाकुर साहब के यहां बड़े-बड़े नेताओं और अफसरों की भीड़ लगी रहती गोया उनकी लड़की की बारात आने वाली हो। प्रान्त के एक मन्त्री ने सड़क का उद्‌घाटन किया। बड़ा भारी जलसा हुआ। लाउडस्पीकर लगा। फूलों से सजी हुई एक कार पर बैठकर मंत्री जी उस सड़क से आए गए। ठाकुर साहब और गांव की जनता की सभी ने तारीफ की। और सचमुच कुछ क्षणों के लिए ऐसा लगा कि गांव स्वर्ग हो गया है। भौजी ने पियरी पहन सड़क की पूजा की और जगेसर के सर पर गुलाबी साफा फिर लहराया। भौजी ने उसे देखकर फिर गुनगुनाया वही गीत 'रसबुनिया गुलाब चूएला।'

और एक दिन जगेसर ने देखा ठाकुर साहब के दरवाजे पर एक नई ट्रक खड़ी है जो उस पक्की सड़क से आई थी जिसे श्रमदान द्वारा उसने बनाया था। गांव के बैलगाड़ी वाले खड़े थे और ठाकुर साहब कह रहे थे–

"अरे तुम लोग देखते क्या हो, ज़रा हाथ लगाकर कालीनें उस पर लदवा दो। तुम्हीं लोगों की इज़्जत और खुशहाली के लिए तीस हजार रुपये मैंने निछावर कर दिए। अब शहर तक कालीन पहुंचाने में कुल सवा घण्टे लगेंगे। तुम सबकी बैलगाड़ियों में कुल मिलाकर जितना माल जाता था, उतना अकेले इस ट्रक में जा सकेगा। हमारा गांव बहुत जल्दी ही समृद्ध होगा।"

लेकिन बैलगाड़ी वालों के सिर झुके हुए थे और जगेसर देख रहा था कि उसके

बैल उसी ट्रक पर लदे शहर की ओर बिकने के लिए जा रहे हैं, दृष्टि से ओझल हो गए हैं। उसके सिर पर से गुलाबी पाग उतर गई है और ट्रक के क्लीनर का कालिख वाला रूमाल बंध गया है। □

# सिद्धार्थ

**देवेन्द्र इस्सर**
(जन्म : सन् 1928 ई.)

रेलवे स्टेशन के बाहर अचानक मेरी मुलाकात परेश राय से हो गई—दो-ढाई वर्ष बाद। यह एक छोटा-सा स्टेशन था। परेश राय सड़क के किनारे नारियल पानी पी रहा था। मैंने उसे बताया कि मैं अपनी फर्म की नई प्रॉडक्ट की प्रोमोशन के सिलसिले में इस इलाके की मार्किट सर्वे के लिए यहां आया हूं और मुझे आज रात ही दिल्ली के लिए गाड़ी पकड़नी है। दिल्ली जाने वाली इससे पहले कोई गाड़ी नहीं।

"चलो पहले नारियल पानी पियो। फिर कहीं बैठकर इत्मीनान से बातें करते हैं।" उसने कहा।

नारियल पानी पीने के बाद हम सड़क के किनारे एक टी-स्टाल में चले गए। और एक धूल-भरी मैल-जमी मेज़ के गिर्द एक टूटे-फूटे बेंच पर बैठ गए।

"दो स्पेशल।" परेश राय ने ऑर्डर दिया।

चाय वाले ने केतली में आधा कप दूध और दो चम्मच चीनी और डाल दी।

"दो फेन भी दे देना।"

मैं चायवाले की तह-दर-तह पत्ती जमी काली केतली देख रहा था।

"क्या सर्वे कर रहे हो?" परेश राय ने मुझे काली-स्याह केतली की ओर देखते हुए देखकर कहा।

"कुछ नहीं।" मैंने कहा।

"भाई देखते क्या हो? इसका भीतर-बाहर एक ही है।" उसने कहा।

इतने में चाय आ गई। साथ में दो फेन और कई मक्खियाँ भी। टी स्टाल के बाहर भूरी धूल उड़ रही थी और भीतर काले धुएँ से आँखें जल रही थीं।

"हमारी फर्म बड़े पैमाने पर शहरों के आसपास के इलाकों, कस्बों और गांवों में अपना बिज़निस फैला रही है। अभी इन इलाकों में न्यू रिच और बढ़ती हुई मिडल क्लास को पूरी तरह टैप नहीं किया गया—ख़ैर छोड़ो इन बातों को। तुम बताओ यहां

क्या कर रहे हो?" मैंने पूछा।

"बस यूं ही घूमने निकल पड़ा।" उसने अंगोछे से मुंह हाथ साफ करते हुए कहा। और फिर अंगोछा मेरी ओर बढ़ा दिया। मैंने रूमाल से हाथ पोंछ लिए थे।

"यह हमारा अंगवस्त्रम मल्टीपर्पज़ है। सफर पर निकले तो गले में डाल लिया। थक गए तो कमर में बांध लिया। धूप लगी तो सिर पर रख लिया। हाट गए तो सौदा सुल्फ बांध लिया। स्नान किया तो शरीर पोंछ लिया। नींद आई तो सिरहाने रख लिया··· अच्छा यहां कहां ठहरे हो?" उसने पूछा।

"अभी तो कहीं नहीं और फिर दिन भर की ही बात है। इधर-उधर घूम लूंगा। समय कट जाएगा। वैसे भी यहां ठहरने की कोई जगह दिखाई तो नहीं देती।"

"तो फिर मेरे साथ चलो। शाम को लौट आना।"

"कहां?"

"यहीं पास में एक गांव है। पांच-छः कोस की दूरी पर। साथ भी रहेगा और तुम्हारा मार्किट सर्वे भी हो जाएगा। थोड़ी देर में बस आने वाली ही होगी।"

हम सड़क के किनारे एक पेड़ के गिर्द बने चबूतरे पर बैठ गए। दो चार लोग और भी इंतजार कर रहे थे। कुछ ही मिनटों के बाद बस आ गई और हम उसमें सवार हो गए। कण्डक्टर की कृपा थी कि हमें सीटें मिल गईं।

डीज़ल, पसीने और बीड़ी-सिगरेट की गंध और धुएं में लिपटी हमारी यात्रा शुरू हुई।

"तुम आ गए··· बड़ा अच्छा हुआ। बातचीत में सफर कट जाएगा।" परेश राय ने कहा।

बस कच्ची-पक्की टूटी-फूटी सड़क पर धूल उड़ाती, धुआं फैलाती, शोर मचाती, हिचकोले खाती लुढ़कती जा रही थी। बस के भीतर इतना शोर था कि बातचीत बस संकेतों में ही संभव थी। परेश राय ने अंगोछे से मुंह ढंक लिया और ऊंघने लगा।

परेश राय से मेरी मुलाकात पहली बार मसूरी में हुई थी। वह और मैं लाइब्रेरी के पास एक ही लॉज में ठहरे हुए थे। आते-जाते प्रायः उससे भेंट हो जाती थी। वह सुबह तड़के निकल जाता और शाम को अंधेरा होते ही वापस आता। मैं कुछ अपने और कुछ नन्दिनी शिवदासानी के फैशन शो के सिलसिले में दिनभर व्यस्त रहता। रात खाने पर किसी रेस्तरां में उससे मुलाकात हो जाती। जब बारिश में बाहर निकलना बंद हो जाता तो वह बालकॉनी में बैठकर बादलों और बूंदों का नज़ारा करता रहता। और जब पानी की बौछार उसके शरीर को सराबोर कर देती तो वह अपने कमरे में बंद होकर कोई पुस्तक पढ़ने लगता या अकेले ही शतरंज खेलने लगता। वह कभी-कभी वायलिन भी बजाता था।

जिस दिन नन्दिनी शिवदासानी के फैशन शो का उद्घाटन था तो मैंने उसे भी

चलने के लिए कहा। लेकिन शायद उसे मेरा आइडिया कुछ पसन्द नहीं आया।

मैंने बड़े ही फिल्मी अंदाज़ में कहा–"हर वह आदमी जो कुछ भी है वहां मौजूद होगा। रंग-बिरंगे लिबासों में शोख लड़कियां, तड़क-भड़क चकाचौंध रोशनी में चमचमाते थिरकते सजे-सजाए जवां जिस्म, हवाओं में रंग और खुशबूएं बिखेरते हुए···।" उसने मेरी ओर देखा और मुस्करा दिया। और फिर पुस्तक पढ़ने में तल्लीन हो गया।

"चलो थोड़ी देर के लिए आ जाना।" मैंने कहा, "चहलकदमी भी हो जाएगी और नन्दिनी शिवदासानी से भी तुम्हारी मुलाकात हो जाएगी।"

"ओ. के.।"

सेवाय होटल में फैशन शो का उद्‌घाटन दिल्ली की प्रसिद्ध ऐन्ट्रेप्रिनेर अरुणा मल्होत्रा ने किया था। शो बहुत ही सफल रहा। सेलिब्रिटीज़ के जमघट के कारण भी और बिज़नेस की दृष्टि से भी। हम सब बहुत खुश थे। इस दौरान परेश राय भी आ गया। मैंने नन्दिनी शिवदासानी से उसका परिचय कराया।

"रंगों, रोशनियों और खुशबूओं के इस शीशाघर में मेरा शामिल होना कुछ ऐण्टी फैशन-सा लगता है।" परेश राय ने कहा।

"ओह नो। ऐण्टी फैशन भी आजकल फैशन है···।" नन्दिनी शिवदासानी बोली– "कोल्ड ड्रिन्क्स या कॉफी या···?"

"पहले कोल्ड ड्रिन्क बाद में कॉफी···।" जब मैं चलने लगा तो उसने कहा।

"ओनली कॉफी प्लीज-नो मिल्क नो शूगर।"

"फैशन की मार्किट बड़ी तेजी से बदल रही है। अब ज़माना दि बोल्ड एण्ड दि ब्यूटीफुल··· और दि रिच एण्ड दि फेमस का है। मैं हाई फैशन के बजाय पॉप्यूलर प्राइस पर रेडी-टू-वेयर लिबास तैयार करती हूं।" नन्दिनी कह रही थी।

"वह तो है ही। पेन्ट्स हों या पोशाकें औराके-मुसव्विर हैं/जो शक्ल नज़र आई तस्वीरे-हुसैन नज़र आई।" परेश राय ने कहा।

नन्दिनी शिवदासानी परेश राय को अपने डिज़ाइन्स दिखा रही थी।

"यह मेरी नई क्रिएशन है।" उसने अपने पहने हुए लिबास की ओर संकेत करते हुए कहा। साइक्डेलिक रंगों वाला हॉल्टर, क्रीम कलर जैकिट और इसी रंग के पैरेलल्ज़, कंधों पर लाल स्टोल; नारंगी प्लेटफार्म शूज, कलाइयों पर बोन और सीपियों की जूएलरी, गले में ग्रामीण तावीज़ की शक्ल वाला कांसे का पैण्डल··· कॉफी का प्याला हाथ में लिए परेश राय नन्दिनी शिवदासानी के साथ चल रहा था··· नीली फेडेड जीन, खादी का भूरा कुर्ता, रूई से बनी राजस्थानी मिर्जई, कोल्हापुरी चप्पल और गले में मणिपुरी लाल-काला सफेद मफलर। आर्कलाइट में वे दोनों एक किनेटिक जादुई कम्पोज़ीशन दिखाई दे रहे थे। मैंने पहली बार महसूस किया कि परेश राय की आंखों में इतनी नर्म चमक है और मैंने पहली बार महसूस किया कि नन्दिनी के तांबा बदन में इतना मेग्निटिक आकर्षण है।

हॉल में फोटोग्राफरों के कैमरों की फ्लेशलाइट्स जल-बुझ रही थी और मडोना का गीत बिखर रहा था–'आई एम ए मटीरिअल गर्ल।'

जिस दिन फैशन शो खत्म हुआ मैंने नन्दिनी शिवदासानी को अपने लॉज में आमंत्रित किया। थोड़ी देर तक बुकिंग और कलक्शन की बातें होती रहीं और फिर हम परेश राय से मिलने उसके कमरे में चले गए। परेश राय कोई पुस्तक पढ़ रहा था। उसने पुस्तक एक ओर रख दी।

"क्या पढ़ा जा रहा है?" नन्दिनी शिवदासानी ने पुस्तक उठाते हुए कहा। यह हर्मन हैसे की 'सिद्धार्थ' थी।

–"इतनी पुरानी किताब और अब पढ़ रहे हैं। चालीस-पचास वर्ष तो पुरानी होगी ही!" नन्दिनी ने कहा।

"इससे भी अधिक पुरानी। करीब सत्तर वर्ष पुरानी। अंग्रेज़ी में छपते-छपते भी इसे तीस-बत्तीस वर्ष तो लग ही गए।" उसने कहा।

"फिर भी।" नन्दिनी ने कहा।

"मैडम! आदमी पुराना हो जाता है। किताब पुरानी नहीं होती।" परेश राय बोला।

"शायद एक दिन हम सब बूढ़े हो जाएंगे। और किताबें नहीं रहेंगी और ज़माना इन किताबों से बहुत आगे निकल चुका होगा।" नन्दिनी ने जाने क्या सोचते हुए कहा।

"ज़माना इतिहास में आगे बढ़ता है। लेकिन काल में हमेशा जीवित रहता है, हमारे पास हमारे भीतर।"

"यह कुछ फिलॉसफी की बात है।" नन्दिनी ने कहा।

"फिलॉसफी की नहीं, अनुभव की। जब मैंने इसे पहली बार पढ़ा था तो यह महज़ एक किताब थी।"

"और अब!"

"और अब जब पढ़ रहा हूं तो यह किसी बहुत पुराने दोस्त-सी लगती है।"

"फिर भी गुज़रा हुआ ज़माना कभी वापस नहीं आता।"

"लेकिन आदमी गुज़रे हुए ज़माने में लौट सकता है। लौटता है। लौटना पड़ता है। अब आप अपनी फैशन की दुनिया को ही लीजिए। आज का फैशन पिछले दस वर्षों में आगे बढ़ा है ना।" परेश राय ने कहा।

"बिल्कुल बढ़ा है।"

"लेकिन उससे पिछले दस वर्षों में वापस चला गया है।"

"वह कैसे?" नन्दिनी शिवदासानी बोली।

"वही ग्रंज। वही सब कुछ जो बीस बरस पहले था–रेट्रो रिवाइवल। और बार-बार चुनरिया चोली लहंगा रूप बदलकर सामने आ रहे हैं।"

"तो आप भी फैशन ट्रेन्ड्स पर नज़र रखते हैं।"

"नहीं। कुछ ऐसा नहीं। बाज़ार से गुज़रता हूं और कभी किसी औरत को नज़र

चुराकर के देख लेता हूं।"

परेश राय ने नन्दिनी से उसे डिज़ाइन्स के बारे में कुछ बातें पूछीं। नन्दिनी ने बताया कि वह न्यूयार्क इंस्टीट्यूट ऑफ फैशन टैक्नालॉजी की प्रशिक्षित है। हौज़खास दिल्ली में उसका बूटीक है।

"क्या नाम है आपके बूटीक का।" परेश राय ने पूछा।

"पैरहन।"

"रंग पैरहन का खुशबू जुल्फ लहराने का नाम···।"

"आपको शायरी का भी शौक है?"

"नहीं। कुछ ऐसा नहीं। बस यूं ही कभी-कभी किसी का शेर गुनगुना लेता हूं।"

फिर न जाने किस बात पर नन्दिनी और परेश राय में बहस छिड़ गई। विषय फैशन था या शायरी या फेमिनिज़्म। "वह ज़माना गुज़र गया जब स्कूल कॉलेज की लड़कियां शायरी पढ़ती थीं और आहें भरती थीं। शायरों से ग़ायबाना इश्क करती थीं और तकिये भिगोती थीं। यह एम.टी.वी. जनरेशन है जनाब! वी जनरेशन—नाऊ जनरेशन···।" नन्दिनी निरन्तर बोले जा रही थी।

"सही कह रही हैं आप। लेकिन ज़माना इतना नहीं बदला जितना आप समझती हैं। हर ज़माने के अपने-अपने आइकॉन्स होते हैं। आइकॉन्स बदलने से मानसिकता नहीं बदल जाती।" परेश राय ने किसी पुस्तक का हवाला देते हुए कहा—"मुझे कुछ हल्का-सा याद पड़ता है शायद वह पुस्तक 'दि जनरेशन ऑफ नारसिसस' थी।"

"मिस्टर परेश राय! ज़िन्दगी हो या मनुष्य, उसे किसी दूसरे की किताब से न पढ़ा जा सकता है और न समझा जा सकता है। अगर जीवन मायाजाल है तो पुस्तक भी शब्दजाल है।" नन्दिनी की आवाज़ में हल्का-सा कम्पन था। यह बहस की गरमी थी या शैम्पेन का असर। मालूम नहीं।

"बिल्कुल सही। ज़िन्दगी हो या मनुष्य, उसे किसी दूसरे की किताब से नहीं पढ़ा जा सकता। लेकिन प्रत्येक पुस्तक ज़िन्दगी और मनुष्य को नया जन्म देती है। उसे किसी नयी अनजानी दुनिया में ले जाती है। किसी जाने पहचाने शब्द को नया अर्थ और किसी एहसास को नया शब्द देती है। किसी शरीर को नया लिबास देने से किसी मनुष्य को नयी आत्मा, नयी चेतना देना बड़ा कठिन होता है।" परेश राय ने अपनी आवाज़ ऊंची करते हुए कहा। मैं उसके बदले हुए लहजे पर हैरान था।

"यह सब निष्क्रिय हारे हुए लोगों की बातें हैं। अर्थ पुस्तकों में नहीं, जीवित लोगों में होते हैं··· अर्धरोशन कमरों में सरगोशियां करते हुए, लौ देते जवां ज़िस्मों का स्पर्श महसूस करते हुए··· जो लोग ज़िन्दगी की लज़्ज़त से वंचित रहते हैं वे किताब के मिथ्या जगत में शरण ढूंढ़ते हैं और समझते हैं कि उन्हें प्रकाश मिल गया। वे सिद्धार्थ से गौतम बुद्ध बन गए हैं—दि ग्रेट एनलाइनमेन्ट।" नन्दिनी शिवदासानी अब अंग्रेज़ी में बोल रही थी।

परेश राय ने पुस्तक को एक ओर सरकाते हुए और तनिक आगे झुककर कहा–"माई डियर मिस नन्दिनी शिवदासानी! प्रत्येक संवेदनशील व्यक्ति के जीवन में एक ऐसा ज़ीरो टाइम आता है जब वह किताब की तरफ आता है और फिर किताब से जीवन की ओर मुड़ता है। यह एक अन्तहीन निरन्तर यात्रा है मनुष्य के विराट दर्शन की···।"

नन्दिनी ने कोई उत्तर नहीं दिया। उस पर हल्की-सी गुनूदगी छा रही थी। हम सब कमरे से बाहर लॉन में आ गए। रात बिल्कुल काली थी। चारों ओर सम्पूर्ण सन्नाटा था। बाहर थोड़ी-थोड़ी सर्दी और नमी थी। शायद ओस पड़ना शुरू हो गई थी। परेश राय ने अपना शाल नन्दिनी के शरीर के गिर्द लपेट दिया और चुपचाप वापस अपने कमरे में चला गया और मैं नन्दिनी को उसके होटल तक पहुंचाने उसके साथ चला गया।

दिल्ली में परेश राय से मेरी मुलाकात उसके दफ्तर में हुई। नन्दिनी शिवदासानी को यशवंत पैलेस में किसी एक्सपोर्ट एजेन्ट से मिलना था। हमारे पास लगभग आधे घंटे का समय था। नन्दिनी ने कहा–"वह तुम्हारा मित्र–क्या नाम था–सिद्धार्थ–नहीं, वही जिससे तुमने मसूरी में मिलवाया था।"

"परेश राय।" मैंने कहा।

"हां, परेश राय। उसका दफ्तर भी तो यहीं कहीं है।"

मुझे परेश राय का सही पता मालूम नहीं था। और न ही उसने बताया था कि वह क्या करता है? यह तो लॉज का रजिस्टर देखने से कुछ याद रह गया था कि यशवंत पैलेस में कहीं उसका दफ्तर है। लेकिन नम्बर मालूम नहीं। दो तीन जगह से पूछा लेकिन कोई संतोषजनक उत्तर नहीं मिला। जो हुलिया हमने बताया उस हुलिये के किसी व्यक्ति का दफ्तर वहां नहीं था। एक रेस्तरां के मालिक से मालूम हुआ कि उसका दफ्तर बायीं कोरीडोर में तीसरे नम्बर पर है। तीसरे नम्बर पर एक छोटा-सा साइनबोर्ड था–'इन्फोमेटिक्स कॉन्सलटन्सी'। हम भीतर दाखिल हुए। रिसेप्शन डेस्क पर एक सुन्दर मॉड सेक्रेटरी से सामना हुआ। मैंने नन्दिनी से कहा कि यह लड़की तुम्हारा मॉडल बन सकती है। परेश राय से बात करना। सेक्रेटरी ने परेश राय को सूचना दी। शीशे की दीवारों के अन्दर तीन-चार व्यक्ति कम्प्यूटर पर काम कर रहे थे। इस शीशाघर से एक शख्स बाहर आया। ग्रे पैन्ट, धारीदार कमीज़ और हल्के ब्राउन रंग की प्लेन टाई लगाए।

"परेश राय।" उसने अपना हाथ बढ़ाते हुए कहा। मुझे एकदम पहचानने में कुछ दिक्कत हुई। और फिर स्वयं ही बोल उठा–"हाय ज़े.के. हैलो मिस शिवदासानी। कैसे हैं आप?" फिर हम रिसेप्शन कॉनर में सोफे पर बैठ गए। बीच में लेटेक्स ज्यूट कारपिट पर शीशे की टॉप वाली गोल मेज पड़ी थी। एक कोने में कॉफी पर्कोलेटर

और तीन चार प्याले पड़े थे। दूसरे कोने में रबर प्लांट था। सामने दीवार पर अंजोली इला मेनन की पेन्टिंग थी और पूरे रिसेप्शन कॉनर में अमजद अली खां के रूमानी हमीर राग की सरोद धुनें ताज़ा हवा की भांति सहला रही थीं। परेश राय ने बिना पूछे ही कॉफी बनाई और प्याले, मिल्क पाउडर और शूगर क्यूब्स हमारे सामने रख दिये। वह स्वयं ब्लैक कॉफी पीता था।

"स्नैक्स?" उसने पूछा।

"नो थैंक्स। एक बिज़नेस लंच अपायन्टमेन्ट है।" हमने कहा।

परेश राय ने बताया कि वह एक मीडिया फ्यूजन फर्म के सहयोग से आई.टी. कम एस.ए. (इन्फार्मेशन टैक्नालॉजी और सिस्टम अनैलसिस) की कॉन्सलटन्सी सर्विस चला रहा है।

"शायद इसीलिए तुम्हारे दफ्तर की हर वस्तु कम्प्यूटर कंट्रोल्ड है—वेनीशन ब्लाइंड्स से लेकर तुम्हारी सेक्रेटरी तक···।" मैंने कहा।

वह मुस्करा दिया! "हमारे यहां काम में ऑटोमेशन है। यहां काम करने वाले ऑटोमेटन नहीं। मैं एरगोनॉमिक्स में विश्वास करता हूं।" उसने कहा।

"तुम्हारा मतलब है—स्टेट आफ दि आर्ट टैक्नॉलॉजी विद ट्रांसेन्डन्टल मेडिटेशन।" मैंने कहा।

"ओ हां, टी.एम. से मुझे याद आया। कल शाम क्या प्रोग्राम है आपका? अगर फुर्सत हो तो पांच बजे ताज पैलेस आ जाइयेगा।" नन्दिनी शिवदासानी ने कहा।

"क्या कोई पार्टी दे रही हैं।" परेश राय ने पूछा।

"घबराइए नहीं कोई फैशन शो नहीं।"

"तुम्हारा बिजनेस हाईटैक है और नन्दिनी का लो-नैक। अगर आप दोनों मिल जाएं तो फैशन की दुनिया में क्रांति आ जाएगी।" मैंने कहा। परेश राय हंस दिया। नन्दिनी ने कहा कि किसी दिन इस पर भी बात हो जाए।

परेश राय भी व्यस्त था और हमें भी देर हो रही थी। हमने इजाज़त ली और दफ्तर से बाहर आ गए। मीटिंग से फारिग होकर हम हौज़खास विलेज के लिए रवाना हुए। रास्ते में नन्दिनी ने पूछा—"यह परेश राय ही था ना जिससे हम मसूरी में मिले थे?"

"क्यों?"

"कुछ नहीं। वैसे ही।" उसने कहा और किसी सोच में पड़ गई।

ताज पैलेस में किसी स्वामीजी के आश्रम की ओर से एक भव्य समागम था। सामने दीवार पर 'ऊं नमो शिवाय' की न्यून लाइट जल-बुझ रही थी। हाल में गेरुए वस्त्रों, मॉड फैशन, इथनिक पहनावे वाले हर आयु के स्त्री-पुरुष मौजूद थे। वीडियो स्क्रीन पर किसी संन्यासिन की वीडियो फिल्म दिखाई जा रही थी—हिमालय की बर्फ से ढकी चमकती चट्टानें, निर्मल झरने, चारों ओर हरियाली, वनस्पति के खुले फैले हुए आंगन में विचरती और न्यूयार्क के साइकेडेलिक रोशनियों वाले हॉलों में प्रवचन

देती–सब कुछ उजला-उजला चमकता आईना-सा था जिसमें वह अलौकिक छवि गतिशील थी। वीडियो फिल्म खत्म हुई तो पोडियम के पीछे एक चेहरा प्रकट हुआ–लम्बे हल्के सुर्ख, सुलहले केश, नीलवसन, गले में रुद्राक्ष की माला–एक चालीस-बयालीस वर्ष की सुन्दर महिला। वह बता रही थी–कुछ वर्ष पूर्व एक निजी क्राइसिस के कारण उनका नर्वेस ब्रेकडाउन हो गया था। उसका जीवन पूरी तरह शैटर हो चुका था। वह एक मैन्टल रैक थी। उसका वैवाहिक जीवन नाइटमेयर सिद्ध हुआ। फिर वह ··· मां की शरण में आई। शान्ति की खोज में उसे शान्ति मिल गयी। उसका नया जन्म हुआ है ··· एक नारी के रूप में। एक सफल बिज़नेस पर्सन के रूप में।

"यह महिला कौन है?" परेश राय ने मुझसे पूछा।

"अरुणा मल्होत्रा। ऐन एन्ट्प्रिनेर पार एक्सीलान्स-ग्रेट सिलिब्रिटी।"

"यह वही तो नहीं जिन्होंने मसूरी में नन्दिनी शिवदासानी का फैशन शो इनाग्यूरेट किया था।"

"येस। वैरी मच।" मैंने कहा।

"ऊं नमो शिवाय" परेश राय ने आंखें मूंदते हुए कहा।

हाल की सब रोशनियां बुझा दी गईं। केवल पोडियम पर एक बल्ब नन्हीं-सी किन्दील की तरह जल रहा था। और फिर हाल 'ऊं नमो शिवाय' की ध्वनि से गूंजने लगा। कुछ समय तक ध्वनि गूंजती रही। रोशनियां फिर जगमगा उठीं। सबको मां का प्रसाद दिया गया और साथ ही चाय-कॉफी का दौर भी शुरू हुआ। देश-विदेश से कई लोग आए हुए थे। बिजनैसमैन, फिल्म-स्टार, टी.वी. मीडिया के सितारे, पत्रकार, ब्यूरोक्रेट्स, डॉक्टर, इंजीनियर, राजनीतिज्ञ, वैज्ञानिक, नृत्य, कला, संगीत, रंगमंच के लोग, बुद्धिजीवी ···।

कॉफी के दौरान नन्दिनी शिवदासानी ने परेश से पूछा–"कैसा लगा।"

"ठीक है। इन सब लोगों को शान्ति की कितनी आवश्यकता है। पलंग के पाए सोने के ही क्यों न हों, सिरहाना तो बहरहाल नर्म ही चाहिए।" उसने कहा।

"आज ज़िन्दगी कितनी फास्ट हो गई है। कितनी टेन्शन बढ़ गई है। डिप्रेशन, चारों तरफ ···।" नन्दिनी शिबदासानी कह रही थी।

–"मैं जब चार-पांच वर्ष का रहा हूंगा तो मां की उंगली पकड़कर कभी-कभी गांव के पास एक टीले पर बने हुए मन्दिर में जाया करता था। मन्दिर क्या था, एक पीपल के वृक्ष के इर्द-गिर्द मिट्टी-गारे से बने चबूतरे पर शिवलिंग रूपी पत्थर स्थापित कर दिया गया था। आसपास के लोग वहां आते थे और सब मिलकर शिव संकीर्तन करते थे–'ऊं नमो शिवाय' और झूम-झूमकर गाते थे। और फिर अपने-अपने कामों में व्यस्त हो जाते थे। वही शताब्दियों पुरानी ज़िन्दगी, वही शताब्दियों पुराने विश्वास ···।" परेश राय कह रहा था।

"अब ज़माना बदल गया है।" नन्दिनी शिवदासानी ने कहा।

"हाँ, अब ज़माना बदल गया है। टीले पर गारे मिट्टी का बना कच्चा चबूतरा ताज पैलेस के ईरानी कार्पेट्स में बदल गया है। पीपल का पेड़ सागवान का बना पोडियम बन गया है और शिवलिंग के स्थान पर वीडियो स्क्रीन की रंगीन छवियों ने ले ली है। ज़माना वास्तव में बदल गया है।" परेश ने कहा।

"जब लिविंग इन स्टाइल, कला की प्रदर्शनियां, सूपर थियेटर, संगीत सम्मेलन, गज़ल की महफिलें, विवाह के मंडप, पार्टियां, फैशन-शो, बिज़नेस कांफ्रेन्स और ग्राम-सुधार के सेमिनार पांच सितारा होटलों में होते हैं तो फिर भजन कीर्तन क्यों नहीं हो सकता।" मैंने कहा।

परेश राय मौन रहा।

कॉफी पीने के बाद वह थोड़ी देर के लिए रुका। हमें किसी दिन घर आने के लिए कहा। अपना पता दिया और चला गया।

कई दिनों तक परेश राय से मेरी मुलाकात नहीं हुई। एक दिन सोचा, क्यों न उसके घर उससे मिला जाये। मैंने नन्दिनी शिवदासानी से कहा। उसने कहा कि उसे भी परेश राय से कम्प्यूटर ग्राफिक्स के बारे में कुछ बातचीत करनी है। और अगले इतवार ही हम उसके घर जा पहुंचे—बिना किसी पूर्व सूचना के।

परेश राय ने दो चौकियां सरकाते हुए हमें बैठने के लिए कहा। लेकिन हम उसके साथ ही फर्शी बिस्तर पर बैठ गए। उसने बिस्तर पर पड़ी हुई वस्तुएं-पुस्तकें, पत्र-पत्रिकाएं, पेन, प्याले, कैसेट्स, आदि समेट कर एक तरफ सरका दिये और वायलिन को सिरहाने के पास रख दिया। थोड़ी देर रस्मी बातों के बाद वह कॉफी बनाने के लिए चला गया। कमरे में पुस्तकों के कई शेल्फ थे। शेल्फों के ऊपर पुस्तकों के बीच दीवारों पर कई प्रकार के आटीफक्ट्स थे। काली लकड़ी की नीग्रो कार्विंग, हड़प्पा की निर्वसन नर्तकी, चीनी वाल हैंगिग, गौतम बुद्ध की टैराकोटा मूर्ति, मधुबनी चित्र, भगतसिंह की तस्वीर, बस्तर की लोहे की पतरियों की बनी ऑफरिंग जिसमें पशु-पक्षी, पेड़-पौधे, किसान, शिकारी और कई दिये आदि बने हुए थे। सब कुछ बेजोड़ अनमेल-सा लग रहा था।

परेश राय कॉफी बनाकर ले आया। अपने लिए वह ब्लैक कॉफी ही लाया था।

"आपने डेकोरेशन की इतनी सारी चीजें जमा कर रखी हैं। लेकिन तरतीब से रखा नहीं। सब कुछ इधर-उधर बिखरा-बिखरा-सा पड़ा दिखाई देता है।" नन्दिनी शिवदासानी ने कहा।

"वास्तव में मैं इन्टीरियर डेकोरेटर तो हूं नहीं और न ही कोई बड़ा आर्ट कलक्टर या कोनिसर। किसी इम्पोरियम से कुछ खरीदा नहीं। बस एक प्रकार का फाइंडर हूं। जहां गया, जो पसंद आया, सस्ते दामों में मिल गई ले ली। कुछ मित्रों ने दे दीं। और जिसको जहां जगह मिली उसने वहीं बसेरा कर लिया।"

"आखिर कोई न कोई डिज़ाइन, मैंचिंग तो होनी चाहिए नाकि केआस।" नन्दिनी ने कहा।

"आप सही कहती हैं। मैंने दो-तीन बार इन्हें रंग, साइज़, बनावट, देशकाल, थीम के अनुसार रखने की कोशिश की थी। लेकिन इन्होंने प्रोटेस्ट किया कि हम खिलौने नहीं।" वह थोड़ी देर मौन रहा और फिर बोला–"यदि गौतम बुद्ध भगतसिंह से मृत्यु और मुक्ति के मसले पर बात करना चाहें तो भला मैं इन्हें कैसे रोक सकता हूँ।" परेश राय ने बड़ी गंभीरता से कहा जैसे वह स्थिर बेजान वस्तुओं के बारे में नहीं, सजीव चलते-फिरते लोगों की बात कर रहा है। थोड़ी देर हम खामोश रहे।

कमरे में ग्रामोफोन पर रिकॉर्ड अभी तक बज रहा था। बहुत मद्धिम-मद्धिम मधुर-मधुर सुरों में ··· कुंजन बन छांडी है। कहां जाऊं माधो। ··· जो मैं होती जल की मछली। ···

"यह किसकी आवाज़ है?" मैंने पूछा।

"दिलीप कुमार राय की।" उसने कहा।

"बड़ी मधुर आवाज़ है। भक्ति रस में डूबी हुई।" नन्दिनी ने कहा। हमने यह नाम नहीं सुना था और न ही यह आवाज़ पहले कभी सुनी थी। शायद कोई बहुत पुराना रिकार्ड था।

"कई वर्ष हुए संयोग से मेरी मुलाकात इनसे चण्डीगढ़ में हुई थी। जिस गेस्ट हाऊस में मैं ठहरा हुआ था उसी में वे भी थे। सफेद लम्बी दाढ़ी। मोटे शीशों वाला चश्मा। हाथ में बेंत की मोटी छड़ी। चेहरे पर वही भव्य आभा। वे मेरे कमरे के सामने से कई बार गुज़रे। मेरी इच्छा हुई कि इनसे मुलाकात करूं। फिर एक दिन मैंने उनसे पूछ ही लिया। वे दिलीप कुमार राय ही थे।" परेश राय ने एक तस्वीर दिखाई जिसमें वह, दिलीप कुमार राय, एक महिला और परेश का कोई मित्र था।

"लेकिन उनसे मेरी कोई बातचीत नहीं हुई। वह बिल्कुल मौन बैठे रहे। बार-बार मेरा मन मचल उठता कि इन होंठों को हिलते हुए, बोलते हुए, गाते हुए सुनूं। लेकिन ···।"

परेश राय कुछ उदास-सा हो गया।

"जब भी मैं उनका रिकार्ड बजाता हूं तो उनका वही चेहरा मेरे सामने आ जाता है। उनके होंठ हिलने लगते हैं। फिर वही आवाज़ का जादू जिसमें हर ठोस वस्तु पिघल कर तरल हो जाती है और आदमी उसमें डूब जाता है।" परेश राय किसी से सम्बोधित नहीं था। अपने आप से भी नहीं। वह जैसे उस आवाज़ की तरंगों पर तैर रहा था। उसने हमारी ओर देखा जैसे हम कोई अजनबी हैं। हाड़ मांस के व्यक्ति नहीं, परछाइयां हैं।

अचानक हमारी दृष्टि बिस्तर के साथ लगी दीवार पर लटकी तस्वीर पर पड़ गई। "यह किसकी तस्वीर है?" हमने पूछा।

"मेरी एक मित्र है। अर्पणा बिस्वास। हम सेंट स्टीफन में इकट्ठे पढ़ते थे। हालांकि उसका सब्जेक्ट साइंस था और मेरा सोशियोलोजी। एक दिन पता चला कि वह अपने दो साथियों के साथ कहीं चली गई है। बाद में मालूम हुआ कि वह किसी नक्सलाइट गिरोह में शामिल हो गई है और आन्ध्र प्रदेश, बिहार और मध्यप्रदेश के आदिवासी इलाकों में सक्रिय है। मुझे कुछ आश्चर्य अवश्य हुआ कि वह लड़की जो पक्षियों के अस्पताल में घायल पक्षियों की मरहम पट्टी करती थी कैसे 'पावर फ्लीज़ फ्राम दि बेरेल ऑफ दि गन' पर अमल करती होगी। वह जो इतने धीमे से बात करती थी कि केवल होंठ हिलते दिखाई देते थे लेकिन आवाज़ सुनाई नहीं देती थी। बारूद की गंध और शोर में कैसे सांस लेती होगी। दो-तीन वर्षों तक उसकी कोई ख़बर नहीं मिली। कुछ समय बाद उसका एक साथी वापस आ गया। उससे पता चला कि किसी ने उसकी हत्या कर दी है। लेकिन उसे भी मालूम नहीं था कि हत्या किसने की? बस इतना मालूम हुआ कि उसकी अपने गिरोह के साथियों से बड़ी गर्मागर्म बहसें होती थीं। और फिर पुलिस भी उसके पीछे थी। एन्काउंटर भी हो सकता है–असली या फेक। जिस इलाके में वह काम करती थी उसमें से भी कोई हो सकता है। बस यही पता चला कि उसका शव गांव के पास एक जंगल में मिला। पुलिस ने शव को लावारिस करार देकर जला दिया। कभी-कभी सोचता हूं कि यह सब कुछ कैसे क्यों कर हो गया। कर्म का दर्शन, दैवी परीक्षा, नियति या सफरिंग–कुछ समझ में नहीं आता।"

दिलीप कुमार राय की आवाज़ कब की रुक चुकी थी। लेकिन रिकार्ड अभी तक गर्दिश में था। बाहर बादल उमड़ आए थे। कमरे में अन्धेरा-सा छा रहा था। हवा में हल्की-सी ठंडक थी। थोड़ी देर में बूंदा-बांदी शुरू हो गयी। परेश राय खिड़की के पास खड़ा होकर बाहर देखने लगा। वह कुछ क्षण यूं ही खिड़की से लगकर बादलों को गहराते बरसते देखता रहा। फिर उसने अपने दोनों हाथ खिड़की से बाहर निकाले, अंजलि में पानी की बूंदें भरीं और अपने चेहरे को नम किया और खिड़की के पास आ गया। और चेहरे पर विचित्र-सी सरियलिस्ट कैफीयत थी। वह थोड़ी देर यूं ही स्पंदनशून्य खड़ा रहा। और फिर अचानक बोला–"यदि आप इजाज़त दें तो थोड़ी देर वर्षा में भीग लूं।" और फिर हमारे उत्तर की प्रतीक्षा किए बिना ही वह दरवाज़े से बाहर खुले में निकल गया और बांहें फैलाकर नाचने की-सी मुद्रा में टैरेस पर इधर-उधर थिरकने लगा। न जाने क्यों मेरी आंखों के सामने नाचते गाते चैतन्य महाप्रभु की तस्वीर घूमने लगी। थोड़ी देर बाद वह वापस आ गया। वह पूरी तरह भीग चुका था।

"मालूम नहीं वर्षा का पानी शरीर के मसामों में दाखिल होकर कहां गुम हो जाता है।" उसने कहा और कपड़े बदलने भीतर चला गया। थोड़ी देर बाद वह वापस आ गया। उसका चेहरा बहुत खिला-खिला-सा था। वह बहुत ताज़ा-सा दिखाई दे रहा था

और उसकी त्वचा नर्म-नर्म कच्ची-कच्ची सी लग रही थी जैसे अभी-अभी उसका जन्म हुआ हो।

"बचपन में जब मौसम की पहली वर्षा होती थी तो हम घरों से नंगधड़ंग बाहर निकल आते थे, नाचते थे, गाते थे-'बरस गई राम बदरिया कारी-हे राम! बरस गई···।' एक दूसरे पर पानी के छींटे फेंकते थे। कागज़ की नावें पानी में बहाते थे। खूब शोर मचाते थे। अब भी जब मौसम की पहली वर्षा होती है मैं जहां भी हूं, जिस हाल में हूं, वर्षा में ज़रूर नहाता हूं। मां कहा करती थी-जब ऋतु की पहली बरखा होती है, जब हवा में सुगंधि उड़ने लगती है, जब मिट्टी का रंग बदलने लगता है, जब पंख-पखेरुओं के पंखों में और अधिक गति और लय आ जाती है तो समझो कि ऋतु बदल रही है।"

"लेकिन आपने न कोई गीत गाया और न ही शोर मचाया।" नन्दिनी ने कहा।

"यदि आप मेरे साथ भीग रही होतीं तो गीत भी गाता और शोर भी मचाता।"

"चलिए गीत न सही वायलिन ही सही।" नन्दिनी ने कहा। परेश राय ने कैसेट प्लेयर में एक कैसेट लगाया। ऑन किया और वायलिन बजाना शुरू किया। तबले की थपथप से कमरा गूंजने लगा।

"यह ज़ाकिर हुसैन साहब का तबला वादन है। मैं वायलिन पर इनके साथ संगत करता हूं।" परेश राय ने बड़ी गंभीरता से कहा। उसकी उंगलियां जादुई मुद्रा में थिरक रही थीं। पुरानी यादें, गहरे स्याह बादल, मिट्टी का भूरा रंग, आधी रात खिले बेला की सुगंधि, पलाश की पत्तियों का कोमल स्पर्श, कच्चे बेरों का खट्टा-मीठा स्वाद, परिन्दों के पंखों की फड़फड़ाहट, ज़ाकिर हुसैन साहब की तबले की धड़कती तालें और परेश राय की वायलिन की सुरीली धुनें··· सृष्टि के सूक्ष्म रहस्य रेशम से धीरे-धीरे खुल-से रहे थे। हमारे गिर्द एक जादुई जाल बुनता चला जा रहा था। अचानक तबले की आवाज़ बंद हो गई। शायद कैसेट पूरा चल चुका था। कितना समय बीत गया। या शायद समय ठहर गया था। परेश राय ने वायलिन सिरहाने रख दी। कमरे में सन्नाटा-सा छा गया। बाहर बारिश लगातार हो रही थी। वातावरण में हल्की-सी धुंध सी छा गयी थी। बातों का सिलसिला टूट चुका था। जैसे ही बारिश रुकी, हमने परेश राय से इजाजत ली। वह हमें नीचे गेट तक छोड़ने आया।

थोड़ी-थोड़ी बूंदाबांदी फिर शुरू हो गई थी। कार के शीशों पर पानी की बूंदें रोशनी में मोतियों-सी चमक रही थीं। वाइपर काम नहीं कर रहा था। मेरा सारा ध्यान गाड़ी चलाने पर केन्द्रित था। और नन्दिनी इन सबसे बेखबर खिड़की के शीशों पर उंगलियों से साज़ बजा रही थी। और कुछ गुनगुना रही थी।

"क्या गाया जा रहा है।" मैंने पूछा।

"कुछ नहीं। बस यूं ही।"

"फिर भी।" मैंने कहा।

"मैं जब नौ-दस बरस की थी तो बड़ी अम्मा को गाते हुए सुनती थी। बस वही याद आ रहा है।"

"क्या सुनाती थीं?"

"बड़ी अम्मा गाया करती थीं। कुछ ज्यादा याद तो नहीं, थोड़ा-सा याद रह गया है–

अल्फी पहण अलख जगावां
अपणे पिया नू ढूंढ लियावां
मैं ते करके जोगन वाला वेस हादिया
मेरी दुखा वाली जिदंडी वेख हादिया।"

नन्दिनी यह कहकर मौन हो गई। रास्ते भर बूंदाबांदी होती रही। रास्ते भर वह मौन रही।

बस एक झटके के साथ रुक गई। यादों का तांता टूट गया। हमें यहीं उतरना था। बस से उतरकर सड़क पार करके मैं और परेश एक पगडंडी पर चल पड़े। पगडंडी के दोनों ओर छोटे-छोटे खेत थे जिन्हें जंगल काटकर बोया गया था। थोड़ी देर में ही हम गांव पहुंच गए। एक मकान के सामने आकर हम रुक गए। बाहर ही एक चबूतरानुमा बरामदे में एक वैद्यजी रोगियों को देख रहे थे। इस मकान में दो छोटे-छोटे कमरे थे। ईंटों का फर्श था। ताज़ा प्लस्तर की हुई दीवारें। खपरैल की छत। परेश राय ने वैद्य जी की चरण वंदना की और फिर एक कमरे में चला गया जहां एक युवा डाक्टर रोगियों को देख रहा था। दूसरे कमरे में लेडी डॉक्टर औरतों की जांच कर रही थी। मैं बाहर ही वैद्यजी के पास बैठ गया–सफेद गाढ़े की धोती, लाल रंग का कुर्ता। कुछ दिन की बढ़ी हुई दाढ़ी, सफेद बाल गर्दन तक बढ़े हुए। वह रोगियों से बातें भी करते जाते, दवा की पुड़ियां भी बांधते जाते–कभी कबित्त, कभी शब्द, कभी दोहे चौपाइयां भी सुनाते जाते। इतने में परेश राय कमरे से होकर आ गया। उसने कहा–पहले भोजन कर लें। फिर अगला प्रोग्राम तय करते हैं। रोगियों से फारिग होकर डॉक्टर पति-पत्नी भी आ गए। परेश राय ने बताया कि शहर में इनका बहुत बड़ा नर्सिंग होम है। वे उसके पुराने मित्र हैं। महीने में एक बार आते हैं। साथ में दवाएं, रोजमर्रा की वस्तुएं, बच्चों के खिलौने, टॉफियां, कपड़े, कापियां, किताबें, चित्र, आदि ले आते हैं।

"लेकिन यह सब कुछ आप कैसे कर लेते हैं?" मैंने पूछा।

"हमारे अपार्टमन्ट्स की एसोसिएशन यह सब काम करती है। सब कुछ एकत्रित हो जाता है पता भी नहीं चलता।" उन्होंने बताया।

आध घण्टे आराम करने के बाद परेश राय ने कहा कि वह थोड़ी देर के लिए कहीं जा रहा है। शाम से पहले ही लौट आएगा। मैंने कहा, मैं भी तुम्हारे साथ चलता हूं।

हम दोनों एक पगडंडी पर हो लिए। चलते-चलते हम गांव से बाहर निकल आए। और फिर हम एक जंगल में दाखिल हो गए। आगे कोई रास्ता नहीं था। कोई पगडंडी नहीं थी। हम पेड़ों के बीच रास्ता बनाते हुए चल रहे थे। हम एक नाले के साथ-साथ किनारे पर चल रहे थे। परेश राय बताता जाता कि यह कौन-सा पेड़-पौधा है—ढाक, पीपल, बांस, इमली, महुआ, बड़ ···। थोड़ी दूर जाकर वह रुक गया। एक पेड़ के गिर्द लाल धागा बंधा हुआ था। उसने अपना झोला उस पेड़ की टहनी पर लटका दिया और भूमि पर पड़े सूखे पीले पत्ते साफ करने लगा। उसने अपने झोले से एक बड़ी-सी मोमबत्ती निकाली और साफ की हुई भूमि पर एक पत्थर के सहारे रख दी। और फिर जंगली लाल गुलाब का फूल जलती हुई मोमबत्ती के साथ रख दिया। मैंने परेश राय की ओर प्रश्नसूचक दृष्टि से देखा।

"यह वह भूमि है जहां अर्पणा बिस्वास का शव मिला था।" उसने कहा। थोड़ी देर वह आंखें मूंदे घुटनों के बल बैठा रहा और फिर झोला उठाया और चुपचाप चल पड़ा। न जाने मेरे मस्तिष्क में यह प्रश्न कैसे आया। मैंने परेश राय से पूछा—"परेश! क्या तुम्हें ईश्वर में विश्वास है।" उसने मेरे प्रश्न का सीधा उत्तर नहीं दिया।

"इस रोशनी, इस मिट्टी के रंग, इस फूल की खुशबू से बाहर, इनसे दूर, इससे परे कोई ईश्वर है क्या?"

और फिर हम वापस गांव की ओर चल पड़े। बातों-बातों में नन्दिनी का ज़िक्र आ गया।

"बड़ी मुद्दत से उससे मुलाकात नहीं हुई। एक-दो बार उसकी बुटीक पर भी गया। लेकिन वह नहीं मिली।" मैंने कहा।

परेश राय ने कोई उत्तर नहीं दिया।

"मालूम नहीं आजकल कहां है वह?" मैंने फिर कहा।

"सुना है कोई किताब लिख रही है।" परेश राय ने कहा।

"क्या इन दिनों तुम्हारी मुलाकात उससे हुई है।" मैंने पूछा।

"काफी समय पहले एक बार विदेशी विज़िटर आए थे। उनके साथ उसकी बुटीक पर गया था।" उसने कहा।

लेकिन परेश राय ने यह नहीं बताया कि उसकी मुलाकात उससे हुई थी कि नहीं।

"परेश! एक बात पूछूं।" मैंने कहा।

"क्या?" उसने कहा।

"नन्दिनी से तुम्हारा क्या रिश्ता है?" मैंने कहा।

उसने मेरी ओर गौर से देखा और ज़ोर से हंस दिया।

"इसे समझने के लिए ही तो शायद वह किताब लिख रही है।" उसने कहा। और फिर सारे रास्ते कोई बात नहीं हुई।

थोड़ी देर में हम गांव वापस पहुंच गए।

गांव में औरतें और पुरुष एक छोटे से मैदान में एकत्रित हो रहे थे। पुरुषों ने अपने सिरों पर कौड़ियों, सींगों और पंखों के मुकुट पहन रखे थे। कुछ ने सिर पर लाल पीली सफेद पगड़ियां बांध रखी थीं और इनमें रंग-रंग के पंख लगा रखे थे। गले और बाहों पर तावीज़ बांधे हुए थे। कुछ औरतें पीतल की पतली चादर की टोपियां, मनके मोतियों के कमरबंद, कोड़ियों और मोंगों की मालाएं, कांसे, पीतल, गिलट के गहने पहने हुए थीं। औरतों के शरीर पर गूदने बने थे। उनके कांसा रंग शरीर का शायद ही कोई ऐसा अंग था जिस पर कोई न कोई चित्र न था · · · गालों, पिंडलियों, कलाइयों, छातियों पर, नाभि के इर्द-गिर्द, पीठ-कंधों, एड़ियों और पंजों पर फूल-पत्तियां, वृत्त, त्रिकोण, बिन्दु। और फिर बड़े-बड़े ढोलों पर थाप पड़ी। कुछ तुरही बजा रहे थे, कुछ सींग, कुछ शंख, कुछ बांसुरी। पुरुष और औरतें घेरा डालकर नाच रहे थे। मुझे उनके बोल समझ नहीं आ रहे थे। मैंने परेश राय से पूछा कि वे क्या गा रहे हैं। उसने कहा कि मुझे भी कुछ अधिक नहीं मालूम। लेकिन थोड़ा-बहुत समझ लेता हूं। शायद वे कह रहे हैं–'मेरा यह छोटा-सा गांव इतना प्यारा, इतना प्यारा है जैसा कि चन्द्रमा। मैं अपने गांव में खुश हूं। इसमें पेड़-पौधे और खुशियां पलती हैं। देवी मां सब खुशियों, सब फल-फूलों की खुशबू हर गांव में, हर घर में फैला दो।' ढोलों की आवाज़ पहाड़ियों से टकराकर पूरे गांव में गूंज रही थी। औरतें पुरुषों के घेरे के बीच में सर्प की भांति बलखाती निकल रही थीं। नृत्य की गति तेज़ हो रही थी। उनके गीतों का स्वर ऊंचा होता जा रहा था।

नृत्य की गति, ढोलों की गूंज, गीतों के बोल और खुर्दरे नंगे काले पांवों के नीचे उड़ती धूल–यह कैसी तिलिस्मी दुनिया थी।

और फिर धीरे-धीरे सब शान्त हो गया। शाम के साये बढ़ने लगे थे। अन्धेरा होने से पहले हम सड़क पर पहुंच जाना चाहते थे। परेश राय ने कहा कि वह दो-तीन दिनों बाद आएगा। मैं डॉक्टर पत्नी-पति के साथ उनकी मोबाइल मेडिकल वेन में वापस रेलवे स्टेशन पर पहुंच गया। और रात की गाड़ी से दिल्ली आ गया।

परेश राय से यह मेरी आखिरी मुलाकात थी।

इस बात को कई वर्ष बीत गए। मैं एक मल्टी नेशनल कम्पनी के एशिया रीजन का एग्जिक्यूटिव डायरेक्टर बनकर अमेरिका में सैटल हो गया हूं। इण्डिया केवल एक बार ही जा सका हूं–मां की मृत्यु पर। न परेश राय से ही मुलाकात हुई और न ही नन्दिनी शिवदासानी से ही मिल सका। एक दिन मैं एक बुकशॉप में पुस्तकें देख रहा था। मेरी दृष्टि एक पुस्तक पर पड़ी। पुस्तक का नाम कुछ विचित्र-सा था जैसा कि कई अंग्रेज़ी पुस्तकों का आजकल होता है। इस पुस्तक का नाम भी कुछ इसी प्रकार का था–'सिद्धार्थ ऐण्ड दि कल्चर आफ ड्रेस डिज़ाइनिंग।' मैंने पुस्तक को इधर-उधर से पलट कर देखा। मेरी दृष्टि इसके समर्पण पर पड़ गई–

'सिद्धार्थ की स्मृति में'

और इसके नीचे किसी कविता का एक अंश था–'सिद्धार्थ जब घर से निकलते हैं तो गौतम बनकर लौटते हैं।' (अमरजीत कौर)

और हां। इस पुस्तक के लिखनेवाले का नाम बताना तो मैं भूल ही गया। यानी नन्दिनी शिवदासानी। लेकिन सिद्धार्थ??? □

# कर्मनाशा की हार

**शिवप्रसाद सिंह**
(जन्म : सन् 1928 ई.)

काले सांप का काटा आदमी बच सकता है, हालाहल ज़हर पीने वाले की मौत रुक सकती है, किन्तु जिस पौधे को एक बार कर्मनाशा का पानी छू ले, वह फिर हरा नहीं हो सकता। कर्मनाशा के बारे में किनारे के लोगों में एक और विश्वास प्रचलित था कि यदि एक बार नदी बढ़ आये तो बिना मानुस की बलि लिये लौटती नहीं। हालांकि थोड़ी ऊंचाई पर बसे हुए नईडीह वालों को इसका कोई खौफ न था; इसी से वे बाढ़ के दिनों में, गेरू की तरह फैले हुए अपार जल को देखकर खुशियां मनाते, दो-चार दिन की यह बाढ़ उनके लिए तब्दीली बनकर आती, मुखिया जी के द्वार पर लोग-बाग इकट्ठे होते और कजली सावनी की ताल पर ढोलकें ठनकने लगतीं। गांव के दुधमुहें तक 'ई बाढ़ी नदिया जिया ले के माने' का गीत गाते क्योंकि बाढ़ उनके किसी आदमी का जिया नहीं लेती थी। किन्तु पिछले साल अचानक जब नदी का पानी समुद्र के ज्वार की तरह उमड़ता हुआ, नईडीह से जा टकराया, तो ढोलकें बह चलीं, गीत की कड़ियां मुरझाकर होठों में पपड़ी की तरह छा गईं, सोखा ने जान के बदले जान देकर पूजा की, पांच बकरों की दौरी भेंट हुई, किन्तु बढ़ी नदी का हौसला कम न हुआ। एक अन्धी लड़की, एक अपाहिज बुढ़िया बाढ़ की भेंट रहीं। नईडीह वाले कर्मनाशा के इस उग्र रूप से कांप उठे, बूढ़ी औरतों ने कुछ सुराग मिलाया। पूजा-पाठ कराकर लोगों ने पाप-शान्ति की।

एक बाढ़ बीती, बरस बीता। पिछले घाव सूखे न थे कि भादों के दिनों में फिर पानी उमड़ा। बादलों की छांव में सोया गांव भोर की किरण देखकर उठा तो सारा सिवान रक्त की तरह लाल पानी से घिरा था। नईडीह के वातावरण में हौलदिली छा गई। गांव ऊंचे अरार पर बसा था, जिस पर नदी की धारा अनवरत टक्कर मार रही थी, बड़े-बड़े पेड़ जड़ मूल के साथ उलट-उलट कर नदी के पेट में समा रहे थे, यह बाढ़ न थी, प्रलय का सन्देश था। नईडीह के लोग चूहेदानी में फंसे चूहे की तरह

भय से दौड़-धूप कर रहे थे, सबके चेहरे पर मुर्दनी छा गयी थी।

'कल दीनापुर में कड़ाह चढ़ा था पांडेजी,' ईसुर भगत हकलाते हुए बोला। कुंए की जगत से बाल्टी का पानी लिये जगेसर पांडे उतर रहे थे। घबड़ाकर बाल्टी सहित ऊपर से कूद पड़े।

'क्या कह रहे थे भगत, कड़ाह चढ़ा था, क्या कहा सोखा ने?' चौराहे पर छोटी-सी भीड़ इकट्ठी हो गई। भगत अपने शब्दों को चुभलाते हुए बोले : 'काशीनाथ की सरन, भाई लोगों, सोखा ने कहा कि इतना पानी गिरेगा कि तीन घड़े भर जायेंगे, आदमी-मवेशी की छय होगी, चारों ओर हाहाकार मच जायेगा, परलय होगी।'

'परलय न होगी, तब क्या बरक्कत होगी? हे भगवान, जिस गांव में ऐसा पाप करम होगा वह बहेगा नहीं, तब क्या बचेगा?' माथे के लुग्गे को ठीक करती हुई धनेसरा चाची बोलीं : 'मैं तो कहूं कि फुलमतिया ऐसी चुप काहे हैं। राम रे राम, कुतिया ने पाप किया, गांव के सिर बीता। उसकी माई कैसी सतवन्ती बनती थी। आग लाने गई तो घर में जाने नहीं दिया, मैं तो तभी छनगी कि हो न हो दाल में कुछ काला है। आग लगे ऐसी कोख में। तीन दिन की बिटिया और पेट में ऐसी घनघोर दाढ़ी!'

'कुछ साफ भी कहोगी भौजी', बीच में जगेसर पांडे बोले, 'क्या हुआ आखिर···?'

'हुआ क्या, फुलमतिया रांड़ मेमना लेके बैठी है। विधवा लड़की बेटा बियाकर सुहागिन बनी है।'

'ऐं कब हुआ···' सबकी आंखों में उत्सुकता के फफोले उभर आये। आगत भय से सबकी सांसें टंगी रह गईं। तभी मिर्चे की तरह तीखी आवाज़ में चाची बोलीं–'कोई आज की बात है? तीन दिन से सौरी में बैठी है डाइन। पाप को छाती से चिपकाये है, यह भी न हुआ कि गर्दन मरोड़कर गड़हे-गुच्ची में डाल दे।'

लोगों को परलय की सूचना देकर, हवा में उड़ते हुए आंचल को बरजोरी बस में करती चाची दूसरे चौराहे की ओर बढ़ चलीं, गांव का सारा आतंक, भय, पाप उनके पीछे कुत्ते की तरह दुम दबाये चले जा रहे थे। सबकी आंखों में नईडीह का भविष्य था, रक्त की तरह लाल पानी में चूहे की तरह ऊभ-चूभ करते हुए लोग चिल्ला रहे थे, मौत का ऐसा भयंकर स्वप्न भी शायद ही किसी ने देखा था।

## 2

भैरो पांड़े बैसाखी के सहारे अपनी बखरी के दरवाज़े में खड़े बाढ़ के पानी का ज़ोर देख रहे थे, अपार जल में बहते हुए सांप-बिच्छू चले जा रहे थे। मरे हुए जानवर की पीठ पर बैठा कौवा लहर के धक्के से बिछल जाता, भीगे चूहे पानी से बाहर निकलते तो चील झपट पड़ते। विचित्र दृश्य है–पांड़े न जाने क्यों बुदबुदाये। फिर

मिट्टी की बनी पुरानी बखरी की ओर देखा। पांड़े के दादा देस-दिहात के नामी-गिरामी पंडित थे, उनका ऐसा अकबाल था कि कोई किसी को सताने की हिम्मत नहीं करता था। उनकी बनवाई है यह बखरी। भाग की लेख कौन टारे। दो पुश्त के अन्दर ही सभी कुछ खो गया, मुट्ठी में बन्द जुगुनू हाथ के बाहर निकल गया और किसी ने जाना भी नहीं। आज से सोलह साल पहले मां-बाप एक नन्हा लड़का हाथ में सौंपकर चले गये, पैर से पंगु भैरो पांड़े अपने दो बरस के छोटे भाई को कन्धे से चिपकाये असहाय, निरवलम्ब खड़े रह गये—धन के नाम पर बाप का कर्ज़ मिला, काम-धाम के लिए दुधमुंहे भाई की देख-रेख, रहने के लिए बखरी; जिसे पिछली बाढ़ के धक्के ने एकदम जर्जर कर दिया है।

'अब यह भी न बचेगी'—पांड़े के मुंह से भवितव्य फूट रहा था, जिसकी भयंकरता पर उन्होंने ज़रा भी ख्याल करना ज़रूरी नहीं समझा। दरारों से भरी दीवालें उनके खुरदरे हाथों के स्पर्श से पिघल गईं, वर्षा का पानी पसीजकर हाथों में आंसू की तरह चिपक गया।

सनसनाती हवा गांव के इस छोर से उस छोर तक चक्कर लगा रही थी। विधवा फुलमतिया को बेटा हुआ है, बेटा—कुतिया के पाप से गांव तबाह हो रहा है, राम राम ··· ऐसा पाप ··· भैरो पांड़े के कानों में आवाज़ के स्पर्श से ही भयंकर पीड़ा पैदा हो गई। बैसाखी उनके शरीर के भार को संभाल न सकी और वे धम्म से चौकट पर बैठ गये। बाजू के धक्के से कुहनी छिल गई, चिनचिनाती कुहनी का दर्द उनके रोयें-रोयें में बिंध रहा था। और पांडे इस पीड़ा को होठों के बीच दबाने का प्रयत्न कर रहे थे।

'सब कुछ गया'—वे बुदबुदाये। कर्मनाशा की बाढ़ उनकी इस जर्जर बखरी को हड़पने नहीं, उनके पितामह की उस अमूल्य प्रतिष्ठा को हड़पने आई है जिसे अपनी इस विपन्न अवस्था में भी पांड़े ने धरती पर नहीं रखा। दुलार से पली वह प्रतिष्ठा सदा उनके कन्धे पर चढ़ी रही। 'मैं जानता था कि यह छोकरा इस खानदान का नाश करने आया है'--पांड़े की आंखों में उनके छोटे भाई की तस्वीर नाच उठी। अठारह वर्ष का छरहरा पानीदार कुलदीप, जिसकी आंखों में भैरों को मां की छाया तैरती नज़र आती, उसके काले काकुल को देखकर मुखिया जी कहते कि इस पर भैरो पांड़े की दादा की लौछार पड़ी है। पांड़े हो-हो कर हंस पड़ते। 'जा रे कुलदीप, बरामदे में बैठकर पढ़' भैरो पांड़े मन में बुदबुदाते—'तेरी आंख में सौ कुण्ड बालू, हरामी कहीं का, लड़के पर नज़र गड़ाता है, कुछ भी हुआ इसे तो भगवान कसम तेरा गला घोट दूंगा, बड़ा आया मुखिया जी, फिर जरा बढ़के बोलते—'क्या लौछार पड़ेगी मुखिया जी, दादा के पास तो पांच पछाहीं गायें थीं, एक से एक, दो थान दूह लें तो पंचसेरी बाल्टी भर जाती थी। यहां तो इस लौंडे को दूध पचता ही नहीं। फिर साल-बारह महीने हमेशा मिलता भी कहां है हम गरीबों को?'

'अब वह पुराने ज़माने की बात कहां रही पांड़े जी' मुखिया कहता और अपने संकेतों से शब्दों के मिर्चे की तिताई भरकर चला जाता। काले-काले काकुलों वाला नवजवान कुलदीप उसे फूटी आंखों नहीं सुहाता, किन्तु भैरो पांड़े के डर से वह कुछ कह न पाता।

भैरो पांड़े दिनभर बरामदे में बैठकर रुई से बिनौले निकालते, तूमते, सूत तैयार करते और अपनी तकली नचा-नचाकर जनेऊ बनाते, जजमानी चलाते, पत्रा देख देते, सत्यनारायण की कथा बांच देते, और इससे जो कुछ मिलता कुलदीप की पढ़ाई और उसके कपड़े-लत्ते आदि में खर्च हो जाता।

यह सब कुछ मर-मर कर किया था इसी दिन को—पांड़े की आंखों में प्यास छा गई, लड़के ने उन्हें किसी ओर का नहीं रखा। आज यहां आफत मची है, अपने पता नहीं कहां भागकर छिपा है।

'राम जाने कैसे हो' सूखी आंखों में दो बूंदें गिर पड़ीं, 'अपने से तो कौर भी नहीं उठा पाता था, भूखा बैठा होगा कहीं, बैठे—मरे, हम क्या करें!' पांड़े ने बैसाखी उठाई। बगल में चारपाई तक गये और धम्म से बैठ गये। दोनों हाथों में मुंह छिपा लिया और चुप लेटे रहे।

## 3

पूरबी आकाश पर सूरज दो लट्ठे ऊपर चढ़ आया था। काले-काले बादलों की दौड़-धूप जारी थी, कभी-कभी हल्की हवा के साथ बूंदें बिखर जातीं। दूर किनारों पर बाढ़ के पानी की टकराहट हवा में गूंज उठती। भैरों पांड़े उसी तरह चारपाई पर लेटे आंगन की ओर देख रहे थे। बीचों-बीच आंगन के तुलसी-चौरा था जो बरसात के पानी से कटकर खुरदरा हो गया था। पुराने पौधे के नीचे कई मासूम मरकती पत्तियों वाले छोटे-छोटे पौधे लहराने लगे थे। वर्षा की बूंदें पुराने पौधे की सख्त पत्तियों पर टकराकर बिखर जातीं, टूटी हुई बूंदों की फुहार धीरे से मासूम पौधों पर फिसल जाती, कितने आनंद-मग्न थे वे मासूम पौधे। पांड़े की आंखों के सामने कातिक की वह शाम भी नाच उठी। दो बरस पहले की बात होगी। शाम के समय जब वे बरामदे में लेटे थे, फुलमत आई, अपनी बाल्टी मांगने, सुबह भैरो पांड़े ले आये थे किसी काम से।

'कुलदीप, ज़रा भीतर से बाल्टी दे देना', कहा था पांड़े ने। सफेद साड़ी में लिपटी-लिपटाई गुड़िया की तरह फुलमत आंगन में इसी चौरे के पास आकर खड़ी हो गई थी। और बाल्टी उठाने के लिये जब कुलदीप झुका था तो फुलमत भी अपने दोनों हाथों से आंचल का खूंट पकड़कर तुलसी जी की बन्दना करने के लिए झुकी थी। कुलदीप के झटके से उठने पर वह उसकी पीठ से टकरा गई थी अचानक। तब न जाने दोनों मुस्करा उठे थे। भैरो पांड़े क्रोध से तिलमिला गये थे। वे गुस्से के मारे

चारपाई से उठे तो देखा कि कुलदीप बाल्टी लिये खड़ा था और फुलमत तुलसी-चौरे पर सिर रखकर प्रार्थना कर रही थी। न जाने क्यों पांड़े की आंखें भर आईं। बरसात के दिनों के बाद इस खुरदरे चौरे को उनकी मां पीली मिट्टी के लेवन से संवार देतीं, फिर श्वेत बलुई माटी से पोतकर सफेद कर देतीं। शाम को सूखे हुए चबूतरे पर घी के दीपक जलाकर माथा टेककर वे लड़कों के मंगल के लिए विनय करतीं। तब वे भी ऐसे ही झुककर आशीर्वाद मांगतीं और पांड़े बगल में चुपचाप खड़े दियों का जलना देखा करते थे।

पांड़े को सामने खड़ा देख कुलदीप हड़बड़ाया और फुलमत बाल्टी लेकर चुपचाप बाहर चली गई। पांड़े के चेहरे पर एक विचित्र भाव था, जिसे संभाल सकने की ताकत उन दोनों के मन में न थी, और दोनों ही भय की कम्पन लिए इधर-उधर भाग खड़े हुए थे।

बहुत दिनों तक पांड़े के चेहरे पर अवसाद का यह भाव बना रहा। कुलदीप डर के मारे उनकी ओर देख नहीं पाता, न तो पहले जैसी जिद कर सकने की हिम्मत होती, न तो हंसी के कलरव से घर के कोने-कोने को गुंजान बनाने का साहस। पांड़े ने अपने दिल को समझाया, इसे लड़कों का क्षणिक खिलवाड़ समझा। सोचा, धरती की छाती बड़ी कड़ी है। ठेस लगते ही सारी गुलाबी पंखुरियां बिखर जायेंगी, दोनों को दुनिया का भाव-ताव मालूम हो जायेगा।

पांड़े के रुख से फुलमत भी संशक हो गई थी, वह इधर कम आती। कुलदीप के उठने-बैठने, पढ़ने-लिखने पर पांड़े की कड़ी नज़र थी। वह किताब खोलकर बैठता तो दिये की टेम में श्वेत वस्त्रों में लिपटी फुलमत खड़ी हो जाती, पुस्तक के पन्ने खुले रह जाते और वह एकटक दिये की लौ की ओर देखता रह जाता। पांड़े को उसकी यह दशा देखकर बड़ा क्रोध आता, पर कुछ कहते नहीं।

'कुलदीप!' एक बार टोक भी दिया था–'क्या देखते रहते हो इस तरह, तबीयत तो ठीक है न!'

'जी', इतना ही कहा था कुलदीप ने, और फिर पढ़ने लग गया था। दिये की टेम कुलदीप के चेहरे पर पड़ रही थी, जिसके पीछे घने अन्धकार में लेटे पांड़े क्रोध, मोह और न जाने कितने प्रकार के भावों के चक्कर में झूल रहे थे। उन्हें फुलमत पर बेहद गुस्सा आता। टीमल मल्लाह की यह विधवा लड़की मेरा घर चौपट करने पर क्यों लगी है। पता नहीं कहां से बह-दहकर यहां आकर बस गये। कुलच्छनी, अब क्या चाहती है, बाप मरा, पति मरा, अब न जाने क्या करेगी! जाने कौन-सा मंत्र पढ़ दिया। यह कबूतर की तरह मुंह फुलाये बैठा रहता है। न पढ़ता है, न लिखता है। हंसना, खेलना, खाना सब भूल गया। पांड़े चारपाई से उतरकर इधर-उधर चक्कर लगाते रहे। पर कुछ निर्णय न कर सके।

समय बीतता गया। कुलदीप भी खुश नज़र आता। हंसता-खेलता। पांड़े की छाती

से चिन्ता का भारी पत्थर खिसक गया। एक बार फिर उनके चेहरे पर हंसी की आभा लोटने लगी। रूई-सूत का काम फिर शुरू हुआ। गांव के दो-चार उठल्ले-निठल्ले आकर बैठ जाते, दिन गपास्टक में बीत जाता। सुरती मल-मल ताल ठोंकते, और पिच् से थूककर किसी को गाली देते या निन्दा करते। इन सब चीजों से वास्ता न रखते हुए भी पांड़े सुनते जाते। उनका मन तो चक्कर खाती तकली के साथ ही घूमता रहता, हूं-हां करते जाते और निठल्लों की बातों में सन्नाटे को किसी तरह झेल ले जाते।

पांड़े उसी चारपाई पर लेटे थे। अन्तर इतना ही था कि दिन थोड़ा और ऊपर चढ़ आया था। लहरों की टकराहट थोड़ी और तेज़ हो गयी थी, रक्त की तरह खौलता हुआ लाल पानी गांव के थोड़ा और निकट आ गया था। उनकी नसें किसी तीव्र व्यथा से जल रही थीं। 'पांड़े के वंश में कभी ऐसा नहीं हुआ था'—वे फुसफुसाये। बगल की दीवार में ताखे पर रामायन की गुटका रखी थी; उन्होंने उठायी, एक जगह लाल निशान लगा था। पिछले दिनों कुलदीप रात में रामायन पढ़ा करता था। जब से वह गया है आज तक गुटका खुली नहीं। पांड़े के हाथ कांपे, गुटका उलटकर उनकी छाती पर गिर पड़ी। उठाकर खोला, वही लाल निशान—

कह सीता भा विधि प्रतिकूला।<br>
मिलइ न पावक मिटइ न सूला।।<br>
सुनहु विनय मम विटप असोका।<br>
सत्य नाम करु हरु मम सोका।।

पांड़े की आंखें भरभरा आईं। झरझर आंसू गिरने लगे। हिचकी लेकर वे टूट पड़े। 'यह चुड़ैल मेरा घर खा गई'—शब्द फूटे, किन्तु भीतर घुमड़कर रह गये। 'गाली देने से ही क्या होगा अब, इतने तक रहता तो कोई बात थी, आज उसे बच्चा हुआ है, कहीं कह दे कि लड़का कुलदीप का है तो ··· नहीं, नहीं, ऐसा नहीं हो सकता' पांड़े बड़बड़ाये, उन्होंने अपने बालों को मुट्ठियों से कसकर खींचा, जैसे इनकी जड़ में पीड़ा जम गई है, खींचने से थोड़ी राहत मिलेगी। वे उठना चाहते थे, किन्तु उठ न सके। आंखों के सामने चिनगारियां टूटने लगीं। उन्हें आज मालूम हुआ कि वे इतने कमज़ोर हो गये हैं। कुलदीप के जाने के बाद से आज तक उनका जीवन अव्यवस्था की एक कहानी बनकर रह गया है। चार-पांच महीने से कुलदीप भागा है, पहले कई दिनों तक वे ज़रूर बहुत बेचैन थे, किन्तु समय ने उस दुःख को भुलाने में मदद की थी। आज फिर कुलदीप उनकी आंखों के सामने आकर खड़ा हो गया। बीती घटनाएं एक-एक कर आंखों के सामने नाचने लगीं।

फागुन का आरंभ था। मुखिया जी की लड़की की शादी थी। गांव भर में खुशी छाई रहती, जैसे सबके घर शादी होने वाली हो। शादी के दिन तो गांव वालों में बनने-संवरने की होड़ लग गई। सब लोग पट्टी कटा रहे थे, शौकीनों की पट्टी चार-चार अंगुल चौड़ी, छुरे से बनी थी। कुंए की जगत पर दोपहर के दो घंटे पहले

से भीड़ लगी थी, और अब दो बजने को आये, साबुन लग रही थी, पैरों में जमी मैल सिकड़े से रगड़-रगड़ कर छुड़ाई जा रही थी।

बारात आई। द्वार-पूजा की शोभा का क्या कहना? बनारस की रंडी नाचने आई थीं। छैल-छबीलों की भीड़ जम गई थी। शाम को महफिल जमी। मुखिया जी का दरवाजा आदमियों से खचाखच भरा था। एक ओर गली में सिमटकर औरतें बैठी हुई थीं। गांव की लड़कयां, बूढ़ियां और कुछ मनचली बहुएं। बाई जी आईं। अपना ताम-जाम फैलाकर बैठ गईं। सारंगी लेकर बूढ़े मियां ने किन-किन किया, बाई जी ने अलाप के बाद एक गीत गाया।

महफिल से बहुत दूर, गांव के छोर पर आमों के पेड़ों पर फागुन के पीले चांद की छाया फैली थी। जिसके नीचे चितकबरे के चाम की तरह फैली चांदनी में एक प्रश्न उठा; 'मुखिया जी की महफिल में पतुरिया ने जो गीत गाया था, कितना सही था।'

'कौन-सा गीत?'

'ये दोनों नैना बड़े बेदरदी ···'

'धत्!'

'उस दिन मैं बड़ी देर तक इन्तज़ार करता रहा।'

'मेरी मां के सर में दर्द था।'

'कौन है? ज़ोर की आवाज़ गूंज उठी थी।

पास की गली में एक छाया खो गई थी।

'कौन है?' फिर आवाज़ आई थी।

'मैं हूं कुलदीप।'

'यहां क्या कर रहे हो?'

'नदी की ओर चला गया था।'

'इस समय?'

'पेट में दर्द था।'

क्रोध की हालत में भी भैरो पांड़े मुस्करा उठे थे—झूठे, पेट में दर्द था या कि आंख में! कुलदीप का सिर लज्जा से झुक गया था। उसे लगा जैसे एक क्षण का यह भयप्रद जीवन उसकी आत्मा पर सदा के लिए छा जायेगा। एक क्षण के लिए बोला हुआ यह झूठ उसके सारे जीवन को झूठा साबित कर देगा। एक क्षण के लिए झुका यह माथा फिर कभी न उठ सकेगा। वह झूठ के इस पर्दे को फाड़ डालना चाहता था, किन्तु ···'कुलदीप!' भैरो पांड़े ने आहिस्ते-आहिस्ते कहा : 'तुम गलत रास्ते पर पांव रख रहे हो बेटा, तुमने कभी अपने बाप-दादों की इज़्ज़त के बारे में भी सोचा है? बड़े पुण्य के बाद इस घर में जन्म मिला है भाई इसे कभी मत भूलना कि अच्छे घर में जन्म लेने से कोई बहुत बड़ा नहीं हो जाता, किन्तु इस अवसर को गलत कहकर

नीचे गिरने से बड़ा पाप और कोई नहीं है।' कुलदीप को लगा कि तीखे कांटों वाली कोई जीवित मछली उसके गले में फंस गई है, गरदन को चीरती हुई यदि वह निकल जाये तो भी गनीमत, किन्तु यह असह्य पीड़ा तो नहीं सही जाती और न जाने क्यों वह हिचकियों में फूट-फूटकर रो उठा था। भाई के मन की पीड़ा की कल्पना भी उसके लिए कष्टकर थी, किन्तु उसकी आत्मा अपने सम्पूर्ण भाव से जिस वस्तु को वरेण्य समझती है, उसे वह एकदम ही व्यर्थ कैसे कह दे! जिस छाया में न जाने क्यों उसे एक अजाने आनन्द का अनुभव होता है, उसे कालिख कह सकना उसके वश की बात नहीं थी, और इस कष्ट के भार को उसकी आंखें संभाल न सकीं। भैरो पांड़े भी भाई से लिपट गये थे। उसकी पीठ सहला रहे थे और उसे बार-बार चुप हो जाने को कह रहे थे, 'यदि कोई देख ले, तो' उनके मन में आया और वे कुलदीप को जल्दी-जल्दी खींचते हुए एक ओर चले गये।

आंसुओं में जो पश्चात्ताप उमड़ता है, वह दिल की कलौंज को मांज डालता है। पांड़े ने सोचा था कि कुलदीप अब ठीक रास्ते पर आ जायेगा। उनके वंश की मर्यादा अपमान के तराजू पर चढ़ने से बच जायेगी, भूखों रहकर भी पांड़े ने इज़्ज़त के जिस बिरवे को खून से सींचकर तरोताजा रखा है उसपर किसी के व्यंग-कुठार नहीं चलेंगे। किन्तु एक महीना भी नहीं बीता कि कुलदीप फिर उसी रास्ते पर चल पड़ा। छोटे भाई के इस कार्य को छिपकर देखने की पापाग्नि में भैरो पांड़े अपनी आत्मा को जलते हुए देखते, किन्तु वे विवश थे।

चैत के दिनों में गर्मी से जली-तपी कर्मनाशा किनारे के नीचे सिमट गई थी। नदी के पेट में दूर तक फैले हुए लाल बालू का मैदान, चांदनी में सीपियों के चमकते हुए टुकड़े, सामने के ऊंचे अरार पर घन-पलास के पेड़ों की आरक्त पांतें, बीच में घूग्घू, चाहों और जलविहार करने वाले पक्षियों का स्वर ··· कगार से नदी तीर तक बने हुए छोटे-बड़े पैरों के निशानों की दो पंक्तियां ··· सिर्फ दो।

'तुम मुझे मझधार में लाकर छोड़ तो नहीं दोगे?' घुटन और शंका में खोये हुए धीमे स्वर। श्यामा की चीरती दर्द भरी आवाज़।

एक चुप्पी, फिर हकलाती आवाज़, 'मैं अपना प्राण दे सकता हूं, किन्तु ··· तुमको ··· कभी नहीं ···?

चांदनी की झीनी परतें सघन होती जा रही थीं, सुनसान किनारे पर भटकी हवा की सनसनाहट में आवाज़ों का अर्थ खो जाता, कभी हल्के हास्य की नर्म ध्वनि, कभी आक्रोश के बुलबुले, कभी उल्लास तरंग, कभी सिसकियों की सरसराहट ···

भैरो पांड़े एक बार चांदनी के इस पवित्र आलोक में अपनी क्रूरता और निर्ममता पर विचार करने के लिए रुक गये, तो क्या आज तक का उनका सारा प्रयत्न निष्फल था? क्या वे असाध्य को संभव बनाने का ही प्रयत्न करते रहे? एक क्षण के लिए भैरो पांड़े ने सोचा–काश, फुलमत अपनी ही जाति की होती, कितना अच्छा होता कि वह

विधवा न होती ··· तुलसी चौरे की बन्दना पांड़े के मस्तिष्क में चन्दन की सुगंध की तरह छा गई। उसका रूप, चाल-चलन, संकोच सब कुछ किसी को भी शोभा देने लायक था। एक क्षण के लिए उनकी आंखों के सामने सफेद साड़ी में लिपट फुलमत की पतली-दुबली काया हाथ जोड़कर खड़ी हो गई, जैसे वह आंचल फैलाकर आशीर्वाद मांग रही हो। भैरो पांड़े बिजड़ित खड़े थे, विमूढ़।

'यह असंभव है', पांड़े ने बैसाखी संभाली और नीचे की ओर लपके।

'कुलदीप!' बड़ी कर्कश आवाज़ थी पांड़े की।

दोनों सिर झुकाये सामने खड़े थे, आज पहली बार पाप की साक्षी में दोनों समवेत दिखायी पड़े थे?' पांड़े फिर एक क्षण के लिए चुप हो गये।

'मैं पूछता हूं, यह सब क्या है?' पांड़े चिल्लाये, 'इतने निर्लज्ज हो तुम दोनों!' पांड़े बढ़कर सामने आये, फुलमत की ओर मुंह फेरकर बोले, 'तू इसकी ज़िन्दगी क्यों बिगाड़ना चाहती है? क्या तू नहीं जानती कि तू जो चाहती है वह स्वप्न में भी नहीं हो सकता, कभी नहीं, कभी नहीं।'

फुलमत चुप थी, पांड़े दूने क्रोध से बोले, 'चुप क्यों है चुड़ैल, बोलती क्यों नहीं?'

'मैं क्या इनकी जिन्दगी बिगाडूंगी दादा!' –वह सहसा एकदम निचुड़ गई, 'मैंने तो इन्हें कई बार मना किया ···।'

'कुलदीप!' पांड़े दहाड़े, 'सीधे रास्ते पर आ जाओ, अच्छा होगा। तुमने भैरो का प्यार देखा है क्रोध नहीं; जिन हाथों से मैंने पाल-पोसकर बड़ा किया है उसी से तुम्हारा गला घोंटते मुझे देर न लगेगी।'

'दादा', कुलदीप हकलाया, 'हम दोनों ···'

'पापी, नीच ···' भैरो के हाथ की पांचों अंगुलियां कुलदीप के चेहरे पर उभर आईं, 'मैं सोचता था तू ठीक हो जायेगा', पांड़े क्रोध से कांप रहे थे, 'लेकिन नहीं, तू मेरी हत्या करने पर तुल ही गया है?' वे फुलमत की ओर घूमकर चिल्लाये–'क्या खड़ी है डायन! भाग, नहीं तो तेरा गला घोंटकर इसी पानी में फेंक दूंगा।'

अन्धड़ को पीते हुए तृषित सांप जैसा स्वर–'यह सब मैंने किया था।' पांड़े चारपाई पर घायल सांप की तरह तड़फड़ते हुए बुदबुदाये। उनकी छाती से सरककर रामायण की गुटका ज़मीन पर गिर पड़ी और उस पवित्र आराध्य वस्तु को उठाने का उन्हें ध्यान न रहा। कुलदीप दूसरे ही दिन लापता हो गया। पांड़े अपनी बैसाखी के सहारे दिन-भर गांव-गिरांव की खाक छनते फिरे। तीन दिन तीन रात बिना अन्न-जल के वे पागल की तरह कुलदीप को ढूंढ़ते फिरे, किन्तु वह नहीं मिला। थककर, हारकर पांड़े वापस आ गये। बाप-दादों की इज़्ज़त की प्रतीक इतनी लम्बी विशाल बखरी, जिसकी दीवालें मुंह दबाये शान्त, पुजारी के तप की तरह अडिग खड़ी थीं, किन्तु कितनी सुनसान, डरावनी, निष्प्राण पिंजर की तरह लगती थी यह बखरी। चौकठ पर पैर रखते हुए पांड़े की आत्मा कराह उठी–'चला गया!' बैसाखी रखकर पांड़े आंगन

के कोने में बैठ गये–'अब वह कभी नहीं लौटेगा।'

रात में उन्हें बड़ी देर तक नींद नहीं आई। कुलदीप को बचपन से लेकर आज तक उन्होंने कभी अपनी आंख की ओट नहीं होने दिया। छुटपन से लेकर आज तक खिलाया, पिलाया, पाला-पोसा और आज लड़का दगा देकर निकल गया। पांड़े अधरों की मेड़ के पीछे बिथा के शैलाब को रोकने का असफल प्रयत्न करते रहे।

## 4

भोर होने में देर थी, उनींदी आंखें करुआ रही थीं, किन्तु मन की जलन के आगे उस दर्द का क्या मोल! पांड़े उठकर टहलने लगे। सामने की बंसवार के भीतर से पूरबी क्षितिज पर ललछौहां उजास फूटने लगा था। गली की मोड़ के कच्चे मकान के भीतर से जांत की घर्र-घर्र गूंज रही थी। एक घुमड़ता गरगराहट का स्वर, जिसके पीछे जांतवाली के कंठ की व्यथा की एक सुरीली तान टूट-टूटकर कौंध उठती थी।

मोहे जोगिनी बनाके कहां, गइले रे जोगिया।

पांड़े एक क्षण अवाक् होकर इस दर्दीले गीत को सुनते रहे। पियासे, भूले-भटके, थके हुए स्वर, पांड़े की आत्मा में जैसे समान वेदना को पहचानकर उतरते चले जा रहे हों।

'अब रोने चली है चुड़ैल' पांड़े पागल की तरह बड़बड़ाते रहे–'रो-रोकर मर, मैं क्या करूँ!'

बाढ़ के लाल पानी में सूरज डूब रहा था, पांड़े बैसाखी के सहारे आकर दरवाज़े पर खड़े हुए, नदी की ओर आदमियों की भीड़ खड़ी थी। वे धीरे-धीरे उधर ही बढ़े। सामने तीन-चार लड़के अरहर की खूटियां गाड़कर पानी का बढ़ाव नाप रहे थे।

'क्या कर रहा है रे छबीला', पांड़े बलात् चेहरे पर मुस्कराहट का भाव लाकर बोले।

'देखता नहीं लंगड़ा, बाढ़ रोक रहे हैं।'

पांड़े मुस्कराये–जैसा बाप वैसा बेटा। तेरा बाप भी खूंटियां गाड़कर कर्मनाशा की बाढ़ रोकना चाहता है।

'वह भीड़ कैसी है रे छबीले?'

'नहीं जानते, फुलमत को नदी में फेंक रहे हैं, उसके बच्चे को भी, उसने पाप किया है', छबीला फिर गंभीर खड़े पांड़े से सटकर बोला : 'क्यों पांड़े चाचा, जान लेकर बाढ़ उतर जाती है न?'

'हां, हां' पांड़े आगे बढ़े। बोतल की टीप खुल गई थी। पांड़े के मन में भयानक प्रेत खड़ा हो गया। 'चलो, न रहेगी बांस, न बजेगी बांसुरी। हुं, चली थी पांड़े के वंश में कालिख पोतने। अच्छा ही हुआ कि वह छोकरा भी आज नहीं है···।'

फुलमत अपने बच्चे को छाती से चिपकाये टूटते हुए अरार पर एक नीम के तने

से सटकर खड़ी थी। उसकी बूढ़ी मां जार-बेजार रो रही थी, किन्तु आज जैसे मनुष्य ने पसीजना छोड़ दिया था, अपने-अपने प्राणों का मोह इन्हें पशु से भी नीचे उतार चुका था, कोई इस अन्याय के विरुद्ध बोलने की हिम्मत नहीं करता था। कर्मनाशा को प्राणों की बलि चाहिए। बिना प्राणों की बलि लिये बाढ़ नहीं उतरेगी ··· फिर उसकी बलि क्यों न दी जाये, जिसने पाप किया ··· पर साल जान के बदले जान दी गई, पर कर्मनाशा दो बलि लेकर ही मानी ··· त्रिशंकु के पाप की लहरें किनारों पर सांप की तरह फुफकार रही थीं। आज मुखिया का विरोध करने का किसी में साहस न था। उसके नीचता के कार्यों का ऐसा समर्थन कभी न हुआ था। 'पता नहीं किस बैर का बदला ले रहा है बेचारी से।' भीड़ में कई इस तरह सोचते, ऐसा तो कभी नहीं हुआ था, किन्तु कौन बोले, सब मुंह सिये खड़े थे ···।

'तुम्हारी क्या राय है भैरो पांड़े?' मुखिया बोला, 'सारे गांव ने फैसला कर दिया—एक के पाप के लिए सारे गांव को मौत के मुंह में नहीं झोंक सकते। जिसने पाप किया है उसका दंड भी वही भोगे ···'

एक बीभत्स सन्नाटा। पांड़े ने आकाश की ओर देखा, आगे बढ़े, फुलमत भय से चिल्ला उठी। पांड़े ने बच्चे को उसकी गोद से छीन लिया। 'मेरी राय पूछते हो मुखिया जी? तो सुनो, कर्मनाशा की बाढ़ दुधमुंहें बच्चे और एक अबला की बलि देने से नहीं रुकेगी, उसके लिए तुम्हें पसीना बहाकर बांधों को ठीक करना होगा ··· कुलदीप कायर हो सकता है, वह अपने बहू-बच्चे को छोड़कर भाग सकता है, किन्तु मैं कायर नहीं हूं; मेरे जीते-जी बच्चे और उसकी मां का कोई बाल भी बांका नहीं कर सकता ··· समझे!'

'तो यह है बूढ़े पांड़े की बहू!' मुखिया व्यंग्य से बोला : 'पाप का फल तो भोगना ही होगा पांड़े जी, समाज का दंड तो झेलना ही होगा।'

'ज़रूर भोगना होगा मुखिया जी ··· मैं आपके समाज को कर्मनाशा से कम नहीं समझता। किन्तु, मैं एक-एक के पाप गिनाने लगूं तो यहां खड़े सारे लोगों को परिवार समेत कर्मनाशा के पेट में जाना पड़ेगा ··· है कोई तैयार जाने को ··· ?'

लोग अवाक् पांड़े की ओर देख रहे थे जो अपने कंधे से छोटे-बच्चे को चिपकाए अपनी बैसाखी के सहारे खड़े थे, पत्थर की विशाल मूर्ति की तरह उन्नत, प्रशस्त, अटल ··· कर्मनाशा के लाल पानी में सूरज डूब रहा था।

जिन उद्धत लहरों की चपेट से बड़े-बड़े विशाल पीपल के पेड़ धराशायी हो गये थे, वे एक टूटे नीम के पेड़ से टकरा रही थीं, सूखी जड़ें जैसे सख्त चट्टान की तरह अडिग थीं, लहरें टूट-टूटकर पछाड़ खाकर गिर रही थीं। शिथिल ··· थकी ··· पराजित ··· □

# परिन्दे

## निर्मल वर्मा

(जन्म : सन् 1929 ई.)

अँधेरे कॉरीडोर में चलते हुए लतिका ठिठक गयी। दीवार का सहारा लेकर उसने लैम्प की बत्ती बढ़ा दी। सीढ़ियों पर उसकी छाया एक बेडौल कटी-फटी आकृति खींचने लगी। सात नम्बर कमरे से लड़कियों की बातचीत और हँसी-ठहाकों का स्वर अभी तक आ रहा था। लतिका ने दरवाजा खटखटाया। शोर अचानक बन्द हो गया।

"कौन है?"

लतिका चुप खड़ी रही। कमरे में कुछ देर तक खुसर-पुसर होती रही, फिर दरवाज़े की चटखनी के खुलने का स्वर आया। लतिका कमरे की देहरी से आगे बढ़ी; लैम्प की झपकती लौ में लड़कियों के चेहरे सिनेमा के परदे पर 'क्लोज़-अप' की भाँति उभरने लगे।

"कमरे में अँधेरा क्यों कर रखा है?" लतिका के स्वर में हल्की-सी झिड़की का आभास था।

"लैम्प में तेल ही खत्म हो गया, मैडम!" यह सुधा का कमरा था, इसलिए उसे ही उत्तर देना पड़ा। होस्टल में शायद वह सबसे अधिक लोकप्रिय थी, क्योंकि सदा छुट्टी के समय या रात को डिनर के बाद आसपास के कमरों में रहने वाली लड़कियों का जमघट उसी के कमरे में लग जाता था। देर तक गप-शप, हँसी-मज़ाक रहता।

"तेल के लिए करीमुद्दीन से क्यों नहीं कहा?"

"कितनी बार कहा, मैडम, लेकिन उसे याद रहे तब तो!"

कमरे में हँसी की फुहार एक कोने से दूसरे कोने तक फैल गयी। लतिका के कमरे में आने से अनुशासन की जो घुटन घिर आयी थी, वह अचानक बह गयी। करीमुद्दीन होस्टल का नौकर था; उसके आलस और काम में टालमटोल करने की किस्से-कहानियाँ होस्टल की लड़कियों में पीढ़ी-दर-पीढ़ी चली आती थीं।

लतिका को हठात् कुछ स्मरण हो आया। अँधेरे में लैम्प घुमाते हुए उसने चारों ओर

निगाहें दौड़ायीं। कमरे में चारों ओर घेरा डालकर वे बैठी थीं—पास-पास, एक-दूसरे के समीप, एक-दूसरे से सटकर। सबके चेहरे परिचित थे किन्तु लैम्प के पीले मद्धिम प्रकाश में जैसे कुछ बदल गया था, जैसे वह उन्हें पहली बार देख रही थी।

"जूली, अब तुम इस ब्लॉक में क्या कर रही हो?" जूली खिड़की के पास पलंग के सिरहाने पर बैठी थी। उसने चुपचाप आँखें नीची कर लीं। लैम्प का प्रकाश चारों ओर से सिकुड़कर अब केवल उसके चेहरे पर गिर रहा था।

"नाइट-रजिस्टर पर दस्तखत कर दिये?"

"हाँ, मैडम!"

"फिर···?" लतिका का स्वर कड़ा हो आया। जूली सकुचाकर खिड़की के बाहर देखने लगी।

जब से लतिका इस स्कूल में आयी है उसने अनुभव किया है कि होस्टल के इस नियम का पालन डाँट-फटकार के बावजूद भी नहीं किया जाता। नाइट-रजिस्टर पर दस्तखत करने के बाद अपना ब्लॉक छोड़ने पर कड़ी पाबन्दी है, किन्तु किसी-न-किसी बहाने से प्रत्येक लड़की इसका उल्लंघन करती है।

"मैडम, कल से छुट्टियाँ शुरू हो जायेंगी, इसलिए आज रात हम सबने मिलकर···" और सुधा पूरी बात न कहकर हेमन्ती की ओर देखते हुए मुस्कराने लगी।

"हेमन्ती के गाने का प्रोग्राम है, आप भी कुछ देर बैठिए न, मैडम!"

लतिका खिसियानी-सी हो आयी। इस समय यहाँ आकर उसने इनके मज़े को किरकिरा कर दिया है।

इस छोटे-से हिल-स्टेशन पर रहते आज उसे अरसा हो गया, किन्तु कब समय पतझड़ और गरमियों का घेरा पार करके सर्दियों की छुट्टियों की गोद में सिमट जाता है, उसे कभी याद नहीं रहता।

चोरों की तरह चुपचाप उसने अपने पाँव देहरी से बाहर कर लिये। उसके चेहरे का तनाव ढीला पड़ गया। वह मुस्कराने लगी।

"मेरे संग 'स्नो-फॉल' देखने कोई नहीं ठहरेगा?"

"मैडम, छुट्टियों में क्या आप घर नहीं जा रहीं?" सब लड़कियों की आँखें उस पर जम गयीं।

"अभी कुछ पक्का नहीं है; आई लव द स्नो-फॉल!"

लतिका को लगा, यही बात उसने पिछले साल भी कही थी, और शायद पिछले से पिछले साल भी। उसे लगा मानो लड़कियाँ उसे सन्देह की दृष्टि से देख रही हैं, जैसे उन्होंने उसकी बात पर विश्वास नहीं किया। उसका सिर चकराने लगा, मानो बादलों का स्याह झुरमुट किसी अनजाने कोने से उठकर उसे अपने में डुबो लेगा। वह थोड़ा-सा हँसी, फिर धीरे-से सिर को झटक दिया।

"जूली, तुमसे कुछ काम है, अपने ब्लॉक में जाने से पहले मुझसे मिल लेना। वेल,

गुडनाइट!" लतिका ने अपने पीछे दरवाज़ा बन्द कर दिया।

"गुडनाइट मैडम, गुडनाइट, गुडनाइट . . ."

कॉरीडोर की सीढ़ियाँ न उतरकर लतिका रेलिंग के सहारे खड़ी हो गयी।

लैम्प की बत्ती को नीचे घुमाकर कोने में रख दिया। बाहर धुन्ध की नीली तहें इतनी घनी हो चली थीं कि उन्हें चाकू से छीला जा सकता था। लॉन पर लगे हुए चीड़ के पत्तों की सरसराहट हवा के झोंकों के संग कभी तेज़, कभी धीमी होकर भीतर बह आती थी। हवा में कुनकुनी सरदी का आभास पाकर लतिका के मस्तिष्क में कल से आरम्भ होने वाली छुट्टियों का ध्यान भटक आया। उसने आँखें मूँद लीं। उसे लगा जैसे उसकी टाँगें बाँस का लकड़ियों-सी उसके शरीर से बँधी हैं, जिसकी गाँठें धीरे-धीरे खुलती जा रही हैं। सिर की चकराहट अभी मिटी नहीं थी, किन्तु अब जैसे वह भीतर न होकर बाहर फैली धुन्ध का भाग बन गयी थी।

सीढ़ियों पर बातचीत का स्वर सुनकर लतिका सोती हुई-सी जाग गयी। शॉल को कन्धों पर समेटकर उसने लैम्प उठा लिया। डॉक्टर मुकर्जी मि॰ ह्यू बर्ट के संग एक अंग्रेज़ी धुन गुनगुनाते हुए ऊपर आ रहे थे। सीढ़ियों पर अंधेरा था, और ह्यू बर्ट को बार-बार अपनी छड़ी से रास्ता टटोलना पड़ता था। लतिका ने दो-चार सीढ़ियाँ उतरकर, लैम्प नीचे झुका दिया।

"गुड ईवनिंग, डॉक्टर! गुड ईवनिंग, मिस्टर ह्यू बर्ट!"

"थैंक्यू, मिस लतिका!" ह्यू बर्ट के स्वर में कृतज्ञता का भाव था। सीढ़ियाँ चढ़ने से उसकी साँस तेज़ हो गयी थी और वह दीवार से सटा हुआ हाँफ रहा था। लैम्प के प्रकाश में उसके चेहरे का पीलापन ताम्रवर्णित हो आया था, जिनपर उभरी हुई हड्डियों का उतार-चढ़ाव अधिक तीखा-सा हो गया था।

"यहाँ अकेली क्या कर रही हो, मिस लतिका?" डॉक्टर ने होंठों के भीतर से सीटी बजायी।

"चेकिंग करके लौट रही थी। आज इस समय ऊपर कैसे आना हुआ, मिस्टर ह्यू बर्ट?"

ह्यू बर्ट ने मुस्कराकर अपनी छड़ी डॉक्टर के कन्धों से छुआ दी, "इनसे पूछो, यही मुझे ज़बरदस्ती घसीट लाये हैं।"

"मिस लतिका, हम आपको निमन्त्रण देने आ रहे थे। आज रात मेरे कमरे में एक छोटा-सा 'कन्सर्ट' होगा, जिसमें मिस्टर ह्यू बर्ट शोपाँ और चेखोवस्की के कम्पोज़ीशन बजाएँगे; फिर क्रीम-कॉफी पी जायेगी। उसके बाद यदि समय रहा, तो पिछले साल हमने जो गुनाह किये हैं, उन्हें सब मिलकर 'कन्फैस' करेंगे।" डॉक्टर मुकर्जी के चेहरे पर शरारतभरी मुस्कान खिल गयी।

"डॉक्टर, मुझे माफ करें, मेरी तबीयत कुछ ठीक नहीं है।"

"चलिए, यह ठीक रहा; फिर तो आप वैसे भी मेरे पास आतीं।" डॉक्टर ने धीरे से लतिका के कन्धे को पकड़कर अपने कमरे की ओर मोड़ दिया।

डॉक्टर मुकर्जी का कमरा ब्लॉक के दूसरे सिरे पर टैरेस से जुड़ा हुआ था। वह आधे बर्मी थे, जिनके चिह्न उनकी तनिक दबी हुई नाक और छोटी-छोटी चंचल आँखों से लक्षित हो जाते थे। बर्मा पर जापानियों का आक्रमण होने पर वह यहाँ, इस छोटे-से पहाड़ी शहर में आ बसे थे। प्राइवेट प्रैक्टिस के अलावा वह कॉन्वेंट स्कूल में हाइजीन-फ़िज़ियॉलोजी भी पढ़ाया करते थे, जिसके परिणामस्वरूप स्कूल के होस्टल में ही उन्हें एक कमरा मुफ्त रहने के लिए दे दिया गया था। कुछ लोगों का कहना है कि बर्मा से आते हुए रास्ते में उनकी पत्नी की मृत्यु हो गयी थी, किन्तु इस सम्बन्ध में निश्चित रूप से कुछ नहीं कहा जा सकता, क्योंकि डॉक्टर स्वयं कभी अपनी पत्नी की चर्चा नहीं उठाते।

बातों के दौरान में डॉक्टर अक्सर कहा करते, "मरने से पहले मैं एक दफा बर्मा ज़रूर जाऊँगा। एक क्षण के लिए उनकी आँखों में गीली-सी नमी छा जाती। लतिका चाहने पर भी उनसे कुछ नहीं पूछ पाती। उसे लगता डॉक्टर नहीं चाहते कि कोई उनके अतीत के सम्बन्ध में प्रश्न पूछे, उनसे सहानुभूति प्रकट करे। दूसरे ही क्षण अपनी गम्भीरता को दूर ठेलते हुए वह हँस पड़ते—एक सूखी सिनिकल हँसी ···

"होम-सिकनैस ही एक ऐसी बीमारी है, जिसका इलाज करना किसी डॉक्टर के वश की बात नहीं।"

टैरेस पर मेज़-कुर्सियाँ बिछा दी गयीं; भीतर कमरे में पर्कुलेटर में कॉफी का पानी चढ़ा दिया गया।

"सुना है, अगले दो-तीन वर्षों में यहाँ पर बिजली का इन्तज़ाम हो जायेगा," डॉक्टर ने स्पिरिट लैम्प जलाते हुए कहा।

"यह बात तो पिछले दस सालों से सुनने में आ रही है। कहते हैं अंग्रेजों ने एक लम्बी-चौड़ी स्कीम बनायी थी, पता नहीं उसका क्या हुआ?" ह्यू बर्ट आरामकुर्सी पर अधलेटा-सा लॉन की ओर देख रहा था।

लतिका कमरे में से दो मोमबत्तियाँ ले आयी। मेज़ के दोनों सिरों पर टिकाकर उन्हें जला दिया गया। टैरेस का अँधेरा फीके पीले प्रकाश के दायरे के इर्द-गिर्द सिमटने लगा। एक घनी नीरवता चारों ओर घिरने लगी। हवा में चीड़ के वृक्षों की सांय-सांय दूर-दूर तक फैली पहाड़ियों, घाटियों में अजीब-सी सीटियों की गूँज छोड़ती जा रही थी।

"इस बार शायद बरफ़ जल्दी गिरेगी। अभी से हवा में सरद खुश्की-सी महसूस होती है।" डॉक्टर का सिगार अँधेरे में लाल बिन्दी-सा चमक रहा था।

"पता नहीं, मिस वुड को स्पेशल सर्विस का गोरखधन्धा क्यों पसन्द आता है! छुट्टियों में घर जाने से पहले क्या यह ज़रूरी है कि लड़कियाँ फ़ादर एलमण्ड का 'सरमन' सुनें?" ह्यू बर्ट ने कहा।

"पिछले पाँच साल से मैं सुनता आ रहा हूँ, फादर एलमण्ड के 'सरमन' में कहीं हेर-फेर नहीं होता।" डॉक्टर को फादर एलमण्ड एक आँख नहीं सुहाते थे।

लतिका कुरसी पर आगे झुककर प्यालों में कॉफी उँडेलने लगी। हर साल स्कूल बन्द होने के दिन यही दो प्रोग्राम होते हैं–चैपल में स्पेशल सर्विस और उसके बाद दिन में पिकनिक। लतिका को याद आया पहला साल, जब वह डॉक्टर के संग पिकनिक के बाद क्लब गयी थी। डॉक्टर बॉर में बैठे थे, बाल रूम कुमाऊँ रेजीमेंट के अफ़सरों से भरा हुआ था। कुछ देर तक विलियर्ड का खेल देखने के बाद जब वह वापस बॉर की ओर लौट रही थी, तब उसने दायीं ओर क्लब की लाइब्रेरी में देखा ··· किन्तु उसी समय डॉक्टर मुकर्जी पीछे से आ गये थे, "मिस लतिका, यह मेजर गिरीश नेगी हैं।" बिलियर्ड-रूम से आते हुए हँसी-ठहाकों के नीचे वह नाम दब-सा गया था। वह किसी पुस्तक के बीच अँगुली रखकर लाइब्रेरी की खिड़की से बाहर देख रहा था। "हलो, डॉक्टर!" वह पीछे मुड़ा, तब उस क्षण न जाने क्यों, लतिका का हाथ काँप गया और कॉफ़ी की कुछ गरम बूँदें उसकी साड़ी पर छलक आयीं। अँधेरे में किसी ने नहीं देखा कि लतिका के चेहरे पर एक उनींदा-सा रीतापन घिर आया है।

हवा के झोंके से मोमबत्तियों की लौ फड़कने लगी। टैरेस के ऊपर काठगोदाम जानेवाली सड़क पर यू॰ पी॰ रोडवेज़ की आखिरी बस डाक लेकर जा रही थी। बस की हैडलाइट्स में आसपास फैली हुई झाड़ियों की छायाएँ टैरेस की दीवार पर सरकती हुई गायब होने लगीं।

"मिस लतिका, आप इस साल भी छुट्टियों में यहीं रहेंगी?" डॉक्टर ने पूछा।

डॉक्टर का प्रश्न हवा में टँगा रहा। उसी क्षण पियानो पर शोपाँ का नॉक्टर्न ह्यू बर्ट की अँगुलियों के नीचे से फिसलता हुआ धीरे-धीरे टैरेस के अँधेरे में घुलने लगा, जैसे जल पर कोमल स्वप्निल उर्मियाँ भँवरों का झिलमिलाता जाल बुनती हुई फैलती जा रही हैं–दूर-दूर किनारों तर्क। लतिका को लगा, जैसे कहीं बहुत दूर बरफ़ की चोटियों के परिन्दों के झुण्ड नीचे अनजान देशों की ओर उड़े जा रहे हैं। इन दिनों अक्सर उसने अपने कमरे की खिड़की से उन्हें देखा है–धागे में बँधे चमकीले लट्टुओं की तरह वे एक लम्बी टेढ़ी-मेढ़ी कतार में उड़े जाते हैं–पहाड़ों की सुनसान नीरवता से परे, उन विचित्र शहरों की ओर, जहाँ शायद वह कभी जायेगी।

लतिका आर्म-चेयर पर झुकती हुई ऊँघने लगी। डॉक्टर मुकर्जी का सिगार अँधेरे में चुपचाप जल रहा था। डॉक्टर को आश्चर्य हुआ कि लतिका न जाने क्या सोच रही है। लतिका सोच रही थी, क्या वह बूढ़ी होती जा रही है। उसके सामने स्कूल की प्रिंसिपल मिस वुड का चेहरा घूम गया–पोपला मुँह, आँखों के नीचे झूलती हुई माँस की थैलियाँ, ज़रा-ज़रा सी बात पर चिढ़ जाना, कर्कश आवाज़ में चीखना। सब उसे 'ओल्ड मेड' कहकर पुकारते हैं ··· कुछ वर्षों बाद वह भी हूबहू वैसी ही बन जायेगी, लतिका के समूचे शरीर में झुरझुरी-सी दौड़ गयी, मानो अनजाने में उसने किसी गलीज़ वस्तु को छू लिया हो। उसे याद आया, कुछ महीने पहले अचानक उसे ह्यू बर्ट का प्रेम-पत्र मिला था–भावुक याचना से भरा हुआ पत्र, जिसमें उसने न जाने क्या कुछ

लिखा था, जो उसकी समझ में कभी नहीं आया। उसे ह्यू बर्ट की इस बचकाना हरक़त पर हँसी आयी थी, किन्तु भीतर-ही-भीतर उसे प्रसन्नता भी हुई थी; उसकी उम्र अभी बीती नहीं है, अब भी वह दूसरों को अपनी ओर आकर्षित कर सकती है। ह्यू बर्ट का पत्र पढ़कर उसे क्रोध नहीं आया, आयी थीं केवल ममता। वह चाहती तो उसकी ग़लतफ़हमी को दूर करने में देर न लगती, किन्तु कोई शक्ति उसे रोके रहती है, उसके कारण अपने पर विश्वास रहता है, अपने सुख का भ्रम मानो ह्यू बर्ट की ग़लतफ़हमी से जुड़ा है ···

ह्यू बर्ट ही क्यों, वह क्या किसी को भी चाह सकेगी, उसी अनुभूति के संग, जो अब नहीं रही, जो छाया-सी उस पर मँडराती रहती है; न स्वयं मिटती है, न उसे मुक्ति दे पाती है। उसे लगा, जैसे बादलों का झुरमुट फिर उसके मस्तिष्क पर धीरे-धीरे छाने लगा है, उसकी टाँगें फिर निर्जीव शिथिल-सी हो गयी हैं।

वह झटके से उठ खड़ी हुई, "डॉक्टर, मुझे माफ़ करना, मुझे बहुत थकान-सी लग रही है ··· बिना वाक्य पूरा किये हुए लतिका चली गयी।

कुछ देर तक टैरेस पर निस्तब्धता छायी रही। मोमबत्तियाँ बुझने लगी थीं। डॉ॰ मुकर्जी ने सिगार का नया कश लिया, "सब लड़कियाँ एक-जैसी ही होती हैं–बेवकूफ़ और सेण्टीमेण्टल!"

ह्यू बर्ट की उँगलियों का दबाव पियानो पर ढीला पड़ता गया; अन्तिम सुरों की झिझकी-सी गूँज कुछ क्षण तक हवा में तिरती रही।

"डॉक्टर", आपको कुछ मालूम है, मिस लतिका का व्यवहार पिछले कुछ अरसे से अजीब-सा लगता है!" ह्यू बर्ट के स्वर में लापरवाही का भाव था। वह नहीं चाहता था कि डॉक्टर को लतिका के प्रति उसकी भावनाओं का आभास-मात्र भी मिल सके। जिस कोमल अनुभूति को वह इतने समय से सँजोता आया है, डॉक्टर उसे हँसी के एक ही ठहाके में उपहासास्पद बना देगा।

"क्या तुम नियति में विश्वासं करते हो, ह्यू बर्ट?" डॉक्टर ने कहा। ह्यू बर्ट दम रोके प्रतीक्षा करता रहा। वह जानता था कि कोई भी बात कहने से पहले डॉक्टर को फिलॉसोफाइज़ करने की आदत थी। डॉक्टर टैरेस के जंगल से सटकर खड़े हो गये। फीकी-सी चाँदनी में चीड़ के पेड़ों की छायाएँ लॉन पर गिर रही थीं। कभी-कभी कोई जुगनू अँधेरे में हरा प्रकाश छिड़कता हुआ हवा में गायब हो जाता था।

"मैं कभी-कभी सोचता हूँ, इन्सान ज़िन्दा किसलिए रहता है! क्या उसे कोई और बेहतर काम करने को नहीं मिला? हज़ारों मील अपने मुल्क से दूर मैं यहाँ पड़ा हूँ; यहाँ कौन मुझे जानता है! यहीं शायद मर भी जाऊँ। ह्यू बर्ट, क्या तुमने कभी महसूस किया है कि एक अजनबी की हैसियत से परायी ज़मीन पर मर जाना काफ़ी खौफनाक बात है।"

ह्यू बर्ट विस्मित-सा डॉक्टर की ओर देखने लगा। उसने पहली बार डॉक्टर मुकर्जी

के इस पहलू को देखा था। अपने सम्बन्ध में वह अक्सर चुप रहता था।

"कोई पीछे नहीं है, यह बात मुझमें एक अजीब किस्म की बेफिक्री पैदा कर देती है। लेकिन कुछ लोगों की मौत अन्त तक पहेली बनी रही है; शायद वे ज़िन्दगी से बहुत उम्मीद लगाते थे। उसे ट्रैजिक भी नहीं कहा जा सकता, क्योंकि आखिरी दम तक उन्हें मरने का अहसास नहीं होता।"

"डॉक्टर, आप किसका ज़िक्र कर रहे हैं?" ह्यू बर्ट ने परेशान होकर पूछा।

डॉक्टर कुछ देर तक चुपचाप सिगार पीते रहे। फिर मुड़कर वह मोमबत्तियों की बुझती हुई लौ को देखने लगे।

"तुम्हें मालूम है, किसी समय लतिका बेनागा क्लब जाया करती थी? गिरीश नेगी से उसका परिचय वहीं हुआ था। कश्मीर जाने से एक रात पहले उसने मुझे सब कुछ बता दिया था। मैं अब तक लतिका से उस मुलाकात के बारे में कुछ कह नहीं सका हूँ। किन्तु उस रात कौन जानता था कि वह वापस नहीं लौटेगा। और अब··· अब क्या फर्क पड़ता है। लैट द डैड डाई···"

डॉक्टर की सूखी सरद हँसी में खोखली-सी शून्यता भरी थी।

"कौन गिरीश नेगी?"

"कुमाऊँ रेजीमेंट में कैप्टन थे।"

"डॉक्टर, क्या लतिका···" ह्यू बर्ट से आगे कुछ नहीं कहा गया। उसे याद आया वह पत्र, जो उसने लतिका को भेजा था–कितना अर्थहीन और उपहासास्पद, जैसे उसका एक-एक शब्द उसके दिल को कचोट रहा हो। उसने धीरे से पियानों पर सिर टिका लिया। लतिका ने उसे क्यों नहीं बताया? क्या वह इसके योग्य भी नहीं था?

"लतिका··· वह तो बच्ची है, पागल! मरने वाले के संग खुद थोड़े ही मरा जाता है!"

कुछ देर चुप रहकर डॉक्टर ने अपने प्रश्न को फिर दुहराया।

"लेकिन ह्यू बर्ट, क्या तुम नियति पर विश्वास करते हो?"

हवा के हल्के झोंके से मोमबत्तियाँ एक बार प्रज्ज्वलित होकर बुझ गयीं। टैरेस पर ह्यू बर्ट और डॉक्टर अँधेरे में एक-दूसरे का चेहरा नहीं देख पा रहे थे, फिर भी वे एक-दूसरे की ओर देख रहे थे। कॉन्वेंट स्कूल से कुछ दूर 'मीडोज़' में बहते पहाड़ी नाले का स्वर आ रहा था। जब बहुत देर बाद कुमाऊँ रेजीमेंटल सेण्टर का बिगुल सुनायी दिया, तो ह्यू बर्ट हड़बड़ाकर खड़ा हो गया।

"अच्छा चलता हूँ डॉक्टर, गुडनाइट!"

"गुडनाइट ह्यू बर्ट, माफ़ करना, मैं सिगार खत्म करके उठूँगा।"

सुबह बदली छायी थी। लतिका के खिड़की खोलते ही धुन्ध का गुब्बारा-सा भीतर घुस आया, जैसे रात-भर दीवार के सहारे सरदी में ठिठुरता हुआ वह भीतर आने की

प्रतीक्षा करता रहा हो। स्कूल से ऊपर चैपल जानेवाली सड़क बादलों में छिप गयी थी, केवल चैपल का 'क्रॉस' धुन्ध के परदे पर एक-दूसरे को काटती हुई पेंसिल की रेखाओं-सा दिखायी दे जाता था।

लतिका ने खिड़की से आँखें हटायीं तो देखा कि करीमुद्दीन चाय की ट्रे लिये खड़ा है। करीमुद्दीन मिलिटरी में अर्दली रह चुका था, इसलिए ट्रे मेज़ पर रखकर 'अटेन्शन' की मुद्रा में खड़ा हो गया।

लतिका झटके से उठ बैठी। सुबह से आलस करके कितनी बार जागकर वह सो चुकी है। अपनी खिसियाहट मिटाने के लिए लतिका ने कहा, "बड़ी सरदी है आज, बिस्तर छोड़ने को जी नहीं चाहता।"

"अजी मेम साहब, अभी क्या सरदी आयी है, बड़े दिनों में देखना, कैसे दाँत कटकटाते है!" और करीमुद्दीन अपने हाथों को बगलों में डाले इस तरह सिकुड़ गया जैसे उन दिनों की कल्पना-मात्र से उसे जाड़ा लगना शुरू हो गया है। गंजे सिर पर दोनों तरफ के बाल खिजाब लगाने से कत्थई रंग के भूरे हो गये थे। बात चाहे किसी विषय पर हो रही हो, वह हमेशा खींच तानकर उसे ऐसे क्षेत्र में घसीट लाता था, जहाँ वह बेझिझक अपने विचारों को प्रकट कर सके।

"एक दफ़ा तो यहाँ लगातार इतनी बरफ़ गिरी थी कि भुवाली से लेकर डाक बँगले तक सारी सड़कें जाम हो गयीं। इतनी बरफ़ थी मेमसाहब, कि पेड़ों की टहनियाँ तक सिकुड़ कर तनों से लिपट गयी थीं, बिल्कुल ऐसे।" और करीमुद्दीन नीचे झुककर मुर्गा-सा बन गया।

"कब की बात है?" लतिका ने पूछा।

"अब यह तो जोड़ हिसाब करके ही पता चलेगा, मेम साहब, लेकिन इतना याद है कि उस वक्त अंग्रेज़ बहादुर यहीं थे। कण्टोनमेण्ट की इमारत पर कौमी झण्डा नहीं लगा था। बड़े जवर थे ये अंग्रेज़, दो घंटों में सारी सड़कें साफ़ करवा दीं। उन दिनों एक सीटी बजाने से पचास घोड़ेवाले जमा हो जाते थे; अब सारे शैड खाली पड़े हैं। वे लोग अपनी खिदमत भी करवाना जानते थे; अब तो सब उजाड़ हो गया है।" करीमुद्दीन उदास भाव से बाहर देखने लगा।

आज यह पहली बार नहीं है जब लतिका करीमुद्दीन से उन दिनों की बातें सुन रही है जब 'अंग्रेज़ बहादुर' ने इस स्थान को स्वर्ग बना रखा था।

"आप छुट्टियों में इस साल भी यहीं रहेंगी, मेम साहब?"

"दिखता तो कुछ ऐसा ही है, करीमुद्दीन, तुम्हें फिर तंग होना पड़ेगा।"

"क्या कहती हैं, मेम साहब! आपके रहने से हमारा भी मन लग जाता है, वरना छुट्टियों में तो यहाँ कुत्ते लोटते हैं।"

"तुम आज ज़रा मिस्त्री से कह देना कि इस कमरे की छत की मरम्मत कर जाये। पिछले साल बरफ़ का पानी दरारों से टपकता रहता था।" लतिका को याद आया,

पिछली सरदियों में जब कभी बरफ़ गिरती थी, उसे पानी से बचने के लिए रात-भर कमरे के कोने में सिमटकर सोना पड़ता था।

करीमुद्दीन चाय की ट्रे उठाता हुआ बोला, "ह्यू बर्ट सा'ब तो शायद कल ही चले जायें। कल रात उनकी तबीयत फिर खराब हो गयी। आधी रात के वक्त मुझे जगाने आये थे। कहते थे छाती में तकलीफ़ है। उन्हें यह मौसम नहीं सुहाता। कह रहे थे, लड़कियों की बस में वह भी कल ही चले जायेंगे।"

करीमुद्दीन दरवाज़ा बन्द करके चला गया। लतिका की इच्छा हुई कि वह ह्यू बर्ट के कमरे में जाकर उसकी तबीयत की पूछताछ कर आए। किन्तु फिर न जाने क्यों स्लीपर पैरों में टँगे रहे और वह खिड़की के बाहर बादलों को उड़ता हुआ देखती रही। ह्यू बर्ट का चेहरा उसे देखकर जिस तरह सहमा-सा दयनीय हो जाता है, तब उसे लगता है कि वह अपनी मूक निरीह याचना में उसे कोस रहा है—न वह उसकी ग़लतफ़हमी को दूर करने का प्रयत्न कर पाती है, न उसे अपनी विवशता की सफ़ाई देने का साहस होता है। उसे लगता है कि इस जाल से बाहर निकलने के लिए वह धागे के जिस सिरे को पकड़ती है, वह खुद एक गाँठ बनकर रह जाता है।

बाहर बूँदाबाँदी होने लगी थी; कमरे की टीन की छत 'खट-खट, बोलने लगी। लतिका पलंग से उठ खड़ी हुई; बिस्तर को तहकर बिछाया। फिर पैरों में स्लीपरों को घसीटते हुए वह बड़े आईने तक आयी और उसके सामने स्टूल पर बैठकर बालों को खोलने लगी। किन्तु कुछ देर तक कंघी बालों में उलझी रही और वह गुमसुम-सी शीशे में अपना चेहरा ताकती रही। करीमुद्दीन को यह कहना याद नहीं रहा कि धीरे-धीरे आग जलाने की लकड़ियाँ जमा कर ले। इन दिनों सस्ते दामों पर सूखी लकड़ियाँ मिल जाती हैं। पिछले साल तो कमरा धुएँ से भर जाता था जिसके कारण कँपकँपाते जाड़े में भी उसे खिड़की खोलकर ही सोना पड़ता था।

आइने में लतिका ने अपना चेहरा देखा, वह मुस्करा रही थी। पिछले साल अपने कमरे की सीलन और ठंड से बचने के लिए कभी-कभी वह मिस वुड के खाली कमरे में चोरी-चुपके सोने चली जाया करती थी। मिस वुड का कमरा बिना आग की तपन के भी गरम रहता था; उसके गदीले सोफ़े पर लेटते ही आँख लग जाती थी। कमरा छुट्टियों में खाली पड़ा रहता है, किन्तु मिस वुड से इतना नहीं होता कि दो महीनों के लिए उसके हवाले कर ही जाये। हर साल कमरे का ताला ठोंक जाती है। वह तो पिछले साल गुसलख़ाने में भीतर की साँकल देना भूल गयी थी, जिसे लतिका चोर-दरवाज़े के रूप में इस्तेमाल करती रही थी।

पहले साल अकेले में उसे बड़ा डर-सा लगता था। छुट्टियों में सारे स्कूल और होस्टल के कमरे सांय-सांय करने लगते हैं। डर के मारे उसे जब कभी नींद नहीं आती थी तब वह करीमुद्दीन को देर रात तक बातों में उलझाये रखती। बातों में जब खोयी-सी वह सो जाती, तब करीमुद्दीन चुपचाप लैम्प बुझाकर चला जाता। कभी-कभी बीमारी

का बहाना करके वह डॉक्टर को बुलवा भेजती थी, और बाद में बहुत ज़िद करके दूसरे कमरे में उनका बिस्तर लगवा देती।

लतिका ने कन्धे से बालों का गुच्छा निकाला और उसे बाहर फेंकने के लिए वह खिड़की के पास आ खड़ी हुई। बाहर छत की ढलान से वारिश के जल की मोटी-सी धार बराबर लॉन पर गिर रही थी। मेघाच्छन्न आकाश में सरकते हुए बादलों के पीछे पहाड़ियों के झुण्ड कभी उभर आते थे, कभी छिप जाते थे मानो चलती हुई ट्रेन से कोई उन्हें देख रहा हो। लतिका ने खिड़की से सिर बाहर निकाल लिया। हवा के झोंके से उसकी आँखें झिप गयीं। उसे जितने काम याद आते हैं, उतना ही आलस घना होता जाता है। बस की सीटें रिज़र्व करवाने के लिए चपरासी को रुपये देने हैं। जो सामान होस्टल की लड़कियाँ पीछे छोड़ जा रही हैं, उन्हें गोदाम में रखवाना होगा। कभी-कभी तो छोटी क्लास की लड़कियों को पैंकिंग करवाने के काम में भी हाथ बँटाना पड़ता था।

वह इन कामों से ऊबती नहीं। धीरे-धीरे सब निपटते जाते हैं, कोई गलती इधर-उधर रह जाती है, सो बाद में सुधर जाती है। हर काम में किच-किच रहती है, परेशानी और दिक्कत महसूस होती है, किन्तु देर-सवेर इससे छुटकारा मिल ही जाता है। किन्तु जब लड़कियों की आखिरी बस चली जाती है, तब मन उचाट-सा हो जाता है; खाली कॉरीडोर में घूमती हुई वह कभी इस कमरे में जाती है, कभी उसमें। वह नहीं जान पाती कि अपने से क्या करे। दिल कहीं भी टिक नहीं पाता, हमेशा भटका-भटका सा रहता है।

इस सबके बावजूद जब कोई सहज भाव से उससे पूछ बैठता है, "मिस लतिका, छुट्टियों में आप घर नहीं जा रहीं?" तब ··· तब वह क्या कहे?

डिंग-डांग-डिंग ··· स्पेशल सर्विस के लिए स्कूल चैपल के घंटे बजने लगे थे। लतिका ने अपना सिर खिड़की के भीतर कर लिया। उसने झटपट साड़ी उतारी, और पेटीकोट में ही कन्धे पर तौलिया डाले गुसलखाने में घुस गयी।

लेफ्ट राइट ··· लेफ्ट ··· लेफ्ट ···

कण्टोनमेण्ट जाने वाली पक्की सड़क पर चार-चार की पंक्ति में कुमाऊँ रेजीमेण्ट के सिपाहियों की एक टुकड़ी मार्च कर रही थी। फौजी बूटों की भारी खुरदरी आवाज़ें स्कूल चैपल की दीवारों से टकराकर भीतर 'प्रेयर-हॉल' में गूँज रही थीं।

"ब्लेसिड आर द मीक", फादर एलमण्ड एक-एक शब्द चबाते हुए खँखारते स्वर में 'सर्मन ऑफ़ द माउण्ट' पढ़ रहे थे। ईसा मसीह की मूर्ति के नीचे 'कैण्डलब्रियम' के दोनों ओर मोमबत्तियाँ जल रही थीं, जिनका प्रकाश आगे बेंचों पर बैठी हुई लड़कियों पर पड़ रहा था। पिछली लाइनों के बेंच अँधेरे में डूबे हुए थे, जहाँ लड़कियाँ प्रार्थना की मुद्रा में बैठी हुई सिर झुकाये एक-दूसरे से खुसर-पुसर कर रही थीं। मिस वुड स्कूल सीज़न के सफलतापूर्वक समाप्त हो जाने पर विद्यार्थियों और स्टाफ सदस्यों को बधाई

का भाषण दे चुकी थी, और अब फादर के पीछे बैठी हुई अपने में ही कुछ बुड़बुड़ा रही थी, मानो धीरे-धीरे फादर को 'प्रॉम्प्ट' कर रही हो।

"आमीन!" फादर एलमण्ड ने बाइबिल मेज़ पर रख दी और 'प्रेयर-बुक' उठा ली। हॉल की खामोशी क्षणभर के लिए टूट गयी। लड़कियों ने खड़े होते हुए जान-बूझकर बेंचों को पीछे धकेला; बेंच फर्श पर रगड़ खाते सीटी बजाते हुए पीछे खिसक गये। हॉल के कोने से हँसी फूट पड़ी। मिस वुड का चेहरा तन गया, माथे पर भृकुटियाँ चढ़ गयीं। फिर अचानक निःस्तब्धता छा गयी; हॉल के उस घुटे हुए धुँधलके में फ़ादर का तीखा फटा हुआ स्वर सुनायी देने लगा, "जीसस सेड आई एम द लाईट ऑफ़ द वर्ल्ड। ही दैट फॉलोअथ मी शैल नॉट वॉक इन डार्कनेस, बट शैल हैव द लाइट ऑफ लाइफ़···"

डॉक्टर मुकर्जी ने अब और उकताहट से भरी जम्हाई ली। "कब यह क़िस्सा खत्म होगा?" उन्होंने इतने ऊँचे स्वर में लतिका से पूछा कि वह सकुचाकर दूसरी ओर देखने लगी। स्पेशल सर्विस के समय डॉक्टर मुकर्जी के होंठों पर व्यंग्यात्मक मुस्कान खेलती रही थी और वह धीरे-धीरे अपनी मूँछों को खींचते रहते थे।

फ़ादर एलमण्ड की वेशभूषा देखकर लतिका के दिल में गुदगुदी-सी दौड़ गयी। जब वह छोटी थी तो अक्सर यह बात सोचकर विस्मित हुआ करती थी कि क्या पादरी लोग सफ़ेद चोगे के नीचे कुछ नहीं पहनते; अगर धोखे से वह ऊपर उठ जाये तो?

लेफ्ट··· लेफ्ट··· लेफ्ट, मार्च करते हुए फ़ौजी बूट चैपल से दूर होते जा रहे थे, केवल उनकी गूँज हवा में शेष रह गयी थी।

"हिम नम्बर 117," फ़ादर ने प्रार्थना-पुस्तक खोलते हुए कहा। हॉल में प्रत्येक लड़की ने डेस्क पर रखी हुई हिम-बुक खोल ली। पन्नों के उलटने की खड़खड़ाहट फिसलती हुई एक सिरे से दूसरे सिरे तक फैल गयी।

आगे के बेंच से उठकर ह्यूबर्ट पियानो के सामने स्टूल पर बैठ गया। संगीत-शिक्षक होने के कारण हर साल स्पेशल-सर्विस के अवसर पर उसे 'कॉयर' के संग पियानो बजाना पड़ता था। ह्यूबर्ट ने अपने रूमाल से नाक साफ़ की। अपनी घबराहट छिपाने के लिए ह्यूबर्ट हमेशा ऐसा ही किया करता था। कनखियों से हॉल की ओर देखते हुए उसने अपने काँपते हाथों से हिम-बुक खोली।

लीड काइण्डली लाईट···

पियानो के सुर दबे, झिझकते-से मिलने लगे। घने बालों से ढँकी ह्यूबर्ट की लम्बी, पीली अँगुलियाँ खुलने-सिमटने लगीं। 'कॉयर' में गानेवाली लड़कियों के स्वर एक-दूसरे से गुँथकर कोमल, स्निग्ध लहरों में बिंध गये।

लतिका को लगा, उसका जूड़ा ढीला पड़ गया है, मानो गरदन के नीचे झूल रहा है। मिस वुड की आँख बचाकर लतिका ने चुपचाप बालों में लगे क्लिपों को कसकर खींच दिया।

"बड़ा झक्की आदमी है, सुबह मैंने ह्यू बर्ट को यहाँ आने से मना किया था; फिर भी चला आया!" डॉक्टर ने कहा।

लतिका को करीमुद्दीन की बात याद हो आयी। 'रातभर ह्यू बर्ट को खाँसी का दौरा पड़ा था। कल जाने के लिए कह रहे थे··· लतिका ने सिर टेढ़ा करके ह्यू बर्ट के चेहरे की एक झलक पाने की विफल चेष्टा की। इतनी पीछे से कुछ भी देख पाना असम्भव था; पियानो पर झुके हुए ह्यू बर्ट का केवल सिर दिखायी देता था।

लीड काइण्डली लाईट··· संगीत के सुर मानो एक ऊँची पहाड़ी पर चढ़कर हाँफती हुई साँसों को आकाश की अबाध शून्यता में बिखेरते हुए नीचे उतर रहे हैं। बारिश की मुलायम धूप चैपल के लम्बे चौकोर शीशों पर झिलमिला रही है, जिसकी एक महीन चमकीली रेखा ईसा मसीह की प्रतिमा पर तिरछी होकर गिर रही है। मोमबत्तियों का धुआँ धूप में नीली-सी लकीर खींचता हुआ हवा में तिरने लगा है। पियानो के क्षणिक 'पॉज़' में लतिका को पत्तों का परिचित मर्मर कहीं दूर अनजानी दिशा से आता हुआ सुनायी दे जाता है। एक क्षण के लिए उसे भ्रम हुआ कि चैपल का फीका-सा अँधेरा उस छोटे-से 'प्रेयर-हॉल' के चारों कोनों से सिमटता हुआ उसके आसपास घिर आया है, मानो कोई उसकी आँखों पर पट्टी बाँधकर यहाँ तक ले आया हो और अचानक उसकी आँखें खोल दी हों। उसे लगा जैसे मोमबत्तियों के धूमिल आलोक में कुछ भी ठोस, वास्तविक न रहा हो; चैपल की छत, दीवारें, डेस्क पर रखा हुआ डॉक्टर का सुघड़, सुडौल हाथ, पियानो के सुर अतीत की धुन्ध को भेदते हुए स्वयं धुन्ध का भाग बनते जा रहे हैं···

एक पगली-सी स्मृति, एक उद्भ्रान्त भावना चैपल के शीशों के परे पहाड़ी सूखी हवा में झुकी हुई वीपिंग विलोज़ की काँपती टहनियाँ, पैरों-तले चीड़ के पत्तों की धीमी-सी चिर-परिचित खड़-खड़··· वहीं पर गिरीश एक हाथ में मिलिटरी का खाकी हैट लिये खड़ा है—चौड़े, उठे हुए सबल कन्धे, अपना सिर वहाँ टिका दो तो जैसे सिमटकर खो जायेगा··· चार्ल्स, बोअ़र, यह नाम उसने रखा था। वह झेंपकर हँसने लगता। "तुम्हें आर्मी में किसने चुन लिया, मेज़र बन गये हो लेकिन लड़कियों से भी गये-बीते हो; ज़रा-ज़रा सी बात पर चेहरा लाल हो जाता है।" यह सब वह कहती नहीं, सिर्फ सोचती-भर थी। सोचा था, कभी कहूँगी; वह 'कभी' कभी नहीं आया।

बुरुँस का लाल फूल।

"लाये हो?"

"न।"

"झूठे!"

खाकी कमीज़ की जिस जेब पर बैज चिपके थे, उसी में से मुसा हुआ बुरुँस का फूल निकल आया।

"छिः, सारा मुरझा गया।"

"अभी खिला कहाँ है?"

"हाऊ क्लम्ज़ी?"

उसके बालों में गिरीश का हाथ उलझ रहा है। फूल कहीं टिक नहीं पाता। फिर उसे क्लिप के नीचे फँसाकर उसने कहा, "देखो।"

वह मुड़ी, इससे पहले कि वह कुछ कह पाती गिरीश ने अपना मिलिटरी का हैट धप्प से उसके सिर पर रख दिया। वह मन्त्रमुग्ध-सी वैसे ही खड़ी रही। उसके सिर पर गिरीश का हैट है, माथे पर छोटी-सी बिन्दी है। बिन्दी पर उड़ते हुए बाल हैं। गिरीश ने उस बिन्दी को अपने होंठों से छुआ है; उसने उसके नंगे सिर को अपने दोनों हाथों में समेट लिया है।

"लतिका!"

"बोलो नहीं!"

गिरीश ने चिढ़ाते हुए कहा, "मैन-ईटर ऑफ़ कुमाओ!" उसका नाम गिरीश ने उसे चिढ़ाने के लिए रखा था। वह हँसने लगी।

"लतिका, सुनो" गिरीश का स्वर कैसा हो गया था।

"ना! मैं कुछ भी नहीं सुन रही।"

"लतिका, मैं कुछ महीनों में वापस लौट आऊँगा।"

"ना! मैं कुछ भी नहीं सुन रही।" किन्तु वह सुन रही है–वह नहीं जो गिरीश कह रहा है किन्तु वह जो नहीं कहा जा रहा, जो उसके बाद कभी नहीं कहा गया।

लीड काइण्डली लाईट ···

लड़कियों का स्वर पियानो के सुरों में डूबा हुआ गिर रहा है, उठ रहा है। ह्यू बर्ट ने सिर मोड़कर लतिका को निमिष-भर देखा–आँखें मूँदे ध्यान-मग्ना प्रस्तर मूर्ति-सी वह स्थिर निश्चल खड़ी थी। क्या यह भाव उसके लिए हैं? क्या लतिका ने ऐसे क्षणों में उसे अपना साझी बनाया है? ह्यू बर्ट ने एक गहरी साँस ली और उस साँस में ढेर-सी थकान उमड़ आयी।

"देखो, मिस वुड कुरसी पर बैठी-बैठी सो रही है," डॉक्टर होंठों में ही फुसफुसाया। यह डॉक्टर का पुराना मज़ाक था कि मिस वुड प्रार्थना करने के बहाने आँखें मूँदे हुए नींद की झपकियाँ लिया करती है।

फादर एलमण्ड ने कुरसी पर फैले अपने गाउन को समेट लिया और प्रेयर-बुक बन्द करके मिस वुड के कानों में कुछ कहा। पियानों का स्वर क्रमशः मन्द पड़ने लगा, ह्यू बर्ट की अँगुलियाँ ढीली पड़ने लगीं। सर्विस समाप्त होने से पूर्व मिस वुड ने आर्डर पढ़कर सुनाया। बारिश होने की आशंका से आज के कार्यक्रम में कुछ आवश्यक परिवर्तन करने पड़े थे। पिकनिक के लिए झूलादेवी के मन्दिर जाना सम्भव नहीं हो सकेगा, इसलिए स्कूल से कुछ दूर 'मीडोज़' में ही सब लड़कियाँ नाश्ते के बाद जमा होंगी। सब लड़कियों को दोपहर का 'लंच' होस्टल, किचन से ही ले जाना होगा, केवल शाम की चाय

'मीडोज़' में बनेगी।

पहाड़ों की बारिश का क्या भरोसा! कुछ देर पहले धुआँधार बादल गरज रहे थे, सारा शहर पानी में भीगा ठिठुर रहा था; अब धूप में नहाता नीला आकाश धुन्ध की ओट से बाहर निकलता हुआ फैल रहा था। लतिका ने चैपल से बाहर आते हुए देखा कि वीपिंग विलोज़ की भीगी शाखाओं से धूप में चमकती हुई बारिश की बूँदें टपक रही थीं।

लड़कियाँ चैपल से बाहर निकलकर छोटे-छोटे गुट्ट बनाकर कॉरीडोर में जमा हो गयी हैं। नाश्ते के लिए अभी पौना घंटा बाकी था और उनमें से अभी कोई भी लड़की होस्टल जाने के लिए इच्छुक नहीं थी। छुट्टियाँ अभी शुरू नहीं हुई थीं, किंतु शायद इसीलिए वे इन चन्द बचे-खुचे क्षणों में अनुशासन के घेरे के भीतर भी मुक्त होने का भरपूर आनन्द उठा लेना चाहती थीं।

मिस वुड को लड़कियों का यह गुल-गपाड़ा अखरा, किन्तु फ़ादर एलमण्ड के सामने वह उन्हें डाँट-फटकार नहीं सकी। अपनी झल्लाहट दबाकर वह मुस्कराते हुए बोली, "कल सब चली जायेंगी, सारा स्कूल वीरान हो जायेगा।"

फ़ादर एलमण्ड का लम्बा ओजपूर्ण चेहरा चैपल की घुटी हुई गरमाई से लाल हो उठा था। कॉरीडोर के जंगले पर अपनी छड़ी लटकाकर वह बोले–"छुट्टियों में पीछे होस्टल में कौन रहेगा?"

"पिछले दो-तीन साल से मिस लतिका ही रहती हैं।"

"और डॉक्टर मुकर्जी?" फादर का ऊपरी होंठ तनिक खिंच आया।

"डॉक्टर तो सरदी-गरमी यहीं रहते हैं," मिस वुड ने विस्मय से फादर की ओर देखा। वह समझ नहीं सकी कि फ़ादर ने डॉक्टर का प्रसंग क्यों छेड़ दिया है।

"डॉक्टर मुकर्जी छुट्टियों में कहीं नहीं जाते?"

"दो महीनों की छुट्टियों में बर्मा जाना काफ़ी मुश्किल है, फ़ादर," मिस वुड हँसने लगी।

किन्तु फ़ादर एलमण्ड ने मिस वुड की हँसी में योग नहीं दिया। उनके चेहरे पर तनाव की रेखाएँ खिंची रहीं।

"मिस वुड, पता नहीं आप क्या सोचती हैं, मुझे तो मिस लतिका का होस्टल में अकेले रहना कुछ समझ में नहीं आता।"

"लेकिन फ़ादर," मिस वुड ने कहा, "यह तो कॉन्वेंट स्कूल का नियम है कि कोई भी टीचर छुट्टियों में अपने खर्चे पर होस्टल में रह सकती है।"

"मैं फ़िलहाल स्कूल के नियमों की बात नहीं कर रहा। मिस लतिका डॉक्टर के संग यहाँ अकेली ही रह जायेगी; और सच पूछिए मिस वुड, डॉक्टर के बारे में मेरी राय कुछ बहुत अच्छी नहीं है।"

"फ़ादर, आप कैसी बात कर रहे हैं! मिस लतिका बच्चा थोड़े ही है!" मिस वुड

को ऐसी आशा नहीं थी कि फ़ादर एलमण्ड अपने दिल में ऐसी दकियानूसी भावना को स्थान देंगे।

फ़ादर एलमण्ड कुछ हतप्रभ-से हो गये; बात पलटते हुए बोले, "मिस वुड, मेरा मतलब यह नहीं था। आप तो जानती हैं मिस लतिका और उस मिलिटरी अफ़सर को लेकर एक अच्छा-खासा स्कैण्डल बन गया था। स्कूल की बदनामी होने में क्या देर लगती है!"

"वह बेचारा तो अब नहीं रहा। मैं उसे जानती थी फ़ादर, ईश्वर उसकी आत्मा को शान्ति दे।"

मिस वुड ने धीरे से अपनी दोनों बाँहों से 'क्रॉस' किया।

फ़ादर एलमण्ड को मिस वुड की मूर्खता पर इतना अधिक क्षोभ हुआ कि उनसे आगे और कुछ नहीं बोला गया। डॉक्टर मुकर्जी से उनकी कभी नहीं पटती थी, इसीलिए मिस वुड की आँखों में वह डॉक्टर को नीचा दिखाना चाहते थे। किन्तु मिस वुड लतिका का रोना ले बैठी। आगे बात बढ़ाना व्यर्थ था। उन्होंने छड़ी को जंगले से उठाया और ऊपर साफ़ धुले आकाश को देखते हुए बोले, "प्रोग्राम आपने यों ही बदला मिस वुड, अब क्या बारिश होगी।"

ह्यू बर्ट जब चैपल से बाहर निकला तो उसकी आँखें चकाचौंध-सी हो गयीं। उसे लगा जैसे किसी ने अचानक ढेर-सी चमकीली उबलती हुई रोशनी मुट्ठी में भरकर उसकी आँखों में झोंक दी हो। पियानो के संगीत-सुर रुई के छुई-मुई रेशों से अब तक उसके मस्तिष्क की थकी-माँदी नसों पर फड़फड़ा रहे थे। वह काफी थक गया था। पियानो बजाने से उसके फेफड़ों पर हमेशा भारी दबाव पड़ता था; दिल की धड़कन तेज़ हो जाती थी। उसे लगता था कि संगीत के एक नोट को दूसरे नोट में उतारने के प्रयत्न में वह एक अँधेरी खाई पार कर रहा है।

आज चैपल में मैंने जो महसूस किया, वह कितना रहस्यमय, कितना विचित्र था, ह्यू बर्ट ने सोचा। मुझे लगा, पियानो का हर नोट चिरन्तन खामोशी की अँधेरी खोह से निकलकर बाहर फैली नीली धुन्ध को काटता, तराशता हुआ एक भूला-सा अर्थ खींच लाता है। गिरता हुआ हर 'पॉज़' एक छोटी-सी मौत है, मानो घने छायादार वृक्षों की काँपती छायाओं में कोई पगडण्डी गुम हो गयी हो—एक छोटी-सी मौत जो आनेवालों सुरों की अपनी बची-खुची गूँजों की साँसें समर्पित कर जाती है; जो मर जाती है, किन्तु मिट नहीं पाती; मिटती नहीं, इसलिए मरकर भी जीवित है, दूसरे सुरों में लय हो जाती है।

डॉक्टर क्या, मृत्यु ऐसे ही आती है? अगर मैं डॉक्टर से पूछूँ तो वह हँसकर टाल देंगे। मुझे लगता है, कि वह पिछले कुछ दिनों से कोई बात छिपा रहे हैं। उनकी हँसी में जो सहानुभूति का भाव होता है, वह मुझे अच्छा नहीं लगता। आज उन्होंने मुझे स्पेशल सर्विस में आने से रोका था। कारण पूछने पर वह चुप रहे थे। कौन-सी ऐसी

बात है, जिसके मुझे कहने में डॉक्टर कतराते हैं? शायद मैं शक्की मिजाज़ होता जा रहा हूँ, और बात कुछ भी नहीं है।

ह्यू बर्ट ने देखा, लड़कियों की कतार स्कूल के होस्टल जानेवाली सड़क पर नीचे उतरती जा रही है; उजली धूप में उनके रंग-बिरंगे रिबन, हल्के आसमानी रंग के फ्रॉक और सफ़ेद पेटियाँ चमक रही हैं। सीनियर कैम्ब्रिज की कुछ लड़कियों ने चैपल की वाटिका से गुलाब के फूल तोड़कर अपने बालों में लगा लिये हैं। कण्टोनमेण्ट के तीन-चार सिपाही लड़कियों को देखते हुए अश्लील मज़ाक करते हुए हँस रहे हैं और कभी-कभी किसी की ओर ज़रा-सा झुककर सीटी बजाने लगते हैं।

"हलो, मिस्टर ह्यू बर्ट!" ह्यू बर्ट ने चौंककर पीछे देखा। लतिका एक मोटा-सा रजिस्टर बगल में दबाये खड़ी थी।

"आप अभी यहीं हैं?" ह्यू बर्ट की दृष्टि लतिका पर टिकी रही। वह क्रीम रंग की पूरी बाँहों की ऊनी जैकेट पहने हुए थी। कुमाऊँ-लड़कियों की तरह लतिका का चेहरा गोल था। धूप की तपन से पका गेहुआँ रंग कहीं-कहीं हल्का-सा गुलाबी हो आया था, मानो बहुत धोने पर भी गुलाल के कुछ धब्बे इधर-उधर बिखरे रह गये हों।

"उन लड़कियों के नाम नोट करने थे, जो कल जा रही हैं, सो पीछे रुकना पड़ा। आप भी तो कल जा रहे हैं, मिस्टर ह्यू बर्ट!"

"अभी तक तो यही इरादा है। यहाँ रुककर भी क्या करूँगा। आप स्कूल की ओर जा रही हैं?"

"चलिए।"

पक्की सड़क पर लड़कियों की भीड़ जमा थी, इसलिए वे दोनों पोलो-ग्राउण्ड का चक्कर काटते हुए पगडण्डी से नीचे उतरने लगे।

हवा तेज हो चली थी; चीड़ के पत्ते हर झोंके के संग टूट-टूटकर पगडण्डी पर ढेर लगाते जाते थे। ह्यू बर्ट रास्ता बनाने के लिए अपनी छड़ी से उन्हें बुहारकर दोनों ओर बिखेर देता था। लतिका पीछे खड़ी हुई देखती थी, अलमोड़ा की ओर से आते हुए छोटे-छोटे बादल रेशमी रूमालों-से उड़ते हुए सूरज के मुँह पर लिपटे-से जाते थे; फिर हवा में आगे बह निकलते थे। इस खेल में धूप कभी मन्द फीकी-सी पड़ जाती थी, कभी अपना उजला आँचल खोलकर समूचे पहाड़ी शहर को अपने में समेट लेती थी।

लतिका तनिक आगे निकल गयी। ह्यू बर्ट की साँस चढ़ गयी थी और वह धीरे-धीरे हाँफता हुआ पीछे आ रहा था। जब वे पोलो-ग्राउण्ड के पवेलियन को छोड़कर सिमिट्री के दायीं ओर मुड़े तो लतिका ह्यू बर्ट की प्रतीक्षा करने के लिए खड़ी हो गयी। उसे याद आया, छुट्टियों के दिनों में जब कभी कमरे में अकेले बैठे-बैठे उसका मन ऊब जाता था, तो वह अक्सर टहलते हुए सिमिट्री तक चली जाती थी। उससे सटी पहाड़ी पर चढ़कर वह बरफ़ में ढँके देवदार वृक्षों को देखा करती थी, जिनकी झुकी हुई शाखाओं

से रुई के गोलों-सी बरफ़ नीचे क़ब्रों पर गिरा करती थी। नीचे बाज़ार जानेवाली सड़क पर बच्चे 'स्लेज़' पर फिसला करते थे। वह खड़ी-खड़ी बरफ़ में छिपी हुई उस सड़क का अनुमान लगाया करती थी जो फ़ादर एलमण्ड के घर से गुज़रती हुई मिलिटरी अस्पताल और डाकघर से होकर चर्च की सीढ़ियों तक जाकर गुम हो जाती थी। जो मनोरंजन एक दुर्गम पहेली को सुलझाने में होता है, वही लतिका को बरफ़ में खोये हुए रास्तों को खोज निकालने में होता था।

"आप बहुत तेज़ चलती हैं, मिस लतिका!" थकान से ह्यू बर्ट का चेहरा कुम्हला गया था, माथे पर पसीने की बूँदें छलक आयी थीं।

"कल रात आपकी तबीयत क्या कुछ खराब हो गयी थी, मिस्टर ह्यू बर्ट?"

"आपने कैसे जाना? क्या मैं अस्वस्थ दीख रहा हूँ?" ह्यू बर्ट के स्वर में हल्की-सी खीज का आभास था। सब लोग मेरी सेहत को लेकर क्यों बात शुरू करते हैं, उसने सोचा।

"नहीं, मुझे तो पता भी नहीं चलता, वह तो सुबह करीमुद्दीन ने बातों-ही-बातों में जिक्र छेड़ दिया था।" लतिका कुछ अप्रतिभ-सी हो आयी।

"कोई खास बात नहीं, वही पुराना दर्द शुरू हो गया था; अब बिल्कुल ठीक है।" अपने कथन की पुष्टि के लिए ह्यू बर्ट छाती सीधी करके तेज़ कदम बढ़ाने लगे।

"डॉक्टर मुकर्जी को दिखलाया था?"

"वह सुबह आये थे। उनकी बात कुछ समझ में नहीं आती। हमेशा दो बातें एक-दूसरे से उलटी कहते हैं। कहते थे कि इस बार मुझे छः-सात महीनों की छुट्टी लेकर आराम करना चाहिए, लेकिन अगर मैं ठीक हूँ तो भला इसकी क्या ज़रूरत है?"

ह्यू बर्ट के स्वर में व्यथा की छाया लतिका से छिपी न रह सकी। बात को टालते हुए उसने कहा, "आप तो नाहक चिन्ता करते हैं, मिस्टर ह्यू बर्ट! आजकल मौसम बदल रहा है, अच्छे भले आदमी बीमार हो जाते हैं।"

ह्यू बर्ट का चेहरा प्रसन्नता से दमकने लगा। उसने लतिका को ध्यान से देखा। वह अपने दिल का संशय मिटाने के लिए निश्चिन्त हो जाना चाहता था कि कहीं लतिका उसे केवल दिलासा देने के लिए ही तो झूठ नहीं बोल रही।

"यही तो मैं सोच रहा था, मिस लतिका! डॉक्टर की सलाह सुनकर तो मैं डर गया। भला छः महीने की छुट्टी लेकर मैं अकेला क्या करूँगा! स्कूल में तो बच्चों के संग मन लगा रहता है। सच पूछो तो दिल्ली में ये दो महीनों की छुट्टियाँ भी काटनी दूभर हो जाती है।"

"मिस्टर ह्यू बर्ट, कल आप दिल्ली जा रहे हैं?"

लतिका चलते-चलते हठात् ठिठक गयी। सामने पोलो-ग्राउण्ड फैला था जिसके दूसरी ओर मिलिटरी के ट्रक कण्टोनमेण्ट की ओर जा रहे थे। ह्यू बर्ट को लगा, जैसे लतिका की आँखें अधमुँदी सी खुली रह गयी हैं, मानों पलकों पर एक पुराना, भूला-सा

सपना सरक आया हो।

"मिस्टर ह्यू बर्ट, आप दिल्ली जा रहे हैं?" इस बार लतिका ने प्रश्न नहीं दुहराया; उसके स्वर में केवल एक असीम दूरी का भाव घिर आया था···

"बहुत अरसा पहले मैं भी दिल्ली गयी थी, मिस्टर ह्यू बर्ट, तब मैं बहुत छोटी थी; न जाने कितने बरस बीत गये। हमारी मौसी का ब्याह वहीं हुआ था। बहुत-सी चीज़ें देखी थीं, लेकिन अब तो सब धुँधला-सा पड़ गया है। इतना याद है कि हम कुतुब पर चढ़े थे। सबसे ऊँची मंज़िल से नीचे झाँका था; न जाने कैसा-सा लगा था। नीचे चलते हुए आदमी चाबी भरे हुए खिलौने-से लगते थे। हमने ऊपर से उनपर मूँगफलियों के छिलके फेंके थे, लेकिन हम बहुत निराश हुए, क्योंकि उनमें से किसी ने हमारी तरफ नहीं देखा। शायद माँ ने मुझे डाँटा भी था, क्योंकि मैं सीढ़ियाँ उतरती हुई रो रही थी। शायद माँ ने नहीं डाँटा था, मैं सिर्फ नीचे झाँकते हुए डर गयी थी। सुना है, अब तो दिल्ली इतनी बदल गयी है कि पहचाना नहीं जाता···"

वे दोनों फिर चलने लगे। हवा का वेग ढीला पड़ने लगा था। उड़ते हुए बादल अब सुस्ताने-से लगे थे; उनकी छायाएँ नन्दादेवी और पंचचूली की पहाड़ियों पर गिर रही थीं। स्कूल के पास पहुँचते-पहुँचते चीड़ के पेड़ पीछे छूट गये, कहीं-कहीं खुबानी के पेड़ों के आसपास बुरुँस के लाल फूल धूप में चमक जाते थे। स्कूल तक आने में उन्होंने पोलो-ग्राउण्ड का लम्बा चक्कर लगा लिया था।

"मिस लतिका, आप छुट्टियों में कहीं क्यों नहीं जातीं? सरदियों में तो यहाँ सब-कुछ विरान हो जाता होगा।"

"अब मुझे यहाँ अच्छा लगता है," लतिका ने कहा, "पहले साल अकेलापन कुछ अखरा था, अब आदी हो गयी हूँ। क्रिसमस की एक रात पहले क्लब में डिनर होता है, लॉटरी डाली जाती है और रात को देर तक नाच-गाना होता है। नये साल के दिन कुमाऊँ रेजीमेण्ट की ओर से परेड-ग्राउण्ड में कार्नीवाल किया जाता है, बरफ़ पर स्केटिंग होती है, रंग-बिरेगे गुब्बारों के नीचे मिलिटरी बैंड बजता है, फौजी अफसर फैन्सी ड्रेस में भाग लेते हैं। हर साल ऐसा ही होता है, मिस्टर ह्यू बर्ट। फिर कुछ दिनों बाद विण्टर-स्पोर्ट्स के लिए अंग्रेज़ टूरिस्ट आते हैं; हर साल मैं उनसे परिचित होती हूँ, वापिस लौटते हुए वे हमेशा वायदा करते हैं कि वे अगले साल भी आएँगे। मैं जानती हूँ कि वे नहीं आएँगे, वे भी जानते हैं कि वे नहीं आएँगे, फिर भी हमारी दोस्ती में कोई अन्तर नहीं पड़ता। फिर··· फिर कुछ दिनों बाद पहाड़ों पर बरफ़ पिघलने लगती है, छुट्टियाँ खत्म होने लगती हैं, आप सब लोग अपने-अपने घरों से वापिस लौट आते हैं, और मिस्टर ह्यू बर्ट, पता भी नहीं चलता छुट्टियाँ कब शुरू हुई थीं, कब खत्म हो गयीं।"

लतिका ने देखा कि ह्यू बर्ट उसकी ओर आतंकित भयाकुल दृष्टि से देख रहा है। वह सिटपिटाकर चुप हो गयी। उसे लगा, मानो वह इतनी देर से पागल-सी अनर्गल प्रलाप कर रही हो।

"मुझे माफ़ करना, मिस्टर ह्यू बर्ट, कभी-कभी मैं बच्चों की तरह बातों में बहक जाती हूँ।"

"मिस लतिका," ह्यू बर्ट ने धीरे-से कहा। वह चलते-चलते रुक गया था। लतिका ह्यू बर्ट का भारी कुण्ठित स्वर सुनकर चौंक-सी गयी।

"क्या बात है, मिस्टर ह्यू बर्ट?"

"वह पत्र··· उसके लिए मैं लज्जित हूँ। उसे आप वापिस लौटा दें। समझ लें कि मैंने उसे कभी नहीं लिखा था।"

लतिका कुछ समझ नहीं सकी, दिग्भ्रान्त-सी खड़ी हुई ह्यू बर्ट के पीले, उद्विग्न चेहरे को देखती रही।

ह्यू बर्ट ने धीरे से लतिका के कन्धे पर हाथ रख दिया। "कल डॉक्टर ने मुझे सब-कुछ बता दिया। अगर मुझे पहले से मालूम होता तो··· तो···" ह्यू बर्ट हकलाने लगा।

"मिस्टर ह्यू बर्ट···" किन्तु लतिका से आगे कुछ भी नहीं कहा गया। उसका चेहरा सफ़ेद हो गया था।

वे दोनों चुपचाप कुछ देर तक कॉन्वेंट स्कूल के गेट के बाहर खड़े रहे।

मीडोज़–पगडण्डियों, पत्तों, छायाओं से घिरा छोटा-सा द्वीप, मानो कोई घोंसला दो हरी घाटियों के बीच आ दबा हो। भीतर घुसते हुए ही पिकनिक के काले आग से झुलसे हुए पत्थर, अधजली टहनियाँ, बैठने के लिए बिछाये गये पुराने अखबारों के टुकड़े इधर-उधर बिखरे हुए दिखाई दे जाते हैं। अक्सर टूरिस्ट पिकनिक के लिए यहाँ आते हैं। मीडोज़ को बीच में काटता हुआ टेढ़ा-मेढ़ा बरसाती नाला बहता है, जो दूर से धूप में चमकता हुआ सफ़ेद रिक्त-सा दिखायी देता है।

यहाँ पर काठ के तख्तों का बना हुआ टूटा-सा पुल है, जिस पर लड़कियाँ हिचकोले खाती हुई चल रही हैं।

"डॉक्टर मुकर्जी, आप तो सारा जंगल जला देंगे," मिस वुड ने अपने ऊँची एड़ी के सैंडल से जलती हुई दियासलाई को दबा डाला, जो डॉक्टर ने सिगार सुलगाकर चीड़ के पत्तों के ढेर पर फेंक दी थी। वे नाले से कुछ दूर हटकर दो चीड़ के पेड़ों की गुँथी हुई छाया के नीचे बैठे थे। उनके सामने एक छोटा-सा रास्ता नीचे पहाड़ी गाँव की ओर जाता था, जहाँ पहाड़ की गोद में शकरपारों-से खेत एक-दूसरे के नीचे बिछे हुए थे। दोपहर के सन्नाटे में भेड़-बकरियों के गलों में बँधी हुई घण्टियों का स्वर हवा में बहता हुआ सुनायी दे जाता था।

घास पर लेटे-लेटे डॉक्टर सिगार पीते रहे।

"जंगल की आग कभी देखी है, मिस वुड, एक अलमस्त नशे की तरह धीरे-धीरे फैलती जाती है!"

"आपने कभी देखी है, डॉक्टर?" मिस वुड ने पूछा, "मुझे तो बड़ा डर लगता है।"

"बहुत साल पहले शहरों को जलते हुए देखा था," डॉक्टर लेटे हुए आकाश की ओर ताक रहे थे, "एक-एक मकान ताश के पत्तों की तरह गिरता जाता है। दुर्भाग्यवश ऐसे अवसर देखने में बहुत कम आते हैं।"

"आपने कहाँ देखा, डॉक्टर?"

"लड़ाई के दिनों में अपने शहर रंगून को जलते हुए देखा था।" मिस वुड की आत्मा को ठेस लगी, किन्तु फिर भी उनकी उत्सुकता शान्त नहीं हुई।

"आपका घर? क्या वह भी जल गया था?"

डॉक्टर कुछ देर तक चुपचाप लेटा रहा।

"हम उसे खाली छोड़कर चले आये थे, मालूम नहीं बाद में क्या हुआ।" अपने व्यक्तिगत जीवन के सम्बन्ध में कुछ भी कहने में डॉक्टर को कठिनाई महसूस होती है।

"डॉक्टर, क्या आप कभी वापिस बर्मा जाने की बात नहीं सोचते?" डॉक्टर ने अँगड़ाई ली और करवट बदलकर औंधे मुँह लेट गये। उनकी आँखें मुँद गयी, और माथे पर बालों की लटें झूल आयीं।

"सोचने से क्या होता है, मिस वुड, जब बर्मा में था तब क्या कभी सोचा था कि यहाँ आकर उम्र काटनी होगी।"

"लेकिन डॉक्टर, कुछ भी कह लो, अपने देश का सुख कहीं और नहीं मिलता। यहाँ आप चाहे कितने वर्ष रह लें, अपने को हमेशा अजनबी ही पायेंगे।"

"डॉक्टर ने सिगार के धुएँ को धीरे-धीरे हवा में छोड़ दिया। "दरअसल अजनबी तो मैं वहाँ भी समझा जाऊँगा, मिस वुड। इतने वर्षों बाद वहां मुझे कौन पहचानेगा! इस उम्र में नये सिरे से रिश्ते जोड़ना काफी सिरदर्दी का काम है; कम-से-कम मेरे वश की बात नहीं है।"

"लेकिन डॉक्टर, आप कब तक इस पहाड़ी कस्बे में पड़े रहेंगे? इसी देश में रहना है तो किसी बड़े शहर में अपनी प्रैक्टिस शुरू कीजिए।"

"प्रैक्टिस बढ़ाने के लिए कहाँ-कहाँ भटकता फिरूँगा, मिस वुड? जहाँ रहो वहीं मरीज मिल जाते हैं। यहाँ आया था कुछ दिनों के लिए, फिर मुद्दत हो गयी और टिका रहा। जब कभी जी ऊबेगा, कहीं चला जाऊँगा। जड़ें कहीं नहीं जमतीं, तो पीछे भी कुछ नहीं छूट जाता। मुझे अपने बारे में कोई ग़लतफ़हमी नहीं है मिस वुड, मैं सुखी हूँ..."

मिस वुड ने डॉक्टर की बात पर विशेष ध्यान नहीं दिया। दिल में वह हमेशा डॉक्टर को उच्छृंखल, लापरवाह और सनकी समझती रही है, किन्तु डॉक्टर के चरित्र में उसका विश्वास है, न जाने क्यों, हालाँकि डॉक्टर ने जाने-अनजाने में इसका कोई प्रमाण दिया हो, याद नहीं पड़ता।

मिस वुड ने एक ठण्डी साँस भरी। वह हमेशा यह सोचती थी कि यदि डॉक्टर इतना आलसी और लापरवाह न होता तो अपनी योग्यता के बल पर काफी चमक सकता था।

इसीलिए उसे डॉक्टर पर क्रोध भी आता था और दुःख भी होता था।

मिस वुड ने अपने बैग से ऊन का गोला और सिलाइयाँ निकालीं, फिर उसके नीचे से अखबार में लिपटा हुआ चौड़ा टॉफी का डिब्बा उठाया, जिसमें अण्डों की सैंडविचिज़ और हैम्बर्ग दबे हुए थे। थर्मस से प्यालों में कॉफी उँड़ेलते हुए मिस वुड ने कहा, "डॉक्टर, कॉफी ठण्डी हो रही है।"

डॉक्टर लेटे-लेटे बुड़बुड़ाये। मिस वुड ने नीचे झुककर देखा, वह कुहनी पर सिर टिकाये चुपचाप सो रहे थे। ऊपर का होंठ ज़रा-सा फैलकर मुड़ गया था, मानो किसी से मज़ाक करने से पहले मुस्करा रहे हों।

उनकी अँगुलियों में दबा हुआ सिगार नीचे झुका हुआ लटक रहा था।

"मेरी, मेरी, वाट डू यू वाण्ट? वाट डू यू वाण्ट?" दूसरे स्टैण्डर्ड में पढ़ने वाली मेरी ने अपनी चंचल, चपल आँखें ऊपर उठायीं। लड़कियों का दायरा उसे घेरे हुए कभी पास आता था, कभी दूर खिंचता चला जाता था।

"आई वाण्ट··· आई वाण्ट ब्लू," दोनों हाथों को हवा में घुमाते हुए मेरी चिल्लायी। दायरा पानी की तरह टूट गया, सब लड़कियाँ एक-दूसरे पर गिरती-पड़ती किसी नीली वस्तु को छूने के लिए भाग-दौड़ करने लगीं।

लंच समाप्त हो चुका था। लड़कियों के छोटे-छोटे दल मीडोज़ में बिखर गये थे। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियाँ चाय का पानी गरम करने के लिए पेड़ों पर चढ़कर सूखी टहनियाँ तोड़ रही थीं।

दोपहर की उस घड़ी में मीडोज़ अलसाया-सा ऊँघता जान पड़ता था। जब हवा का कोई भूला-भटका झोंका आ जाता था, तब चीड़ के पत्ते खड़खड़ा उठते थे। कभी कोई पक्षी अपनी सुस्ती मिटाने झाड़ियों से उड़कर नाले के किनारे बैठ जाता था, पानी में सिर डुबोता था, फिर उड़कर हवा में दो-चार निरुद्देश्य चक्कर काटकर दुबारा झाड़ियों में दुबक जाता था।

किन्तु जंगल की खामोशी शायद कभी चुप नहीं रहती। गहरी नींद में डूबी सपनों-सी कुछ आवाज़ें नीरवता के हल्के झीने परदे पर सलवटें बिछा जाती हैं, मूक लहरों-सी तिरती हैं, मानो कोई दबे पाँव झाँककर अदृश्य संकेत कर जाता है, "देखो, मैं यहाँ हूँ।"

लतिका ने जूली के 'बॉव हेयर' को सहलाते हुए कहा, "तुम्हें कल रात बुलाया था···"

"मैडम, मैं गयी थी, आप अपने कमरे में नहीं थीं।" लतिका को याद आया कि कल रात वह डॉक्टर के कमरे के टैरेस पर देर तक बैठी रही थी और भीतर ह्यू बर्ट पियानो पर सोपाँ का नॉक्टर्न बजा रहा था।

"जूली, तुमसे कुछ पूछना था।" उसे लगा, वह जूली की आँखों से अपने को बचा रही है।

जूली ने अपना चेहरा ऊपर उठाया। उसकी भूरी आँखों से कौतूहल झाँक रहा था।

"तुम आफ़िसर मेस में किसी को जानती हो?"

जूली ने अनिश्चित भाव से सिर हिलाया। लतिका कुछ देर तक जूली को अपलक घूरती रही।

"जूली, मुझे विश्वास है, तुम झूठ नहीं बोलोगी।"

कुछ क्षण पहले जूली की आँखों में जो कौतूहल था, वह भय में परिणत होने लगा।

लतिका ने अपनी जैकट की जेब से एक नीला लिफ़ाफ़ा निकालकर जूली की गोद में फेंक दिया।

"यह किसकी चिट्ठी है?"

जूली ने लिफ़ाफ़ा उठाने के लिए हाथ बढ़ाया, किन्तु फिर एक क्षण के लिए उसका हाथ काँपकर ठिठक गया। लिफ़ाफ़े पर उसका नाम और होस्टल का पता लिखा हुआ था।

"थैंक्यू मैडम, मेरे भाई का पत्र है; वह झाँसी में रहते हैं।" जूली ने घबराहट में लिफ़ाफ़े को अपनी स्कर्ट की तहों में छिपा लिया।

"जूली, ज़रा मुझे लिफ़ाफ़ा दिखलाओ!" लतिका का स्वर तीखा, कर्कश-सा हो आया।

जूली ने अनमने भाव से लतिका को पत्र दे दिया।

"तुम्हारे भाई झाँसी में रहते हैं?"

जूली इस बार कुछ नहीं बोली। उसकी उद्भ्रान्त उखड़ी-सी आँखें लतिका को देखती रहीं।

"यह क्या है?"

जूली का चेहरा सफ़ेद फ़क पड़ गया। लिफ़ाफ़े पर कुमाऊँ रेजीमेण्टल सेण्टर की मुहर उसकी ओर घूर रही थी।

"कौन है यह?" लतिका ने पूछा। उसने पहले भी होस्टल में उड़ती हुई अफ़वाह सुनी थी कि जूली को क्लब में किसी मिलिटरी अफ़सर के संग देखा गया था, किन्तु ऐसी अफ़वाहें अक्सर उड़ती रहती थीं, और उसने उन पर विश्वास नहीं किया था।

"जूली, अभी तुम बहुत छोटी हो।" जूली के होंठ काँपे, उसकी आँखों में निरीह याचना का भाव घिर आया।

"अच्छा, अभी जाओ, तुमसे छुट्टियों के बाद बात करूँगी।"

जूली ने ललचायी दृष्टि से लिफ़ाफ़े की ओर देखा, कुछ बोलने को उद्यत हुई, फिर बिना कुछ कहे चुपचाप वापस लौट आयी।

लतिका देर तक जूली को देखती रही, जब तक वह आँखों से ओझल नहीं हो गयी। 'क्या मैं किसी खूसट बुढ़िया से कम हूँ? अपने अभाव का बदला क्या मैं दूसरों से ले रही हूँ?'

शायद ··· कौन जाने ··· शायद जूली का यह प्रथम परिचय हो उस अनुभूति से, जिसे कोई भी लड़की बड़े चाव से सँजोकर, सँभालकर अपने में छिपाये रहती है; एक अनिर्वचनीय सुख, जो पीड़ा लिये है, पीड़ा और सुख को डुबोती हुई उमड़ते ज्वार की खुमारी, जो दोनों को अपने में समा लेती है ··· एक दर्द, जो आनन्द से उपजा है और पीड़ा देता है।

यहीं इसी देवदार के नीचे उसे भी यही लगा था। जब गिरीश ने पूछा था, "तुम चुप क्यों हो?" वह आँखें मूँदे सोच रही थी। सोच कहाँ रही थी, जी रही थी, उसी क्षण को जो भय और विस्मय के बीच भिंचा था–बहका-सा पगला क्षण। वह अभी पीछे मुड़ेगी तो गिरीश की 'नर्वस' मुस्कराहट दिखायी दे जायेगी। उस दिन से आज दोपहर तक का अतीत एक दुःस्वप्न की मानिन्द टूट जायेगा ··· वही देवदार है, जिस पर उसने अपने बालों के क्लिप से गिरीश का नाम लिखा था। पेड़ की छाल उतरती नहीं थी, क्लिप टूट-टूट जाता था। तब गिरीश ने अपने नाम के नीचे उसका नाम लिखा था; जब कभी कोई अक्षर बिगड़कर टेढ़ा-मेढ़ा हो जाता था, तब वह हँसती थी, और गिरीश का काँपता हाथ और भी काँप जाता था ···

लतिका को लगा, जो वह याद करती है, वही भूलना भी चाहती है; किन्तु जब वह सचमुच भूलने लगती है, तब उसे भय लगता है जैसे कोई चीज़ उसके हाथों से छीने ले जा रहा है–ऐसा कुछ जो सदा के लिए खो जायेगा। बचपन में जब कभी वह अपने किसी खिलौने को खो दिया करती थी, तो वह गुमसुम-सी होकर सोचा करती थी, "कहाँ रख दिया मैंने?" जब बहुत दौड़-धूप करने पर खिलौना मिल जाता, तो वह बहाना करती कि अभी उसे खोज रही है कि वह अभी मिला नहीं है। जिस स्थान पर खिलौना रखा होता, जान-बूझकर उसे छोड़कर घर के दूसरे कोनों में उसे खोजने का उपक्रम करती। तब खोयी हुई चीज़ याद रहती, इसलिए भूलने का भय नहीं रहता था।

आज वह उस बचपन के खेल का बहाना क्यों नहीं कर पाती! बहाना शायद करती है–उसे याद करने का बहाना जो उसे भूलता जा रहा है ··· दिन, महीने बीत जाते हैं, और वह उलझी रहती है, अनजाने में गिरीश का चेहरा धुँधला पड़ता जाता है। याद वह करती है, किन्तु जैसे किसी पुरानी तस्वीर के धूल भरे शीशे को साफ़ कर रही है। अब वैसा दर्द नहीं होता, सिर्फ़ उस दर्द को याद करती है, जो पहले कभी होता था। तब उसे अपने पर ग्लानि होती है। वह फिर जान-बूझकर उस घाव को कुरेदती है, जो भरता जा रहा है, खुद-ब-खुद उसकी कोशिशों के बावजूद भरता जा रहा है ···

देवदार पर खुदे हुए अधमिटे नाम लतिका की ओर निस्तब्ध निरीह भाव से निहार रहे थे। मीडोज़ के घने सन्नाटे में नाले पार से खेलती हुई लड़कियों की आवाज़ें गूँज जाती थीं :

"वाट डू यू वाण्ट? वाट डू यू वाण्ट?"

तितलियाँ, झींगुर, जुगनू ··· मीडोज़ पर उतरती हुई साँझ की छायाओं में पता नहीं चलता, कौन आवाज़ किसकी है? दोपहर के समय जिन आवाजों को अलग-अलग करके पहचाना जा सकता था, अब वे एकस्वरता की अविरल धाराओं में घुल गयी थीं। घास से अपने पैरों को पोंछता हुआ कोई रेंग रहा है। झाड़ियों के झुरमुट से परों को फड़फड़ाता झपटकर कोई ऊपर से उड़ जाता है, किन्तु ऊपर देखो तो कहीं कुछ भी नहीं है। मीडोज के झरने का गड़गड़ाता स्वर ··· जैसे अँधेरी सुरंग में झपाटे से ट्रेन गुज़र गयी हो, और देर तक उसमें सीटियों और पहियों की चीत्कार गूँजती रही हो।

पिकनिक कुछ देर तक और चलती, किन्तु बादलों की तहें-को-तहें एक-दूसरे पर चढ़ती आ रही थीं। पिकनिक का सामान बटोरा जाने लगा। मीडोज़ के चारों ओर बिखरी हुई लड़कियाँ मिस वुड के इर्द-गिर्द जमा होने लगीं। अपने संग वे अजीबोगरीब चीज़ें बटोर लायी थीं। कोई किसी पक्षी के टूटे पंख को बालों में लगाये हुए थी, किसी ने पेड़ की टहनी को चाकू से छीलकर छोटी-सी बेंत बना ली थी। ऊँची क्लास की कुछ लड़कियों ने अपने-अपने रूमालों में नाले से पकड़ी हुई छोटी-छोटी बालिश्तभर की मछलियों को दबा रखा था। जिन्हें मिस वुड से छिपाकर वे एक-दूसरे को दिखा रही थीं।

मिस वुड लड़कियों की टोली के संग आगे निकल गयी। मीडोज़ से पक्की सड़क तक तीन-चार फर्लांग की चढ़ाई थी। लतिका हाँफने लगी। डॉक्टर मुकर्जी जो सबसे पीछे आ रही थे लतिका के पास पहुँचकर ठिठक गये। डॉक्टर ने दोनों घुटनों को ज़मीन पर टेकते हुए सिर झुकाकर एलिज़ाबेथ-युगीन अंग्रेज़ी में कहा, "मैडम, आप इतना परेशान क्यों नज़र आ रही हैं?"

डॉक्टर की नाटकीय मुद्रा को देखकर लतिका के होंठों पर थकी-सी ढीली-ढीली मुस्कराहट बिखर गयी।

"प्यास के मारे गला सूख रहा है, और यह चढ़ाई है कि खत्म होने में नहीं आती।"

डॉक्टर ने अपने कन्धे पर लटकती हुई थर्मस उतारकर लतिका के हाथों में देते हुए कहा, "थोड़ी-सी कॉफी बची है, शायद कुछ मदद कर सके।"

"पिकनिक में आप कहाँ रह गये, डॉक्टर, कहीं दिखायी नहीं दिये?"

"दोपहर-भर सोता रहा, मिस वुड के संग। मेरा मतलब है, मिस वुड पास बैठी थी। मुझे लगता है, मिस वुड मुझसे मुहब्बत करती है।" कोई भी मज़ाक करते हुए डॉक्टर अपनी मूँछों के कोनों को चबाने लगते हैं।

"क्या कहती थीं?" लतिका ने थर्मस से कॉफी को मुँह में उँड़ेल लिया।

"शायद कुछ कहती, लेकिन बदकिस्मती से बीच में ही मुझे नींद आ गयी। मेरी ज़िन्दगी के कुछ खूबसूरत प्रेम-प्रसंग कम्बख्त इस नींद के कारण अधूरे रह गये हैं।"

और इस दौरान जब वे दोनों बातें कर रहे थे, उनके पीछे मीडोज़ और मोटर रोड के संग चढ़ती हुई और बाँस के वृक्षों की कतार साँझ के घिरते अँधेरे में डूबने लगी,

मानो प्रार्थना करते हुए उन्होंने चुपचाप अपने सिर नीचे झुका लिये हों। इन्हीं पेड़ों के ऊपर बादलों के गिरजे का क्रॉस कहीं उलझा पड़ा था। उनके नीचे पहाड़ी की ढलान पर बिछे हुए खेत भागती हुई गिलहरियों-से लग रहे थे, जो किसी की टोह में स्तब्ध ठिठक गयी हों।

"डॉक्टर, मिस्टर ह्यू बर्ट पिकनिक पर नहीं आये?"

डॉक्टर मुकर्जी टार्च जलाकर लतिका के आगे-आगे चल रहे थे।

"मैंने उन्हें मना कर दिया था।"

"किसलिए?"

अँधेरे में पैरों के नीचे दबे हुए पत्तों की चरमराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था। डॉक्टर मुकर्जी ने धीरे-से खाँसा।

"पिछले कुछ दिनों से मुझे सन्देह होता जा रहा है कि ह्यू बर्ट की छाती का दर्द शायद मामूली दर्द नहीं है।" डॉक्टर थोड़ा-सा हँसे जैसे उन्हें अपनी यह गम्भीरता अरुचिकर लग रही हो।

डॉक्टर ने प्रतीक्षा की, शायद लतिका कुछ कहेगी। किन्तु लतिका चुपचाप उनके पीछे चल रही थी।

"यह मेरा महज़ शक है, शायद मैं बिल्कुल गलत हूँ, किन्तु फिर भी यह बेहतर होगा कि वह अपने एक फेफड़े का एक्सरे करा लें; इससे कम-से-कम कोई भ्रम तो नहीं रहेगा।"

"आपने मिस्टर ह्यू बर्ट से इसके बारे में कुछ कहा?"

"अभी तक कुछ नहीं कहा। ह्यू बर्ट ज़रा-सी बात पर चिन्तित हो उठता है, इसलिए कभी साहस नहीं हो पाता।"

डॉक्टर को लगा, उसके पीछे आते हुए लतिका के पैरों का स्वर सहसा बन्द हो गया है। उन्होंने पीछे मुड़कर देखा, लतिका बीच सड़क पर अँधेरे में छाया-सी चुपचाप निश्चल खड़ी है।

"डॉक्टर!" लतिका का स्वर भर्राया हुआ था।

"क्या बात है, मिस लतिका, आप रुक क्यों गयीं?"

"डॉक्टर, क्या मिस्टर ह्यू बर्ट···"

डॉक्टर ने अपनी टार्च की मद्धिम रोशनी लतिका पर उठा दी। उन्होंने देखा, लतिका का चेहरा एकदम पीला पड़ गया है, वह रह-रहकर पत्ते सी काँप जाती है।

"मिस लतिका, क्या बात है, आप तो बहुत डरी-सी जान पड़ती हैं?"

"कुछ नहीं डॉक्टर, मुझे··· मुझे कुछ याद आ गया था।"

वे दोनों फिर चलने लगे। कुछ दूर जाने पर उनकी आँखें ऊपर उठ गयीं। पक्षियों का एक बेड़ा धूमिल आकाश में त्रिकोण बनाता हुआ पहाड़ों के पीछे से उनकी ओर आ रहा था। लतिका और डाक्टर सिर उठाकर पक्षियों को देखते रहे। लतिका को याद

आया, हर साल सरदी की छुट्टियों से पहले ये परिन्दे मैदानों की ओर उड़ते हैं, कुछ दिनों के बीच के इस पहाड़ी स्टेशन पर बसेरा करते हैं, प्रतीक्षा करते हैं बरफ़ के दिनों की, जब वे नीचे अजनबी, अनजाने देशों में उड़ जायेंगे।

क्या वे सब भी प्रतीक्षा कर रहे हैं—वह, डॉक्टर मुकर्जी, मिस्टर ह्यू बर्ट! 'लेकिन कहाँ के लिए, हम कहाँ जायेंगे?'

किन्तु इसका कोई उत्तर नहीं मिला, सिर्फ़ उस अँधेरे में मीडोज़ के झरने का मुतैला स्वर और चीड़ के पत्तों की सरसराहट के अतिरिक्त कुछ सुनायी नहीं देता था।

लतिका हड़बड़ाकर चौंक गयी। अपनी छड़ी पर झुके हुए डॉक्टर धीरे-धीरे सीटी बजा रहे थे।

"मिस लतिका, जल्दी कीजिए, बारिश शुरू होनेवाली है।" होस्टल पहुँचते तक बिजली चमकने लगी थी, किन्तु उस रात बारिश देर तक नहीं हुई। बादल बरसने भी नहीं पाते थे कि हवा के थपेड़ों से धकेल दिये जाते थे। दूसरे दिन तड़के ही बस पकड़नी थी, इसलिए 'डिनर' के बाद लड़कियाँ सोने के लिए अपने-अपने कमरों में चली गयी थीं।

जब लतिका अपने कमरे में गयी, उस समय कुमाऊँ रेजीमेण्टल सेण्टर का बिगुल बज रहा था। उसके कमरे में करीमुद्दीन कोई पहाड़ी धुन गुनगुनाता हुआ लैम्प में गैस पम्प कर रहा था। लतिका उन्हीं कपड़ों में तकिये को दुहर करके लेट गयी। करीमुद्दीन ने उड़ती हुई निगाह से लतिका को देखा, फिर अपने काम में जुट गया।

"पिकनिक कैसी रही, मेम साहब?"

"तुम क्यों नहीं आये, सब लड़कियाँ तुम्हें पूछ रही थीं।" लतिका को लगा, दिनभर की थकान धीरे-धीरे उसके शरीर की पसलियों पर चिपटती जा रही है। अनायास उसकी आँखें नींद के बोझ से झपकने लगीं।

"मैं चला आता तो ह्यू बर्ट साहब की तीमारदारी कौन करता? दिन-भर उनके बिस्तरे से सटा हुआ बैठा रहा और अब वह गायब हो गये।"

करीमुद्दीन ने कन्धे पर लटकते हुए मैले-कुचैले तौलिये को उतारा और लैम्प के शीशों की गर्द पोंछने लगा।

लतिका का अधमुँदी आँखें खुल गयीं। "क्या ह्यू बर्ट साहब अपने कमरे में नहीं हैं?"

"खुदा जाने, इस हालत में कहाँ गये? पानी गरम करने कुछ देर के लिए बाहर गया था, वापिस आने पर देखता हूँ कि कमरा खाली पड़ा है।"

करीमुद्दीन बुड़बुड़ाता हुआ बाहर चला गया। लतिका ने लेटे-लेटे पलंग के नीचे चप्पलों को पैरों से उतार दिया।

ह्यू बर्ट इतनी रात कहाँ गये? किन्तु लतिका की आँखें फिर झपक गयीं। दिन-भर की थकान ने सब परेशानियों, प्रश्नों पर कुंजी लगा दी थी; जैसे दिनभर आँखमिचौनी खेलते हुए उसने अपने कमरे में 'दैया' को छू लिया था, अब वह सुरक्षित थी, कमरे

की चहारदीवारी के भीतर उसे कोई नहीं पकड़ सकता था। दिन के उजाले में वह गवाह थी, मुज़रिम थी, हर चीज़ का उससे तकाज़ा था; अब इस अकेलेपन में कोई गिला नहीं, उलाहना नहीं, सब खींचतान खत्म हो गयी है; जो अपना है, वह बिल्कुल अपना-सा हो गया है, जो पराया है, उसका दु:ख नहीं, अपनाने की फुरसत नहीं···

लतिका ने दीवार की ओर मुँह मोड़ लिया। लैम्प के फीके आलोक में हवा में काँपते परदों की छायाएँ हिल रही थीं। बिजली कड़कने से खिड़कियों के शीशे चमक जाते थे, दरवाज़े चटखने लगते थे, जैसे कोई बाहर से धीमे-धीमे खटखटा रहा हो। कॉरीडोर से अपने-अपने कमरों में जाती हुई लड़कियों की हँसी, बातों के कुछ शब्द··· फिर सब शान्त हो गया, किन्तु फिर भी देर तक कच्ची नींद में वह लैम्प का धीमा-सा 'सी-सी' का स्वर सुनती रही; कब वह स्वर भी मौन का भाग बनकर मूक हो गया, उसे पता न चला।

कुछ देर बाद उसको लगा, सीढ़ियों से कुछ दबी आवाज़ें ऊपर आ रही हैं, बीच-बीच में कोई चिल्ला उठता है, और फिर सहसा आवाज़ें धीमी पड़ जाती हैं।

"मिस लतिका, ज़रा अपना लैम्प ले आइए!" कॉरीडोर के ज़ीने से डॉक्टर मुकर्जी की आवाज़ आयी थी।

कॉरीडोर में अँधेरा था। वह तीन-चार सीढ़ियाँ नीचे उतरी, लैम्प नीचे किया। सीढ़ियों से सटे जंगले पर ह्यू बर्ट ने अपना सिर रखा हुआ था; उसकी एक बाँह जंगले के नीचे लटक रही थी और दूसरी डॉक्टर के कन्धे पर झूल रही थी, जिसे डॉक्टर ने अपने हाथों में जकड़ रखा था।

"मिस लतिका, लैम्प ज़रा और नीचे झुका दीजिए··· ह्यू बर्ट, ह्यू बर्ट!" डॉक्टर ने ह्यू बर्ट को सहारा देकर ऊपर खींचा। ह्यू बर्ट ने अपना चेहरा ऊपर किया। ह्विस्की की तेज़ बू का झोंका लतिका के सारे शरीर को झँझोड़ गया। ह्यू बर्ट की आँखों में सुर्ख डोरे खिंच आये थे, कमीज़ का कॉलर उल्टा हो गया था और टाई की गाँठ ढीली होकर नीचे सरक आयी थी। लतिका ने काँपते हाथों से लैम्प सीढ़ियों पर रख दिया और आप दीवार के सहारे खड़ी हो गयी। उसका सिर चकराने लगा था।

"इन द बैकलेन ऑफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हूँ लव्स मी···" ह्यू बर्ट हिचकियों के बीच गुनगुना उठता था।

"ह्यू बर्ट, प्लीज़··· प्लीज़," डॉक्टर ने ह्यू बर्ट के लड़खड़ाते शरीर को अपनी मज़बूत गिरफ्त में पकड़ लिया।

"मिस लतिका, आप लैम्प लेकर आगे चलिए।" लतिका ने लैम्प उठाया, दीवार पर तीनों की छायाएँ डगमगाने लगीं।

"इन द बैकलेन ऑफ़ द सिटी, देयर इज़ ए गर्ल हूँ लव्स मी!" ह्यू बर्ट डॉक्टर मुकर्जी के कन्धे पर सिर टिकाये अँधेरी सीढ़ियों पर उल्टे-सीधे पैर रखता हुआ चढ़ रहा था।

"डॉक्टर, हम कहाँ हैं?" ह्यू बर्ट सहसा इतनी ज़ोर से चिल्लाया कि उसकी फटती

हुई आवाज़ सुनसान अँधेरे कॉरीडोर की छत से टकराकर देर तक हवा में गूँजती रही।

"ह्यू बर्ट!" डॉक्टर को एकदम ह्यू बर्ट पर गुस्सा आ गया, फिर अपने गुस्से पर ही उन्हें खीज-सी हो आयी और वह ह्यू बर्ट की पीठ थपथपाने लगे।

"कुछ बात नहीं है, ह्यू बर्ट डियर, तुम सिर्फ थक गये हो।" ह्यू बर्ट ने अपनी आँखें डॉक्टर पर गड़ा दीं; उनमें एक भयभीत बच्चे की-सी कातरता झलक रही थी, मानो डॉक्टर के चेहरे से वह किसी प्रश्न का उत्तर पा लेना चाहता हो।

ह्यू बर्ट के कमरे में पहुँचकर डॉक्टर ने उसे बिस्तरे पर लिटा दिया। ह्यू बर्ट ने बिना किसी विरोध के चुपचाप अपने जूते, मोज़े उन्हें उतारने दिये। जब डॉक्टर ह्यू बर्ट की टाई उतारने लगे, ह्यू बर्ट अपनी कुहनी के सहारे उठा, कुछ देर तक डॉक्टर को आँखें फाड़ते हुए घूर रहा था, फिर धीरे से उनका हाथ पकड़ लिया।

"डॉक्टर, क्या मैं मर जाऊँगा?"

"कैसी बात करते हो, ह्यू बर्ट?" डॉक्टर ने हाथ छुड़ाकर धीरे-से ह्यू बर्ट का सिर तकिये पर टिका दिया।

"गुडनाइट, ह्यू बर्ट!"

"गुडनाइट, डॉक्टर!" ह्यू बर्ट ने करवट बदल ली।

"गुडनाइट, मिस्टर ह्यू बर्ट!" लतिका का स्वर सिहर गया।

किन्तु ह्यू बर्ट ने कोई उत्तर नहीं दिया। करवट बदलते ही उसे नींद आ गयी थी।

कॉरीडोर में वापिस आकर डॉक्टर मुकर्जी रेलिंग के सामने खड़े हो गये। हवा के तेज़ झोंकों से आकाश में फैले बादलों की परतें जब कभी इकहरी हो जातीं तब उनके पीछे से चाँदनी की बुझती हुई आग के धुएँ-सी आसपास की पहाड़ियों पर फैल जाती थी।

"आपको मिस्टर ह्यू बर्ट कहाँ मिले?" लतिका कॉरीडोर के दूसरे कोने में रेलिंग पर झुकी हुई थी।

"क्लब की बॉर में उन्हें देखा था। मैं न पहुँचता तो न जाने कब तक बैठे रहते!" डॉक्टर मुकर्जी ने सिगरेट जलायी! उन्हें अभी एक-दो मरीजों के घर जाना था, कुछ देर तक उन्हें टाल देने के इरादे से वह कॉरीडोर में खड़े रहे।

नीचे अपने क्वार्टर में बैठा हुआ करीमुद्दीन माउथ ऑर्गन पर कोई पुरानी फिल्मी धुन बजा रहा था।

"आज दिनभर बादल छाये रहे, लेकिन खुलकर बारिश नहीं हुई।"

"क्रिसमस तक शायद मौसम ऐसा ही रहेगा।" कुछ देर तक दोनों चुपचाप खड़े रहे। कॉन्वेन्ट स्कूल के बाहर लॉन से झींगुरों का अनवरत स्वर चारों ओर फैली निस्तब्धता को और भी अधिक घना बना रहा था। कभी-कभी ऊपर मोटररोड पर किसी कुत्ते की रिरियाहट सुनायी पड़ जाती थी।

"डॉक्टर, कल रात आपने मिस्टर ह्यू बर्ट से कुछ कहा था, मेरे बारे में?"

"वही, जो सब लोग जानते हैं, और ह्यू बर्ट, जिसे जानना चाहिए था, नहीं जानता था···"

डॉक्टर ने लतिका की ओर देखा; वह जड़वत् अविचलित, रेलिंग पर झुकी हुई थी।

"वैसे हम सबकी अपनी-अपनी ज़िद होती है; कोई छोड़ देता है, कुछ लोग आखिर तक उससे चिपके रहते हैं!" डॉक्टर मुकर्जी अँधेरे में मुस्कराये। उनकी मुस्कराहट में सूखा-सा विरक्ति का भाव भरा था।

"कभी-कभी मैं सोचता हूँ, मिस लतिका, किसी चीज़ को न जानना यदि गलत है, तो जान-बूझकर न भूल पाना, हमेशा जोंक की तरह चिपटे रहना, यह भी गलत है। बर्मा से आते हुए जब मेरी पत्नी की मृत्यु हुई थी, मुझे अपनी ज़िन्दगी बेकार-सी लगी थी। आज उस बात को अरसा गुज़र गया और जैसा आप देखती हैं, मैं जी रहा हूँ; उम्मीद है कि काफी अरसा और जिऊँगा। ज़िन्दगी काफी दिलचस्प लगती है, और यदि उम्र की मज़बूरी न होती तो शायद मैं दूसरी शादी करने में न हिचकता। इसके बावजूद कौन कह सकता है कि मैं अपनी पत्नी से प्रेम नहीं करता था। आज भी करता हूँ···"

"लेकिन, डॉक्टर···!" लतिका का गला रुँध आया था।

"क्या, मिस लतिका?"

"डॉक्टर, सब कुछ होने के बावजूद वह क्या कुछ है, जो हमें चलाये चलता है, हम रुकते हैं तो भी अपने बहाव में हमें घसीट लिये जाता है?" लतिका से आगे कुछ नहीं कहा गया, जैसे वह जो कहना चाह रही है, वह कह नहीं पा रही, जैसे अँधेरे में कुछ खो गया है, जो नहीं मिल पा रहा, शायद कभी नहीं मिल पायेगा।

"यह तो आपको फ़ादर एलमण्ड ही बता सकेंगे, मिस लतिका!" डॉक्टर की खोखली हँसी में उनका पुराना सनकीपन उभर आया था।

"अच्छा चलता हूँ, मिस लतिका, मुझे काफी देर हो गयी है।" डॉक्टर ने दियासलाई जलाकर घड़ी को देखा।

"गुडनाइट, मिस लतिका!"

"गुडनाइट, डॉक्टर!"

डॉक्टर के जाने पर लतिका कुछ देर तक अँधेरे में रेलिंग से सटी खड़ी रही। हवा चलने से कॉरीडोर में जमा कुहरा सिहर उठता था। शाम को सामान बाँधते हुए लड़कियों ने अपने-अपने कमरे के सामने जो पुरानी कॉपियों, अखबारों और रद्दी कागज़ों के ढेर लगा दिये थे, वे अब अँधेरे कॉरीडोर में हवा के झोंकों से इधर-उधर बिखरने लगे थे।

लतिका ने लैम्प उठाया और अपने कमरे की ओर जाने लगी।

कॉरीडोर में चलते हुए उसने देखा, जूली के कमरे से प्रकाश की एक पतली शहतीर दरवाज़े के बाहर खिंच आयी है। लतिका को कुछ याद आया। वह साँस रोक जूली के कमरे के बाहर खड़ी रही। कुछ देर बाद उसने दरवाज़ा खटखटाया। भीतर से कोई

आवाज़ नहीं आयी। जूली लैम्प बुझाना भूल गयी थी। लतिका धीरे-धीरे दबे पाँव जूली के पलंग के पास चली आयी। जूली का सोता हुआ चेहरा लैम्प के फीके आलोक में पीला-सा दीख रहा था। लतिका ने अपनी जेब से वही नीला लिफ़ाफ़ा निकाला और उसे धीरे-से जूली के तकिये के नीचे दबाकर रख दिया।

जब वह कॉरीडोर में आयी बारिश की बौछार तेज़ी से पड़ने लगी थी। करीमुद्दीन ने अपने माउथ ऑर्गन पर एक नयी फ़िल्मी धुन छेड़ दी थी। □

# टूटना

**राजेन्द्र यादव**
(जन्म : सन् 1929 ई.)

भूमि : गोडसे ने जिस दिन गांधीजी की हत्या की, उसके तीसरे रोज़ के एक छोटे-से समाचार ने देर तक—या कहूँ आज तक—मेरा ध्यान बाँधे रखा : जिला ··· के कस्बे के दरोगा अताउल्माखाँ ने गोली मारकर आत्महत्या कर ली। उसका ख्याल था कि गांधीजी को सज़ा देने का यह हक़ सिर्फ़ उसे ही था। कहते हैं कि डेढ़ वर्ष बाद ही उसे रिटायर होना था ···

"श्री एन. किशोर वर्मा,
जनरल मैनेजर,
बिजारिया इण्डस्ट्रीज-ग्रुप लिमिटेड,
टैन्थ फ्लोर ···"

चस्सी-चस्सी ··· पता एकदम सही था। पलटकर देखा, लिफ़ाफ़ा जहाँ चिपका था, वहाँ मैला हो गया था। हाथ में पेपर-नाइफ़ लिये ही ऊपर रोशनी की तरफ़ उठाया, किधर से फाड़ा जाये कि खत न फटे। अन्दर कहीं जगह खाली नहीं थी। कुछ तय करे-करे कि टेलीफ़ोन बजा और कोई चीज़ करेण्ट की तरह तड़पकर खून में दौरा लगा गयी। पते के ऊपर लाल स्याही से लिखे 'पर्सनल' पर निगाहें टिकायें, हाथ का पेपर-नाइफ़ उस पर आड़ा रख दिया। वह खुद भी जब पान-सनी जीभ से लिफ़ाफ़े का गोंद गीला किया करता था, तो चिपकाने पर लाल धारी उभर आती थी, हालाँकि लीना को कभी भी उसकी यह हरकत ··· लीना का बाप कहता, 'गँवार!' ···

वही टेलीफोन है क्या ···?

ऑपरेटर ने बताया कि दिल्ली की ट्रंक-लाइन मिल गयी है। अनजाने ही एक दराज़ ज़रा-सी खोलकर जूता टिकाया और रिवॉल्विंग चेयर पर पीछे झोंक लेकर, 'हैलो, गुड मार्निंग, मिस्टर बर्टन ···' के साथ जब बातें कीं, तो दिल धड़-धड़ कर रहा था। घबराहट को तो यह सोचकर जीत लिया कि हुँह, ऐसी आखिर क्या बात है! बड़े-बड़े

गवर्नर-वॉयसरायों से दीक्षित जब ऐसे रौब से बातें कर सकता था, तो वह क्यों नहीं कर कर सकता? मान लिया, जार्ज मैक्फेरी बर्टन इन-कॉरपोरेशन, बोस्टन का गवर्निंग डायरेक्टर छोटा-मोटा आदमी नहीं होता, लेकिन खा तो नहीं जायेगा! यों इस समय उसकी बात का दुहरा महत्त्व है। बारह करोड़ रुपये का प्लाण्ट बैठेगा-साझे में। पिछले साल सेठजी अमरीका गये थे, तभी इस साझे की बात का बीज पड़ा था। लेकिन इस बार हो सकता है उसे बर्टन के साथ ही जाना पड़े-अपनी कम्पनी की ओर से या · · · या · · · उसके सामने फिर एक बहुत बड़ा चान्स आ गया है।

ऊपर से वह किसी तरह 'या:-या:' · · · राइट-राइट ' · · · बट यू सी, मिस्टर बर्टन · · ·' के साथ अपनी बात करता रहा, लेकिन टाई की नॉट टटोलती उसकी अँगुलियाँ काँपती रहीं। छः मिनट बाद जब उसने 'सो काइण्ड ऑफ़ यू' कहकर लाइन काटी, तो माथे पर भाप जम आयी थी, लेकिन चेहरे पर सन्तोष था। 'च्स्सी! च्स्सी!' पीछे कुरसी की पीठ पर लटके कोट की जेब से रूमाल निकालकर मुँह पर फेरा · · · एक घूँट पानी पिया। दीक्षित साहब अपने को लाख खुदा लगाते रहें, इस आदमी से बातें करें, तो नानी याद आ जाये।

पिछले हफ्ते बर्टन कलकत्ता आये थे। 'लीग ऑफ़ कॉमर्स' की मीटिंगें, दुनियाभर के कॉकटेल्स डिनर्स का इन्तज़ाम उसने ही तो किया था। बीच-बीच में व्यावसायिक बातें भी होती रहीं। उस खुर्राट, तेज़ और अनुभवी व्यवसायी के सामने उसी धैर्य और स्तर से टिके रहना सचमुच कम कौशल और कॉन्फिडेंस की बात नहीं थी, हर क्षण नर्वस हो जाने का खतरा रहता। सही है कि सारे आदेश सेठों के थे और वह उनका नौकर था; लेकिन एकाध मीटिंग-पार्टी में उपस्थित हो जाने के अलावा उन्होंने किया क्या? और मोटे-मोटे नफ़े-नुक़सान, 'ले लो, बेच दो' के अलावा उन्हें पता क्या कि आज की व्यावसायिक दुनिया है कहाँ, कैसी है? नीम की मोटी दातुन रोंथतें हुए 'विश्वमित्र' पढ़ लेना और बात है और शिष्टाचार की बारीकियों, उठने-बैठने के तौर-तरीकों को समझना दूसरी बात · · · देसी आदमी शायद आपके पैसों के रोब में आ भी जाये, लेकिन ऐसा व्यक्ति आपके पैसे को क्या गिनेगा, जो सात समन्दर पार से आपके यहाँ आकर करोड़ों रुपये लगा रहा है? किशोर जानता है, अगर यह साझा हो गया, तो कहीं इसमें उसका बहुत बड़ा हाथ होगा और हो सकता है उस नयी फ़र्म में उसे ही सबसे महत्वपूर्ण पद सँभालना हो · · · बर्टन के साथ मामलान भी पटे, तो भी सेठजी को उससे ज़्यादा योग्य और विश्वस्त आदमी कहाँ मिलेगा? और मान लो अगर · · अगर? · · ·

उसका मन एक नये सपने से थरथरा उठा। जब वह बर्टन को फैक्टरी की साइट दिखाने ले गया था, तो बहुत-सी बात करने का मौक़ा मिला था-व्यक्तिगत और व्यावसायिक दोनों। 'सम ऑफ़ अवर कैलीग्ज़ रिपीटेडली एडवाइस्ड अस, हॅल, नॉट टु हैव ऐनी सच अण्डर्टेकिंग-आइ मीन-इन-कोलेबोरेशन विद इंडियन बिज़नेस फ़ोक। दे आर नॉट सपोज़्ड टु बी फेयर-माइण्डेड · · ·' बर्टन ने हँसते हुए कहा था, "स्पेशली योर

हॅल ऑफ़ मारवारीज़ ··· हम लोग मशीनें भेज सकते है।, इंजीनियर्स और आर्कीटेक्ट भेज सकते हैं, इन्हें बिज़नेस ऐथिक्स तो नहीं सिखा सकते; सारा एटीट्यूड तो नहीं बदल सकते। पैसा हम भी कमाते हैं, और इनसे चौगुना कमाते हैं, बट नॉट दैट फिल्दी वे। पैसा कमाना बहुत बड़ी कला है, लेकिन खर्च करना उससे बड़ी कला। ··· वी हायर ए मैन ऑर फ़ायर ए मैन–करैक्ट; बट वी पे द प्राइस इन ईदर केसेज़। खर्च करने के नाम पर ये लोग सिर्फ़ घूस-रिश्वत देना जानते हैं। क्योंकि मैण्टली दे आर स्टिल पैटी ट्रेडर्स एण्ड ग्रॉसर्स ··· डिवॉइड ऑफ़ कल्चर ऑर एज्यूकेशन ··· (इसका अपने-आप उसके मन में अनुवाद हुआ 'डण्डीमार') इण्डस्ट्री और इण्डस्ट्रियल कल्चर क्या होती है, इसका अभी इन्हें क ··· ख ··· ग ··· भी नहीं आता। हम तो चाहते हैं, इन्हें कुछ दिनों अपने यहाँ रखकर कुछ इंटेलिजेण्ट किस्म के लोगों को आधुनिक व्यवसाय के तरीके और व्यापार-व्यवस्था सिखायें। आप लोगों की सरकारी नीति आड़े आती है, वरना हमें तो किसी भी सहयोग की ज़रूरत नहीं है ··· फिर भी मैं व्यक्तिगत रूप से चाहता हूँ कि तुम एक बार आकर हम लोगों के काम का आइडिया तो लो ···'

बर्टन ने ये सारी बातें उसे बहुत विश्वास में लेकर, मज़ाक का पुट मिलाकर, दोस्ती का वास्ता देते हुए टुकड़ों-टुकड़ों में कही थीं; लेकिन किशोर को सारा रवैया पसन्द नहीं आया था–जैसे साला दान कर रहा हो। इस तरह की भीतरी और बाहरी प्रतिक्रियाओं के बावजूद वह उनके पीछे छिपे आशय को भी समझ रहा था। फिर जब बर्टन ने कहा, "हमें टॉप-रिस्पौन्सिबल पोस्ट्स के लिए ऐसे आदमियों की ज़रूरत पड़ेगी, जो काम के हमारे तौर-तरीके को भी जानते हो–गाईज़ लाइक यू (तुम्हारे जैसे नौजवान) ···' तब तो कुछ समझने को नहीं ही रह गया ···

इसलिए जब उसने दिल्ली के फ़ोन के बाद ही ऑपरेटर से 'एटलस ट्रेवेल्स' माँग कर सुबह की फ्लाइट से जैसे भी हो, दिल्ली का टिकट माँगा, तो कहीं कुछ कचोट रहा था, कुछ गलत कर रहा है ··· और उसी कचोट को दबाने के लिए उसने फ़ोन पर सेक्रेटरी को आदेश दिया, "रामन, किसी को फौरन एटलस भेज दो। फ़ोन पर बात हो गयी है। किसी नाम में हो, सुबह की फ्लाइट से एक टिकट ··· ऊपर से जो लगे लगा देना।"

दीक्षित की ऐसी-कम-तैसी ··· उसने परम तृप्ति के भाव से ग़हरी साँस फेंककर शरीर ढीला छोड़ दिया। सामने के दाँतों की सन्धि से जीभ की नोंक अड़ाकर हवा खींची–च्सी-च्सी! साथ ही ख्याल आया, उसकी इस हरकत को किसी ने देख-सुन तो नहीं लिया? चैम्बर में कोई नहीं था, पीछे से आती एयर-कण्डीशनर की बेमालूम-सी आवाज़ थी, टीक-प्लाई-मढ़ी दीवारों वाली छत के जालीदार कटाव में जलते नियॉन ट्यूब्स थे और मेज़ पर रखे तीन टेलीफ़ोन, टेबल-लैम्प, कलेण्डर, ट्रे, सभी साफ थे ··· इस बार उसने और भी जोर से 'च्सी-च्सी' किया और बच्चों जैसी अपनी

शैतानी पर मुस्करा पड़ा। इस मुस्कराहट के साथ ही भीतर की कचोट घुल गयी—कुछ नहीं जी, जार्ज मैक्फ़ेरी बर्टन इन-कॉरपोरेशन की नौकरी इस सटोरिये की नौकरी से हर हालत में अच्छी रहेगी ··· यहाँ क्या है? जब तक सेठ के हाथों में नाचो, तब तक ठीक है। जहाँ ज़रा भी अपना कुछ दिखाना चाहो, वहीं ··· और दूसरी कम्पनियों के जनरल मैनेजरों के मुकाबले पैसे बहुत कम ··· किसी को बताओ, तो शर्म आये ··· ये एयरकण्डीशण्ड चैम्बर, सेक्रेटरी, दो बैरे, फर्निश्ड फ्लैट, ड्राइवर, गाड़ी और दो सौ आदमियों का स्टाफ तो जो भी यहाँ होता, उसे ही मिलता ··· मुझे तो वही ढाई हज़ार और साल में बीसेक हज़ार ऊपर देते हैं ··· लेकिन बर्टन में इससे दुगुना मिलेगा, तभी जाने की बात सोची जायेगी, नहीं तो ··· मगर इतना ही मिले, तब भी चले जाना चाहिए। बहुत बड़ी बात तो यह है कि बर्टन साला हमेशा यहीं हिंदुस्तान में थोड़े ही बैठा रहेगा, सेठ की तरह सिर पर ··· फिर अमेरिकन फर्म की बात ही अलग है ···

और इस तरह का धर्म-संकट उसे हर बार नौकरी बदलते हुए आया है, लेकिन हर बार कचोट पहले से कम तीखी होती गयी है ··· नहीं, वह किसी को धोखा नहीं दे रहा ··· उसे तो सिर्फ एक आदमी को दिखा देना है ··· ऐसा अवसर बार-बार नहीं आता और वह किसी भी अवसर को छोड़ना एफोर्ड नहीं कर सकता। उसकी आँखों में लम्बे जहाज़ की तरह सरकती शानदार गाड़ी तैरती चली गयी ··· ('लाइफ' और 'टाइम' में उसने कई बार उन्हें छाँटा है।) ··· जिस लेटेस्ट मॉडल की अमेरिकन गाड़ी में बैठकर किशोर घूमा करेगा, वह सेठ रामजीदास बिजारिया को दो साल बाद मिल पायेगी ···

उत्तेजना की झुरझुरी जब उससे नहीं सही गयी, तो वह कुरसी को अपने पीछे घूमते छोड़कर, झटके से उठकर खड़ा हो गया ··· फ़ॉर टॉप-रिस्पौन्सिबल पोस्ट ··· गाई लाइक यू ··· गाई लाइक यू ··· मन हुआ कि जूते की ऐड़ी पर एक चकफेरी लगा जाये और सीटी बजाने लगे ··· लेकिन तभी उसे किसी का ध्यान आ गया, जो उत्तेजना के ऐसे आवेश को कभी भी यों नहीं प्रकट होने दे सकता था। वह पीछेवाली वैनीशियन चिक खींचकर शीशे के पार देखता रहा ··· दस मंज़िल की ऊँचाई से हर चीज़ का खिलौने-जैसा लगना अब उसे चकित नहीं करता ··· पतली दरार-जैसी सड़कों में काली-भूरी गाड़ियाँ कीड़े-मकोड़ों की तरह लगती हैं ··· सड़क पर राइटर्स-बिल्डिंग चाहे जितनी ऊँची हो; लेकिन यहाँ से ज़मीन से ज़रा-सी ही उठी लगती हैं, जिसकी वजरी-बिछी चौड़ी छत पर हज़ारों गमलों को दर्जनों मजदूर इधर से उधर रख रहे हैं, पूरा बगीचा लगा रखा है ··· बर्टनवाला मामला हो जाये, तो छः-सात हजार आदमी तो अपनी कम्पनी में भी होंगे ··· उसके नीचे ··· तब वह अगले बँगले में खूब बड़ा बगीचा लगायेगा और नियम से बाग़वानी किया करेगा ··· साला पेट निकलने लगा है, इसे कम करना होगा ··· गाई लाइक यू—उस जैसे टॉप आदमी की पर्सनेलिटी स्मार्ट होनी चाहिए ··· और उसकी अँगुली अचानक नाक के नीचे वाले मस्से पर चली गयी ··· वह उसे टटोलता रहा ··· बहुत बार कटवा दिया है, हर बार बढ़ जाता है, डॉक्टर बनर्जी

कहते हैं, हर्ज़ क्या है! उसे क्या पता कि चेहरे पर यह कैसा लगता है ··· लाड़ में आकर लीना इसे दो अँगुलियों में दबाकर पूछती थी, 'इसमें दर्द नहीं होता? तुम्हारी पर्सनेलिटी में बस यही ···'

अचानक उसे 'पर्सनल' वाले लिफाफे का ख्याल हो आया। मेज़ से उसे उठाकर वह फिर वहीं आ खड़ा हुआ। नाइफ वहीं छूट गया था, इसलिए जेब से गुच्छा निकाल एक पतली-सी चाबी से होशियारी से खोला, खत निकाला और फटा लिफाफा मसलकर बाहर फेंक दिया। चार तह किया हुआ मोटा-सा कागज़ था और बिना किसी सम्बोधन के अंग्रेज़ी में एक लाइन घसीट दी गयी थी, "का'ण्ट वी फॉरगेट द पास्ट!" नीचे 'लीना किशोर' और खत के एकदम नीचे, 'डिपार्टमेण्ट ऑफ़ इंगलिश, सेण्ट मेरी गर्ल्स कॉलेज' और तब शहर का नाम।.उसने निहायत निरुद्विग्न रहकर समझा—क्या हम अतीत को भूल नहीं सकते? कागज़ को उलटा-पुलटा और कुछ नहीं ··· वह यों ही चुपचाप बाहर देखता, खोया-खोया रहा ··· आठ साल में यह पहला पत्र है।

पीछे खट-खट हुई। मेज़ पर बहुत-से टाइप किये हुए कागज़ पेपरवेट से दबाकर रामन लौट रहा था। किशोर को घूरते देख रुका। किशोर ने मेज़ के पास आकर खड़े होकर ताजे टाइप किये हुए अक्षरों पर निगाहें टिकाये पूछा, "यह क्या है?"

"रोजर्स-नील वाले कागज़ हैं, लंच के पहले माँगे हैं।" रामन ने बताया, तब तक किशोर ने खुद भी पढ़ लिया था। रोजर्स एण्ड नील, सोलिसिटर्स से लंच से पहले एपॉइण्टमेण्ट था। फ़ैरो-एलॉयवालों ने अभी तक रुपया नहीं दिया। झंझट था, हज़ार रुपये रोज़ इण्टरेस्ट कौन दे? बैंक बिजारिया-इण्डस्ट्रीज से माँगता था, लेकिन जब एलॉयवालों ने पेमेण्ट ही नहीं किया, तो इण्टरेस्ट भी उन्हीं के ज़िम्मे जायेगा ··· सारी चीज़ें उसके दिमाग में झटके से आ गयी, "ओः हाँ, मेरे दिमाग से ही उतर गया था ··· !" और वह कागज़ों को गौर से देखता रामन द्वारा घुमाकर सीधी की गयी कुरसी पर बैठ गया। घड़ी देखा, एक घंटा है। सारे कागज़ इसी बीच तैयार हो जाने हैं ···

"क्या?" जैसे ही रामन ने नीचे पड़ा कागज़ उठाकर बहुत धीरे-से मेज पर रखा, किशोर चौंककर पूछ बैठा। असल में वह भूल ही गया था कि रामन अभी तक वहीं है। कागज़ पर निगाह गयी—अरे, लीनावाला खत है! शायद खिसककर नीचे गिर गया था। रामन ने पढ़ तो नहीं लिया? फौरन बोला, "तुम चलो ··· रोजर्स-नील के यहाँ शिपिंग-क्लेमवाले कागज़ों का भी ख्याल रखना ···" और जब रामन ने दरवाज़ा खोला, तो कुछ सोचते हुए धीरे-से कहा, "और सुनो ···" फिर कई सैकण्ड याद करता रहा कि उसे रामन से क्या बात कहनी थी, "हाँ, वो एटलस में भेज दिया किसी को?"

"जी ···"

बिना रामन का जवाब सुने, मोटे फ्रेम का चश्मा नाक पर चढ़ाकर, हाथ में खुला क़लम लिये वह टाइप किये हुए अक्षरों को गौर से पढ़कर दस्तखत करने लगा था ··· अब जानती है न, कि मुझे चार, साढ़े चार हज़ार महीना पड़ता है ··· काण्ट

वी फ़ॉरगेट द पास्ट ··· अब तो भूलने की बात आयेगी ही ···

ट्रं-ट्रं–टेलीफोन बजा, तो उसने बिना उधर देखे ही हाथ बढ़ाकर टटोलते हुए चोंगा उठाया, "किशोर ···"

"साढ़े पाँच पर आ रहे हो न ···?" क्राउन इन्श्योरेन्स का गर्ग था।

"कहाँ?" किशोर सचमुच भूल गया था।

"प्रिंसेस, और कहाँ ···!" गर्ग झुँझला उठा, "अजब आदमी हो ···"

"यार, आज तो बहुत ही फँसा हूँ ···"

"तेरा हमेशा यही रोना होता है।" गर्ग झुँझला उठा, "अच्छा यार तू जनरल मैनेजर हुआ! ··· हमने मिसेज़ लालचन्दानी को भी बुला लिया है ···"

"आई एम अण्डर-स्टाफ्ड, जानता है मारवाड़ी कन्सर्न है यह। क्या करूँ, अपनी चिट्ठियाँ तक देखने की फुरसत नहीं मिलती।" उसे लीना के खत का ध्यान आ गया, "अच्छा, यू डॉण्ट माइण्ड, मैं ज़रा लेट हो जाऊँगा ···"

"ओऽयस," गर्ग खुश हो गया, "तुझसे, यार, एक सलाह करनी थी। मिसेज़ लालचन्दानी की बहन वाला ही चक्कर है। तुझसे कहा था अपने दफ्तर में रख लें–ऑपरेटर-कम-सिसेप्शनिस्ट ···"

"मुझे और पिटवा! सचमुच की लड़की की बात दूर है, जानता है यहाँ लड़की की तस्वीर तक नहीं लगती। फिर ··· जैसी बड़ी बहन है, वैसी ही छोटी भी होगी" उसने मज़ाक तो कर दिया, लेकिन ख्याल आया, मान लो ऑपरेटर टैप कर रहा हो? जनरल मैनेजर साहब ··· उसे इस गर्ग का तू-तू करके बात करना भी पसन्द नहीं है। लेकिन आज कुछ कह भी नहीं सकता। पुराना दोस्त है, जब उसे कुल जमा छः सौ रुपये मिलते थे तब का। इसलिए वह खुद गर्ग से बहुत ही इज़्ज़त से बात करता है, लेकिन कमबख्त हिण्ट ही नहीं लेता ··· कहीं दीक्षित साहब के सामने ··· अचानक फ़ोन पर उसकी आवाज़ कड़ी और सख्त हो गयी, और वह सामनेवाले कागजों को पढ़ता हुआ 'हाँ, हूँ' के संक्षिप्त उत्तर देता रहा। गर्ग को लालचन्दानी को लेकर कहीं जाना था, इसलिए किशोर की गाड़ी की ज़रूरत थी। दो घंटे के लिए। उसे ख्याल भी नहीं कि कब उसने कहा, "यह सब तो शाम को सुनेंगे, लेकिन आई का'ण्ट बिलीव ··· मुझे विश्वास नहीं होता कि उस जैसी ज़िद्दी औरत ऐसा लिखेगी ···"

"कौन? कौन?" गर्ग चौंककर बोला, "कौन ऐसा लिखेगी?"

अचानक किशोर ने जीभ काट ली ··· फौरन बोला, "सॉरी, यह एक साहब यहाँ बैठे हैं। उनकी बात का जवाद दे रहा था। अच्छा, तो शाम को मिल रहे हैं ···" फिर उसने झट फोन रख दिया। गज़ब हो गया न ···! क्या बात मुँह से निकल गयी ···? एकदम सामने बैठे साहब की बात न सूझती, तो? यही प्रत्युत्पन्न मति ही तो उसे यहाँ ले आ सकी है ··· कोई दूसरा होता, तो हाथ-पाँव फूल जाते ··· च्सी! च्सी! उसने दराज़ खोलकर पाइप निकाला, कागज़ों पर निगाहें टिकाये-टिकाये ही तम्बाकू भरी और

दाँतों में दबाकर जलाने लगा ··· यह पाइप उसे बर्टन ने दिया था। तभी बैरे ने आकर धीरे-से एक चिट सामने रख दी ···

"भेज दो।" बैरा चला गया, तो ख्याल आया कि जनरल मैनेजर को एकदम किसी को नहीं बुलाना चाहिए–लगेगा, भीतर खाली बैठा था। चिट पर नाम के आगे 'जयन्त' और बिज़नेस के सामने 'बाई एपॉइण्टमेण्ट' लिखा था। इसका तो उसे ख्याल ही नहीं कि आज का समय दिया था। चिट रखी, तो रामन का पेपरवेट से दबाया गया खत सामने था, "का'ण्ट वी फॉरगेट द पास्ट?" जल्दी से मोड़कर पीछे लटके कोट की जेब में डाल दिया–हर बार सामने पड़ जाता है ···

"गुड मॉर्निंग, सर ···" डरते-डरते-से एक नवयुवक ने इस तरह प्रवेश किया, मानो खेल शुरू हो जाने के बाद किसी ने सिनेमा-हॉल में कदम रखा हो, टटोलते हुए। पाइप बुझ गया था, उस पर जली माचिस छुलाये तीन-चार साँस खींचते-खींचते किशोर ने धीरे से सिर हिलाकर नमस्कार की स्वीकृति दी और एक हाथ से बैठने का इशारा किया।

"जी, वो फ़र्नीचर वाले कोटेशन्स लाया हूँ," सिर झुकाकर ब्रीफ-केस के कागज़ निकालते-निकालते जयन्त बोला। वह ऑफिस के फर्नीचर के डिजाइन, नक्शे और दाम बताता रहा। गेहुँआ दुबला-सा नवयुवक, हैण्डलूम की टाई, टैरिलीन की आसमानी कमीज, काली पतलून। पाइप के कश लगाता हुआ किशोर कभी उसके पीलापन लिये हुए सँवारे बालों को देखता और कभी दाहिने हाथ में पड़ी लोहे की अँगूठी को, जिसमें नग की जगह स्फ़िंक्स का चेहरा बना हुआ था। परसों किशोर को जयन्त अपनी पत्नी के साथ न्यू मार्केट में मिल गया था। भरे शरीर की सुन्दर हँसमुख युवती थी। जयन्त के हाथ में पैकेट थे और माला के पास पर्स। परिचय हुआ। उसे जयन्त का साफ़-सुथरा, शिष्ट तौर-तरीका शुरू से ही पसन्द है। माला के परिचय के बाद ही लगा, जैसे जयन्त से उसे स्नेह भी हो। पता नहीं, कैसे भ्रम हो गया कि माला को बैडमिण्टन खेलना पसन्द है और उसे .क्रीम खाने का शौक है।

जयन्त के बढ़े हुए हाथ से कागज़ लेकर लापरवाही से पूछा, "हाउ इज़ योर मिसेज़?"

"फाइन, थैंक्यू!" जयन्त ने पिनकुशन से पिन खींचकर दो कागज़ पिन किये और सामने सरका दिये, "एक स्कूल में पढ़ाती हैं–म्यूज़िक।"

"क्यों, मॉडर्न-रिनोवेटर्स तुम्हें ठीक पैसे नहीं देते क्या?" उसे खुद आश्चर्य हुआ कि वह यह सब क्यों पूछ रहा है।

"लेकिन ऑफिस-टु-ऑफिस चक्कर लगाने का काम उसे पसन्द नहीं है।" अचानक जयन्त की आँखों में एक चमक आयी, "आपके यहाँ कभी कोई जगह हो, तो ···"

किशोर को एकदम काम और समय का साथ ही ख्याल आया। दस्तखत करने से पहले कोने में कुछ लिखता हुआ बोला, "ज़रूर।" फिर सोचने लगा, बर्टन वाली

कम्पनी में जयन्त को लिया जा सकता है। उसे जयन्त पसन्द भी है। ज़रूरत तो पड़ेगी ही··· "आई लाइक यू, तुम्हारी मिसेज़ बहुत अच्छा गाती हैं क्या?" जाने क्यों, उसके मन में आया कि कभी जयन्त की पत्नी को एक बहुत खूबसूरत रॉ-सिल्क की साड़ी भेंट देगा।

"जी हाँ···" जयन्त ने गद्‌गद होकर कहा, "आपको एक बार हम लोग बुलायेंगे। दो-एक बार रेडियो पर भी प्रोग्राम हुआ है···"

"डज़'ण्ट शी हेट यू?" जब तक वह सचेत हुआ, वाक्य उसके मुँह से निकल चुका था··· उसने जल्दी ने बुझे पाइप से दो-एक कश खींचकर कहा, "आई मीन, योर वर्क··· तुम ये फ़र्नीचर और दूसरी चीजों के एस्टीमेट देते फिरते हो, उन्हें बुरा तो लगता ही होगा?"

"जी··· जी, मैंने बताया न, बहुत पसन्द तो नहीं है। बात यह है जी, उसके घरवाले ज़रा-से अच्छे खाते-पीते लोग हैं, सो उसे कहीं मेरे काम से संकोच होता है।" लेकिन जयन्त का चेहरा देखकर ही किशोर को लग गया कि बात सँभली नहीं है। उसे आश्चर्य और अफसोस होता रहा कि कैसे वह बात उसके मुँह से निकल गयी? क्या हो गया उसे? जयन्त की बातों के जवाब में 'हाँ-हूँ' करके उसने जल्दी से दस्तखत किये, फिर झटके से बैरे की घंटी बजाकर उठते हुए बोला, "माफ़ करना जयन्त, इस वक्त जल्दी में हूँ। मुझे लंच से पहले ही रोजर्स-नील के यहाँ जाना है।" और बिना उत्तर की राह देखे दोनों कन्धों पर कोट चढ़ाते हुए बैरे को आदेश दिया, "खिलावन, रामन से कह दो, कागज़ लेकर नीचे गाड़ी में चलेगा। जयन्त, तुम दत्ता बाबू से मिलकर उन्हें ही सारी बातें समझा जाना।" पाइप ऐश-ट्रे में झाड़कर कोट की जेब में रखा, तो तह किये कागज़ से हाथ का स्पर्श हुआ··· का'ण्ट वी फॉरगेट द पास्ट?··· डज'ण्ट योर वाइफ हेट यू, आई मीन योर वर्क? बीवी तुमसे, मेरा मतलब तुम्हारे काम से घृणा नहीं करती? गाई लाइक यू··· बड़े बाबू के चैम्बर तक आते-आते यही वाक्य उसके कानों में गूँजते रहे··· बड़े बाबू, यानी रामजीदास के भाई कन्हैयालाल बिजारिया, मैनेजिंग डायरेक्टर···

रामन ड्राइवर के पास बैठा था। पीछे वह अकेला बैठा-बैठा पाइप पीता रहा। चौराहे की लाल रोशनी ने जब रोका, तो अचानक कुछ याद आ गया हो, इस तरह कहा, "रामन, मैक्फ़ेरी बर्टनवाली फ़ाइल आते ही एकदम तैयार कर देनी है। शाम की लोकल डायरेक्टर्स की मीटिंग है। घर पर बोल देना, शायद कुछ देर हो जाये··· और हाँ, क्राउनवाले गर्ग साहब को मना कर देना कि मैं शायद आ नहीं पाऊँगा।" फिर ड्राइवर को आदेश दिया, "गाड़ी पाँच बजे गर्ग साहब को चाहिए। सात, साढ़े सात तक यहीं आ जाना, हमें थोड़ा रुकना होगा।" वह जानता है, मिसेज़ गर्ग, यानी निर्मला भाभी ऐसी महिला हैं, जिन्हें देखकर श्रद्धा होती है—हताशा के अनेक क्षणों में उन्होंने ही किशोर

को बिखरने और टूटने से बचाया है··· लेकिन जाने क्या चीज़ है, जो उसके भीतर सन्तुष्ट होती है और वह जो यों गर्ग को लालचन्दानी के साथ घूमने को गाड़ी दे देता है, उसे इसमें कुछ भी अनुचित नहीं लगता··· लेकिन आज मानो विशेष तृप्ति हुई··· उसने रामन से मज़ाक करना चाहा, इस उलटे-सीधे टाइम से तो तुम्हारी पत्नी खासी बोर हो जाती होगी, हो सकता है उस बेचारी ने आज कोई प्रोग्राम बना रखा हो··· वह जेब से डायरी निकालकर कुछ देखता रहा, 'तुम्हारी पत्नी को देर से जाने पर शक नहीं होता?' उसे लगा, जैसे उसने यह वाक्य मज़ाक में रामन से कह दिया हो··· लेकिन कहा नहीं था, सिर्फ़ सोचकर रह गया था, क्योंकि प्रतीक्षा के बाद भी रामन की ओर से कोई जवाब नहीं आया। ऐसा मज़ाक तो वह कभी कर ही नहीं सकता। तम्बाकू भरने के लिए पाउच को दोनों जेबों में देखा, तो लगा, सुबह से जिस चीज़ को वह टाले जा रहा है, वह जूते की कील की तरह और बाहर निकल आयी है, अधिक गहराई में छेदती है···

क्लब के पोर्च से जब किशोर की बेंगर्ड घूमकर बाहर निकली, तो ह्वाइट लेबिल के पाँच-छः पैग नसों में तैर रहे थे। सड़क तनी हुई डोरी की तरह हवा से थरथराती लगती थी। लेक के बीच से गुज़रते हुए एक अँधेरी-सी जगह में अचानक गाड़ी ठिठक गयी। स्टीयरिंग को दोनों हाथों से पकड़े देर तक वह यों ही शून्य-सा देखता रहा, फिर झटके से चाबी खींची, बाहर आया और फटाक से दरवाज़ा बन्द करके एक बेंच पर आ बैठा। लगातार कोई चीज़ कानों में सन-सन गूँज रही थी—ठीक वैसी ही आवाज़, जैसी रेल की सुनसान पटरियों के किनारे खड़े टेलीग्राफ के खम्भों में गूँजती है। वह महसूस करता रहा—सुबह से ही एक सवाल उसके आसपास मँडरा रहा है, लीना ने आठ साल बाद उसे क्यों लिखा?··· सुबह जब उसे लीना का खत मिला था, तो आयासपूर्वक उसने कुछ नहीं सोचा था—कुछ भी नहीं। एक तलख मुस्कान से सिर्फ़ उस लाइन को पढ़ लिया था, 'क्या हम लोग अतीत को भुला नहीं सकते?' अतीत?··· कौन सा अतीत? अतीत को अपने साथ रखना अब उसका अभ्यास नहीं रह गया है, इसलिए कोई प्रतिक्रिया नहीं हुई थी। बस, मन में एक बात आयी थी कि आज मैं इस लायक हो गया हूँ, इसीलिए न? आठ साल बाद किस अतीत को भूलने की बात लीना करती है? इन पिछले आठ वर्षों वाला अतीत या वह, जो इससे पहले बीता था? और इसी तरह की कोई चीज़ लगातार कहीं घुमड़ रही है, इसे वह ज़रूर महसूस करता रहा। इस समय लगा, घुमड़ते हुए उस निराकार ने प्रायः स्पष्ट प्रश्न का एक रूप ले लिया है। आखिर उसने क्यों लिखा? उस ज़िद्दी, दम्भी, उद्दत, स्वाभिमानिनी औरत ने कितनी मुश्किल से अपने को यह पत्र लिखने के लिए तैयार किया होगा, यह सिर्फ़ किशोर ही महसूस कर सकता है। हो सकता है, इन पिछले आठ वर्षों में रात-दिन लगातार वह अपने-आपको इस बात के लिए ही तैयार करती रही हो—इस एक लाइन को

लिखने के लिए। और क्या इस एक लाइन को कुछ यों-ही-से ढंग से लिखकर वह कहीं अपना ही पलड़ा तो भारी रखना नहीं चाहती?··· लेकिन उसका पहल करके, पत्र लिखने के धरातल तक 'उतर' आना ही क्या··· और क्या वह स्वयं इसी की आशंका-भरी प्रत्याशा नहीं कर रहा था?

ऐसा नहीं है कि खुद किशोर के मन में हर दिन कम-से-कम एक बार यह बात न आती हो कि बहुत हुआ, अब वह लीना को लिख दे; लेकिन हर रोज़ किसी ने उसका हाथ पकड़ लिया—या कहो, जिसने उसका हाथ पकड़ा हुआ था, उसकी शक्ति का वह प्रतिरोध करता रहा। 'ओल्ड मैन एण्ड द सी' फ़िल्म का एक दृश्य इन आठ वर्षों में हजारों ही बार उसके सामने आया··· शराबखाने में 'बूढ़ी मेज़ पर कोहनी टिकाये किसी से पंजा लड़ा रहा है—पंजा नहीं, दोनों ने एक-दूसरे की हथेली को अपनी पकड़ में ले रखा है, और दोनों ताकत आज़मा रहे हैं कि कब, कौन, किसके हाथ को मोड़कर मेज़ पर झुका दे। ताकत से अधिक यह खेल धैर्य का है। एक सीमा पर आकर शक्ति रुक जाती है और धैर्यपूर्वक दूसरे की हिम्मत टूट जाने की प्रतीक्षा चलती रहती है। कभी-कभी उसे लगता है, दूसरा हाथ लीना का है; लेकिन अक्सर प्रतिरोधी के रूप में जिसका हाथ वह महसूस करता रहा है; उस व्यक्ति का सिर्फ नाम सामने है; चेहरा आज स्पष्ट याद नहीं आता। अनेक चेहरों में वह इतना घुल-मिल गया है कि लगता है, उस तरह का कोई चेहरा कभी था ही नहीं। और यह संघर्ष निरन्तर उस निराकार चेहरेवाले व्यक्ति से चल रहा है। दाँत भींचे, साँस रोके दोनों प्रतीक्षा कर रहे हैं कि पहले किसकी नसें ढीली पड़ती हैं···

लीना से वह आठ वर्षों से नहीं मिला और अब तो इस स्थिति को स्वीकार कर चुका है कि आगे मिलने की आवश्यकता भी नहीं है। लेकिन ताकत आजमाती पसीने से पसीजी एक सख्त हथेली का स्पर्श एक पल को उसकी चेतना से ओझल नहीं हुआ। सुबह शायद उसे खुशी ही हुई थी—एक निर्दय खुशी कि 'खट्' की आवाज़ के साथ उसने लीना के हाथ को झुके हुए पाया है··· फिर लगा, वह हाथ लीना का नहीं, एक दूसरा सख्त हाथ है।

सुबह की यह निष्करुण, क्रूर प्रसन्नता का सुख साँझ तक धीरे-धीरे अनजाने ही एक अजीब अवसाद में बदलता चला गया था और वह अचेतन की एक आवेगमयी इच्छा से लड़ता रहा कि सुबह दिल्ली न जाकर प्लेन से सीधे लीना के पास जाये और उस हारी-थकी, जर्जर, पराजिता को बाँहों से उठा ले, "लीना, मेरी लीना, मुझे माफ कर दो!" कैसी हो गयी होगी इन आठ वर्षों में लीना? जब वे अलग हुए थे, तो वह छब्बीस की थी, आज चौंतीस की होगी। काले केशों में सफ़ेद धारियाँ उभर आयी होंगी, चेहरे पर उम्र का पकाव झलकने लगा होगा और शरीर फैल या सूखकर वह नहीं रह गया होगा, जिसे वह 'अंग-अंग साँचे में ढला' कहा करता था। नहीं, अब उस

हारी-थकी, टूटी प्रौढ़ा का सामना करने का साहस भी तो किशोर में नहीं है। अपराध आरोपती निगाहों से वह कैसे दो-चार हो सकेगा? सचमुच बेचारी कहीं बहुत मज़बूर ही हो उठी होगी, वरना कैसे उसे यह पत्र लिख पाती?

देर तक आँसू किशोर के गालों पर ढुलकते रहे। लेक के पार किनारे-किनारे रेल गुज़र रही थी और उसकी रोशनियाँ पानी के भीतर सुनहरी काँतर-जैसी सरकती जा रही थीं। क्या वे लोग सच ही दुर्भाग्य बनकर एक-दूसरे की ज़िन्दगी में आये थे?

··लेकिन सौभाग्य किसे कहते हैं, इसे ज़िन्दगी में पहली बार किशोर ने उसी दिन जाना था, जिस दिन लीना का हाथ अपने हाथ में लेकर कहा, 'लीना, तुम एक बार अपने मुँह से कह दो··· कहो, लीना! देखो, मेरे पास तुम्हें देने को एक प्यार-भरे दिल के सिवाय कुछ भी नहीं है···' मुँह से लीना ने सिर्फ़ इतना ही कहा, 'सब कुछ शब्दों में कहकर ही बताया जाता है, किशोर!' किशोर को विश्वास नहीं हुआ था। लगा, जैसे संसार की हर चीज़ अवास्तविक, अनरीयल हो उठी हो। यूनिवर्सिटी के लड़के सुना-सुनाकर आपस में कहते, 'इसे कहते हैं छप्पर फाड़कर देना! ज़िन्दगी साले की ट्यूशनें करते, फ्रीशिप और स्कॉलरशिप के लिए इस मेम्बर से उस मेम्बर के यहाँ चक्कर लगाते बीती और आज देख लो, क्या पकड़कर असिस्टेण्ट कमिशनर का दामाद होने जा रहा है!'

'लेकिन बेटे, हाथी बाँध तो रहे हो, उसे खिलाओगे क्या?'

'हाथी नहीं, हथिनी! सफेद हथिनी! जो इतना बड़ा जानवर देगा, वह दो-चार गन्ने के खेत भी देगा ही। असिस्टेण्ट कमिश्नर इन्कम-टैक्स किसे कहते हैं, कुछ पता है?'

'यानि किशोर साहब वहाँ खेत पर जाकर ही मड़ैया डाल देंगे ?'

'खेत पर ? और वो जो कमिश्नर साहब के तीन-तीन बुलडॉग बैठे हैं, सो-मोना-लिजा के भाई! जमाईजी की वो खातिर करेंगे कि सीधे घर जाकर ही···'

'और जो है सो है, पर यार, फाँसा खूब! नोट्स तैयार करके पढ़ने के पार्टनर, ये फायदे हैं, समझे कुछ? तुम जिन्दगी भर बैठे-बैठे लाल स्याही से किताबों पर निशान लगाते रहना, कोई छमिया पूछने नहीं आयेगी। छोटूराम का सिर कड़ाही में और पाँचों अंगुलियां घी में! कॉलेज-लाइफ़ एन्जॉय करनी है, तो आदमी को चाहिए, एक खूबसूरत-सी कॉपी में नोट्स तैयार करके अलग रख ले।

'मगर डार्लिंग यह हुआ कैसे? बाप साले की आँखें हैं कि बटन? उसे टिपता नहीं है कि जो चुग़द सारे दिन ट्यूशन करे, न जिसके सिर पर छत हो और न तले फर्श, वह क्या खिलायेगा बिटिया को?'

'तिरिया-हठ मि-लॉर्ड, तिरिया-हठ! लौंडिया बिना खाये-पिये सत्याग्रह किये पड़ी रहे, तो बोलो, बाप बेचारा क्या करे ?'

'अरे जनाब, करे क्यों नहीं ? मर्द बच्चा हो, तो हण्टरों से वो ठुकाई करे कि सारा

रोमांस फाख्ता हो जाये। और इन मजनूँ साहब को तो यों चुटकियों में उड़ा दे··· कटवा के बहा दे रातों रात! क्या मजाल, जो किसी को सुराग लग जाये जरा भी! हिम्मत होनी चाहिए, मिस्टर, हिम्मत!"

'हिम्मत तो भाईजान, किशोर की माननी पड़ेगी।'

'नानसेन्स! उसकी तो आज भी हिम्मत उस बाउण्ड्री में घुसने की नहीं होती। वो तो हमारी मोना-लिजा ही सब कर रही है···'

'हाय मोना, तेरी यह दुर्दशा!'

इन फिकरों और कहकहों के बीच किशोर भले ही अपने को हीरो के रूप में देखने लगा हो; लेकिन यंह सच है कि लीना की दृढ़ता और साहस के आगे कहीं वह अपने को बहुत छोटा और नमित महसूस करता था। और इसमें झूठ नहीं कि शादी हो चुकने के बादवाले दिन तक असिस्टेण्ट कमिश्नर दीक्षित के बँगले के फाटक का 'बिवेयर ऑफ़ डॉग' के ऊपर वाला कुण्डा खोलते उसका दिल धड़-धड़ करने लगता था। अल्सेशियन कुत्तों के डर से नहीं, लीना के भाइयों के डर से भी नहीं, बल्कि दीक्षित साहब की नजरों के डर से। खून को जमा देने वाली उन ठण्डी निगाहों के सामने पड़कर वापस आ सकने लायक शक्ति भी उसमें रह जायेगी या नहीं ? आज तो लगता है, जो 'कुछ उन दिनों हुआ' किशोर उन सबका मात्र तटस्थ दर्शक था। शादी दीक्षित साहब के यहाँ नहीं; हुई थी कोर्ट में। इसके पहले और बाद ट्रेजेडी और फ़ार्स दो नाटक हुए थे: यानी शादी से पहले मार डालने, उस लफंगे को कहीं का न रखने और पाँच दिन भूखे रहने, कमरे में बन्द करके सड़ने देने का नाटक हुआ, जिसके अन्तिम अंक में एक दिन किशोर ने लीना को अलस्सुबह अपनी कोठरी के दरवाज़े पर खड़ा पाया-बदहवास, खाली हाथ। 'अपने घर रहने आयी हूँ। कितनी मुश्किल हुई है निकलने में कि बस! अब कोई हमारा क्या कर सकता है? क़ानूनन हम लोग पति-पत्नी हैं।' फिर किस तरह 'भाड़ में जाओ' के अन्दाज में सब दिखावा करना पड़ा, किस तरह मसूरी के एक होटल में डबल बेडरूम का इन्तजाम करके उन्होंने दो ट्रेन-टिकट किशोर को दिये और स्टेशन पर जब अपनी बेटी 'बेटी को विदा' किया, तो सख्ती के मुखौटे का मोम पिघल आया था। उनकी आँखों में नमी तैर आयी, लेकिन एक तनाव बना रहा और उदासीनता का अभिनय करता किशोर गर्दन अकड़ाये अपने और दूसरों को विश्वास दिलाता रहा— वर्ग की दीवारें आख़िर मनुष्यों की भावनाओं को कितने दिनों और कुचलेंगी? आदमी ही तो है, जो इतिहास को बनाता और बदलता है। प्रतिष्ठा-धन की, जाति की, पोजीशन की प्रतिष्ठा— हम लोगों के भाग्य की निर्णायक क्यों हो? लेकिन ये सारे घिसे-पिटे वाक्य वातावरण में व्याप्त अपमान के डंक से उसे अछूता नहीं रख पाते थे।

पापा ने कुछ नहीं दिया—देने की बात भी नहीं थी और किशोर उसकी उम्मीद भी नहीं कर रहा था; लेकिन स्टेशन पर यह मौन आश्वासन भी टूट गया। प्लेटफ़ार्म की घड़ी के पास जब हरी झण्डी हिली, तो उन्होंने लीना के हाथ में एक बन्द लिफ़ाफ़ा

रख दिया, 'इसे बाद में देखना।' गाड़ी चली, तो किशोर को लगा कि दीक्षित साहब न तो उससे हाथ मिलाना चाहते हैं, न आँखें। वह यों ही खोये-खोये से सख्त चेहरा किये एक ओर खड़े रहे और उससे नहीं, लीना से उखड़े-उखड़े बोलते रहे। स्टेट-एक्सप्रेस का डिब्बा एक हाथ से दूसरे हाथ की यात्रा में मानसिक उत्तेजना प्रकट करता रहा। गाड़ी चली, लिफ़ाफा खुला—लीना के नाम पाँच हजार का एकाउण्ट-पेयी चैक था। पहली चीज किशोर के दिमाग में टकरायी, 'सिर्फ पाँच हजार!' फिर लगा, यह पाँच हजार रुपयों का नहीं, पाँच हजार अविश्वासों का चैक है: जिस आदमी के साथ तुम जा रही हो, उसके साथ कभी भूखी मरने लगो, तो इन रुपयों से काम चला लेना। किशोर का चेहरा पढ़कर लीना समझाती रही, 'पापा बेहद कट्टर सिद्धान्तवादी आदमी हैं। वे कहते हैं कि झूठे दिखावे और रुपये की बरबादी से क्या फायदा? जो रुपया देना है, वह सीधे ही क्यों न दे दिया जाये? बजाय इसके कि वे हमें कोई उल्टी-सीधी चीज़ दे देते और हमें पसन्द न आती, क्या यह ज्यादा अच्छा नहीं है कि हम अपनी जरूरत की चीज़ खरीद लें?' वह कुछ नहीं बोला। अपने जुकाम को बार-बार रूमाल में साफ़ कर-करके रखते और स्टेट-एक्सप्रेस का टिन हाथ में लेकर बातें करते दीक्षित साहब की आकृति ही उसके सामने घूमती रही। ग्यारह-बारह साल हो गये, उस आकृति की रेखाएँ अब अलग-अलग लोगों के चेहरों में समा गयी हैं और उसे ज्यों-का-त्यों याद कर लेना भी उसके लिए संभव नहीं रह गया है। लेकिन उस दिन वाला प्रभाव आज भी दिमाग से नहीं जाता। मुँह की ओर बढ़ता सिगरेटवाला हाथ, और साँवले होंठों का उसे पकड़ने के लिए उदग्र हो आना—वाई-फ़ोकल चश्मे से बाज़ जैसी तेज़ आँखों का झाँकना—सुप्रीम कॉन्फिडेन्स और हर चीज को आर-पार भेदकर उसकी जाने बैठे होने का दम्भ—सब मिलाकर एक ऊँचाई पर खड़े, हिकारत से नीचे देखते व्यक्ति की ललकारती भंगिमा—मन-ही-मन दाँत भींचकर किशोर ने सोचा, 'साला शक्ल से ही टोडी बच्चा लगता है। हमारी सरकार ने इन लोगों को रिटायर क्यों नहीं किया?' फिर एक दूसरा शब्द दिमाग में आया, ब्यूरोक्रैट्स!'

हवा ठंडी थी। खाना खाकर दोनों बाहर निकले थे और कुलड़ी, माल पार करके रिक्शा-स्टैण्ड के सामने ही दीवार पर, ज़रा एक ओर हटकर बैठ गये थे। अँधेरे में जगमगाती बत्तियों की आड़ी तिरछी मालाएँ टूट-टूटकर नीचे ऊबड़ खाबड़ अँधेरे में चली गयी थी··· किं-क्रेग के गुच्छे के बाद, बस कहीं-कहीं बत्तियाँ सड़क का आभास देती थीं। नीचे बहुत दूर हलके उजास को देखकर लगता था वहाँ देहरादून है।

"कभी-कभी मैं सोचता हूँ, लीना," तीन दिनों से घुमड़ती बात को किशोर शब्द देने की कोशिश कर रहा था, "कहीं हम लोगों से कुछ गलत तो नहीं हो गया···" वह लाइब्रेरी चौक वाले मण्डप को देखता रहा। लीना की इस सारी दृढ़ता ने उसे डरा दिया था। जो लड़की अपने दबंग बाप की फ़िक्र न करे, वह सचमुच डरने लायक ही है।

काले शॉल को एक बार खोलकर सारे कन्धे ढँकते हुए लीना सामने देखती बोली,

"देखो किशोर, मैं बच्ची नहीं हूँ। मैं जल्दी निर्णय नहीं लेती और जब एक बार निर्णय ले लेती हूँ। तो उस पर टिकने की कोशिश करती हूँ। पापा को भी जानती हूँ और तुम्हें भी समझती हूँ। सब जानते-बूझते हुए पूरे होशो-हवास में भी तुम्हारे साथ कोर्ट गयी थी। और सच कहूँ, मैं इसे भी पापा की मेहरबानी ही समझती हूँ—उन्होंने इतना किया। मैं तो तुम्हारे यहाँ जब पहुँची थी, तो इस सबका मोह छोड़कर पहुँची थी। जानती थी, यह सब नहीं होगा···"

"नहीं होता, तो ज्यादा अच्छा था।" गहरी साँस लेकर उसने धीरे से कहा। लीना के स्वर की यह दृढ़ निर्णयात्मकता उसे अपने-आपकी विरोधी लगती है। और अचानक उसे दीक्षित साहब की वह मुद्रा याद हो आयी, जो उसे महसूस कराती थी—मानो वह जमीन पर रेंगने वाला कीड़ा हो।

"खैर, जो हुआ, सो हुआ; पापा को माफ कर दो। देखो, उनका सोचने का, दुनिया को देखने-सुनने का, चलने-चलाने का अपना एक तरीका है। शायद उसे अब वे बदल भी नहीं सकते। कम-से-कम तुम उनका इसी बात का लिहाज कर दो कि मैं उनकी इकलौती लड़की हूँ-भाइयों में सबसे बड़ी। मेरी शादी वे सचमुच शौक से ही करना चाहते थे···" लीना का गला भर्रा आया, "यही जरा-सी अटक इस समय आ गयी है; वरना हम जानते हैं, पापा के मन में तुम्हारे लिए कितनी इज्ज़त है। बहुत बार उन्होंने कहा-किशोर ईमानदार और मेहनती लड़का है। उसें देखता हूँ, तो मुझे अपने दिन याद आ जाते हैं।" और वह विस्तार से बताती रही, 'पापा खुद सेल्फमेड आदमी हैं। चाचा-ताऊओं ने तो हरी झण्डी दिखा दी थी। खुद पढ़े, छोटे भाई-बहनों को पढ़ाया। भाइयों को नौकरी दिलायी, बहनों की शादी की। आज जो कुछ हैं, सिर्फ़ अपने बूते पर हैं। आपके संघर्ष को वे नहीं समझेंगे, तो कौन समझेगा? खुद उन्होंने क्या कम तकलीफें देखी हैं? इसलिए जानते है, अभाव क्या होता है। शायद यही वजह है कि हम लोगों की कभी किसी इच्छा को अधूरा नहीं रखा। आधी रात को उठकर अगर हम लोगों ने कहा—पापा, ट्राइसिकिल लेंगे, तो वह आदमी दुकान खुलवाकर ट्राइसिकिल लाया है। कहते थे-"मेरी इच्छाएँ अगर अधूरी रह गयी हैं, तो मैं अपने बच्चों का मन क्यों मारूँ?"

लीना का यह बहाव किशोर को किनारे पर अनभीगा खड़े छोड़ जाता है: "और तुम आयी भी तो हो एक ऐसे आदमी के साथ जिसने खुद कभी जिन्दगी में नहीं जाना कि इच्छाएँ पूरी होना किसे कहते हैं। भैया को अस्सी-सौ रुपये मिलते हैं। बच्चे हैं, बे-पढ़ी भाभी हैं, जिन्होंने मुझे माँ की तरह पाला है। माँ-बाप का प्यार मैंने तो सिर्फ़ भैया में ही पाया है। इसलिए कभी-कभी सोचता हूँ कि दोस्ती तक तो हम लोगों के सम्बन्ध ठीक थे, लेकिन आगे···"

"फिर वही बात! देखो, कोई भी लड़की जब ऐसे निर्णय ले लेती है किशोर, तो खूब आगा-पीछा सोच लेती है। मुझे सभी तरह की जिन्दगी जीने की आदत है।" उसने

किशोर का हाथ अपने हाथ में ले लिया, "आज तो तुम्हारी लैक्चररशिप पक्की है न, इसलिए एक आधार है। यह न भी होती, तब भी मैंने तो आने का निर्णय कर ही लिया था। अब हम दोनों के सुख-दुख अलग कहाँ रह गये हैं? अरे, मैं तो कहती हूँ, इस साल मैं फाइनल किये लेती हूँ; फिर निश्चिन्त होकर पी-एच०डी० कर डालो। ये ट्यूशनें और नोट्स तो तुम बन्द ही कर दो। मैं भी कोई छोटी-मोटी नौकरी ले लूंगी।" फिर बहुत ही लाड़ और सान्त्वना से उसके कन्धे पर बाँह रखकर बोली, "छोटी-सी जिन्दगी है, यों ही बीत जायेगी!"

आज भी याद है, किशोर को लगा था कि लीना के मुँह से अपनी बात नहीं, फ़िल्में और रुमानी किताबें बोल रही थीं। घड़ी देखकर जब वे लोग उठे, तो लीना ने उसे इस तरह दिलासा दिया, जैसे बच्चे को समझा रही हो, "देखो, हम लोग ट्रेन में सफ़र करते हैं। बहुत तकलीफें, असुविधाएँ, अपमान और बदमज़गी होती है। लेकिन यात्रा पूरी करने के बाद कोई भी उन्हें याद नहीं रखता। पापा ने गलत किया या सही, अब तो हमारी ज़िन्दगी अपनी और स्वतन्त्र जिन्दगी है। पापा उसमें कहाँ आते हैं?"

हाँ, पापा उसमें कहाँ आते हैं ! न होगा, तो आगे उनसे कोई सम्बन्ध नहीं रखेंगे। उस दिन सुनसान माल पर किशोर ने लीना को कमर से अपने पास खींच लिया "तुम बहुत समझदार हो लीना, पता नहीं मुझे क्या हो जाता है कभी-कभी! ये छोटी-छोटी बातें बहुत महत्वपूर्ण लगने लगती हैं। इसी तरह भटकाव में मुझे सहारा देती रहना···" मन में सोचा, लीना जिस वर्ग और जिन लोगों में रहती है, निर्णय दृढ़ता और स्पष्ट चिन्तन उन लोगों की बहुत बड़ी विशेषता है, क्योंकि परिस्थितियों पर उनका नियन्त्रण होता है···

छोटी-छोटी बातों के महत्वपूर्ण लगने का सिलसिला शुरू कहाँ हुआ था-यह तो स्पष्ट याद नहीं, लेकिन वह खत्म वहाँ नहीं हुआ-खत्म हुआ किशोर और लीना को अलग करा के··· एक नये सिलसिले की शुरुआत करके··· आज लीना का आशय उसी अतीत से है क्या···? उसने पाइप निकाल लिया, सुलगाया और सिरे से पकड़कर पीता रहा···

कुछ घटनाएँ अभी भी भुलाये नहीं भूलती··· और आज भी किसी लड़की को टेनिस खेलते देखकर, किसी पार्टी में, होटल में छुरी काँटे उठाते-उठाते याद आ जाती हैं··· दीक्षित साहब की ओर से शादी का डिनर था-उनके लॉन में ही। छुरी-काँटे से दोस्तों के साथ कॉलेज कैण्टीन, या किसी के घर एट होम पार्टी खा चुका था। लेकिन खास सुविधाजनक न होते हुए भी खाने में दिक्कत नहीं हुई। समाप्त करके उसने छुरी-काँटे का क्रास बनाकर खाली प्लेट में रख दिया, और चुपचाप होंठों पर फ़रमाइशी मुस्कान लाकर मेहमानों की चुहल पर हँसने का प्रयास करने लगा··· वे सब अपनी ही बातों में व्यस्त थे और शायद किसी को अहसास नहीं था कि जिसकी शादी की पार्टी वे लोग खा रहे हैं, वह व्यक्ति भी वहाँ उपस्थित है। पास बैठी लीना ने बहुत धीरे से पूछा, 'अरे

आप, खा चुके क्या?' लापरवाही से उसने 'हाँ' कहा और दीक्षित साहब का तह किये नेपकिन को होंठों से छुलाना देखता रहा। तभी औरों की निगाह बचाकर लीना ने धीरे-से उसकी प्लेट के छुरी-काँटे के क्रास को बिगाड़कर उन्हें दो समानान्तर रेखाओं की तरह रख दिया। उसने भी देखा, खाना खत्म करने वाले समानान्तर ही रखते हैं और उसकी जानकारी गलत थी। थोड़ी देर वह उधर से ध्यान हटाये रहा, मगर बाद में जाने क्या हुआ कि फिर से उन्हें क्रास की शक्ल दे दी। मेज़ के नीचे लीना ने धीरे से उसका पाँव छुआ, तो उद्धत भाव से बोला, 'अभी एक कटलेट और लूँगा ··· '

तब से वह लीना के साथ खाते समय, खाना खत्म करके छुरी-काँटे को क्रास की स्थिति में ही रखता ···

फिर उसका गट्-गट् पानी पीना, चप्-चप् खाना, और 'हरि ओउम्' की लम्बी डकार के साथ तृप्ति का सन्तोष प्रकट करना—लीना को पसन्द नहीं है—यह जानते हुए भी वह उसे चिढ़ाने के लिए यही करते हुए खाता। उसे लगता, इसमें लीना की व्यक्तिगत नापसन्दगी उतनी नहीं है, जितनी हिकारत की यह भावना कि 'तुम्हें सभ्य समाज में उठने-बैठने का मौक़ा नहीं मिला, इसलिए शायद यह नहीं जानते कि यह अशिष्टता है।' कोई चीज़ स्वादिष्ट लगती, तो जल्दी-जल्दी लम्बी सड़ाकेदार आवाज़ के साथ मुँह भर लेता, और झूम-झूमकर गुनगुनाते हुए उसका स्वाद लेता और लीना की आँखों में पढ़ता—'शायद पहली ही बार खा रहे हो, न?' हालाँकि यह भी समझ लेता है कि उसके ऐसा करते समय जान-बूझकर लीना दूसरी ओर मुँह करके रसोई में झाँकने लगी है।

लीना को धोबी की धुली, साफ़ सफ़ेद इस्त्री की हुई साड़ी पहनकर सोने का शौक था, और उसका आग्रह रहता कि वह भी धोबी का धुला कुरता-पाज़ामा पहनकर सोये। लेकिन किशोर किसी भी तरह अपने मन को तैयार न कर पाता। जिस तरह के कपड़ों को वह दो-दो तीन-तीन दिन पहनता, और बाहर से लौटकर जिन्हें खूंटी या किवाड़ पर लटका देता रहा है कि अगले दिन पहनने लायक रहें, उन्हें पहने ही कैसे बिस्तर में घुस जाये? दो घण्टे उन पर क्या इसीलिए बेचारे धोबी ने मेहनत की थी (अक्सर ही लीना इस्त्री ठीक न होने पर आधे कपड़े धोबी को लौटा देती थी) कि उन्हें पहनते ही बिस्तर पर लेटकर बराबर कर देना है? लोटे में अंगारे भरकर रात को देर तक अपने हाथ के धुले कपड़ों पर इस्त्री करना उसे अभी तक याद है, इसलिए इस्त्री करने के परिश्रम को भी जानता है। वह उस कुरते-पाज़ामे को यों ही सिरहाने रखा छोड़कर कहीं से कोई गन्दे कपड़े निकाल लेता— क्या है, कहीं कोने में न पड़े रहे, शरीर पर ही रहे-सोना ही तो है! लीना चिढ़ाती, 'तुम्हें गन्दे कपड़े पहनने का खास शौक है।' उसे लगता, कह रही हो-साफ़ कपड़े पहनने की आदत नहीं है न?

इण्टरव्यू के लिए जाना था। लीना ने उसकी अटैची-बिस्तर तैयार किये। अपनी बेंत की चौकोर टोकरी में दो प्लास्टिक की प्लेटें, गिलास, तौलिया, नैपकिन, केले-सन्तरे

इत्यादि रख दिये। गुसलखाने से निकलकर गीले बालों को झटके-से काढ़ते, छींटे उड़ाते हुए किशोर ने पूछा, "अरे भई, ये सब क्या है?" लीना व्यस्त भाव से सामान लगाती रही, "कुछ नहीं, रास्ते की तैयारी है। पापा की तैयारी मैं ही करती थी।" किशोर ने मुलायम स्वर में कहा, "क्यों ये सब बेकार मेहनत कर रही हो? रास्ते में मेरा मन ही नहीं होता कुछ खाने-पीने को। फिर थर्ड क्लास में आदमी खुद ही बैठ जाये, इतना काफ़ी है। ये ताम-झाम जितना कम हो, उतना अच्छा है। बेकार टूट-टाट जाये।" फिर जब कंघी अन्दर रखकर लौटा, तो असली बात कही, "इसके लिए एक कुली अलग से करना होगा। अटैची-बिस्तर का क्या है–लिये और हाथ में लटका लिये!" लीना का हाथ रुक गया। उसने गौर से किशोर को देखा और उसके आगे बाई फ़ोकल चश्मे से झाँकती दीक्षित साहब की आँखें आ गयीं···

लीना को शौक था, घर में अच्छे परदे हों; और उसे लगता, पुरानी साड़ियों के परदे क्या बुरे हैं? घर में नये टी-सेट की जरूरत थी। भेंट में मिले टी-सेट दीक्षित साहब के साथ ही–उस शहर में छूट गये थे और वह वहाँ जाना नहीं चाहता था। तय हुआ, शाम को साथ चलेंगे। लेकिन वह खुद ही कॉलेज से बाहर चला गया, और जब आया, तो सैकण्ड ग्रेड का टी-सेट साइकिल की डोल्ची में था। किसी बेमालूम-सी चटख या टेढ़ेपन को कौन गौर से देखता है? चीज़ तो आधे दामों में आ गयी। लीना ने देखा, तो नाक-भौं सिकोड़ लीं, "क्या उठा लाये!" अगले दिन वह खुद जाकर नया सेट उठा लायी। बोली, "तुम्हारे पैसे नहीं खर्च किये हैं। अपने पैसों से लायी हूँ···" अपने पैसों को लेकर उसके मुँह तक कोई बात आयी भी–तभी कोई आ गया।

यह सब तो चला बिना बोले; लेकिन एक दिन जब रेस्तराँ से निकले, तो बोलने का लिहाज भी टूट गया। शायद उसे इतना बुरा न लगता, लेकिन साथ में था किशोर का एक सहकारी-अंग्रेजी विभाग का मेहता। लीना का फाइनल था, इसलिए मदद करने अक्सर मेहता आ जाता था। शाम को प्रायः साथ ही प्रोग्राम बनता। कम-से-कम चाय साथ ही पीते थे। जब तक किशोर पैसे निकाले-निकाले कि मेहता ने झटके से पर्स निकालकर दस का नोट थाली में फेंक दिया। टिप के चार आने छोड़े और बाहर आते हुए बोला, "मैं समझता हूँ, इन बेचारों को ज़रूर कुछ-न-कुछ छोड़ना चाहिए। ये होटलवाले इन्हें देते ही क्या हैं? सारा गुजारा तो टिप्स पर चलता ही है इनका···"

"हमारे 'ये' टिप देने में सबसे ज्यादा तकलीफ पाते हैं," लीना हँसकर बोली, "बहुत दिल कड़ा करके छोड़ा, तो एक आना छोड़ दिया!"

"हम पूछते हैं यों पैसा फेंकने से फायदा?" उसने बचाव पक्ष की दलील दी, "एक तो दो पैसे की चीज़ के चार आने दो–फिर यह टैक्स! मैं कहता हूँ कि यह टिपबाज़ी विदेशों में इतना बड़ा सिरदर्द हो गया है कि लोग परेशान हैं। दरवाजा खोला है, टिप दीजिए; लिफ्ट से लाये हैं, टिप दीजिए; टैक्सी का भाड़ा दिया है, टिप दीजिए; होटल

के बैरे ने आपकी डाक लाकर दी है, टिप चाहिए! टिप न हुई, साली मुसीबत हो गयी। हमें तो इस सबको डिस्करेज करना चाहिए। भई, चीजों के दाम आप दो पैसे और बढ़ा दीजिए—लेकिन टिप के नाम पर यह जेब-कतराई तो बन्द कीजिए··· मैं तो इसके एकदम खिलाफ हूँ···" वह लीना से बहस के अन्दाज़ में बोलता रहा।

"खैर, अच्छा या बुरा; सभ्य समाज का एक तरीका बन गया है।" लीना ने बताया।

"अच्छा सभ्य समाज है! एक पूरे वर्ग को बख्शीश और टिप्स पालना गुलामी है।" किशोर को गुस्सा आ गया।

"ऐसा न करें, तो ये लोग भी तो ठीक से सर्व नहीं करते—कोई सुनेगा ही नहीं···"

"यानी जिसके पास टिप देने को फालतू पैसे न हों, उसे यहाँ आने का हक नहीं है··· ? उसे न खाने-पीने का हक है, न अच्छी जगह बैठने-उठने का!" उसकी बात में कड़वाहट आ गयी, "बिल के पैसे हों न हों, लेकिन टिप ज़रूर हो!"

"इसे पर्सनल क्यों बनाते हो, किशोर?" लीना ने निर्णय के ढंग पर कहा, "बहरहाल, आपकी बात ठीक भी हो, फिर भी मैंने देखा है कि पैसा आपसे छूटता नहीं है।" लीना ने मेहता के बढ़े हुए हाथ से पान लेकर मुँह भर लिया।

किशोर की आँखों के आगे 'बिवेयर ऑफ डॉग' का फाटक घूम गया। बोला, "लीना जी, मुझे मिलते हैं दो सौ रुपये-सो भी आज। और आपको रहने की आदत है उस माहौल में, जहाँ हजार रुपये तनखा और डेढ़ हजार की ऊपरी आमदनी होती है—वे लोग पाँच रुपये के बिल पर एक रुपया टिप दे सकते हैं··· "

उस दिन लीना की आँखों में आँसू आ गये थे, और घर आकर तो वह फूट-फूट-कर रोने लगी—रात-भर रोती रही और किशोर डरे बच्चे की तरह माफी माँगता रहा।

अक्सर उसे दया भी आती थी। लीना सब्जी काटती या झाड़ू लगाती, सफ़ाई करती, कपड़े धोती, तो किशोर का मन एक अजीब करुणा से भर-भर आता। बेचारी लाड़-प्यार, नाज-नखरों से पली लड़की कहाँ आ गयी है! तब वह आगे-आगे सारे काम कर देता। वह कपड़े भीगे छोड़कर आती, तो धोकर सुखा देता; वह ब्रुश करती, तब वह खुद स्टोव जलाकर चाय बना देता। वह खाना बनाती, तो नहाने से पहले कमरे झाड़ देता। लीना किताबें खोले पढ़ रही होती, और वह चुपके से बरतन मल डालता। हालाँकि यह चीज़ उसे और भी चुभती कि लीना जान गयी है, फिर भी न जानने का बहाना करके बैठी पढ़ रही है। लेकिन देखकर अनदेखा करना मुश्किल हो जाता, तो लड़ती और वह कहता, "देखो लीना, मुझे तो यह सब करने की आदत है। शुरू से किया है। भाभी बीमार या बाहर होती थीं, तो सभी कुछ करता था। लेकिन तुमने तो रसोई में झाँककर भी नहीं देखा होगा।" उसका गला रुँध जाता, "तुम भी क्या सोचती होगी, लीना। कहाँ···" लीना गहरी साँस लेकर झिड़क देती।

जब वह सज-सँवरकर बाहर निकलती, तो किशोर उसे देखता रह जाता—

हेयर-स्टाइल, मैचिंग सेन्स, हर चीज का चुनाव और स्तर-सभी में कुछ ऐसी नफ़ासत और आभिजात्य रहता कि लगता वह किशोर से बहुत दूर चली गयी है—अप्राप्य और दुर्लभ हो उठी है। उसे अपना आप बहुत ही छोटा और अकिंचन महसूस होने लगता—वह खुद ही मानो अनाधिकार, ग़ैर और अजनबी बनकर उसे ठगा-सा देखता रह जाता। उस क्षण उसे लीना के सौन्दर्य और सौन्दर्य-बोध पर गर्व-मिश्रित सन्तोष जरूर होता; लेकिन पीछे कहीं रीढ़ के भीतर आशंकित भय सुरसुराया करता-सचमुच वह लीना के लायक नहीं है? कहाँ वह, और कहाँ लीना! ज़रूर लीना भी तो अपने आपको और उसे, देखकर कभी-कभी सोचती ही होगी कि वह कहीं गलत कर बैठी है। जाने कैसे उसे यह विश्वास हो गया था कि अब लीना को उसके साथ आने का अफसोस होने लगा है, इधर वह अधिक सुस्त और उदास रहने लगी है—कहाँ इस समय वह किसी शानदार गाड़ी में बैठी घूमने जा रही होती और कहाँ अब बार-बार धूप में रुमाल से गले-कनपटियों का पसीना पोंछती, धूल-धक्कड़ में, रिक्शे में लदी, पहिये से साड़ी बचाती चली जा रही है··· साथ लगे इस बुद्धू, चुग़द, घुन्ने, मनहूस और कंजूस (या गरीब) को देखकर क्या हर क्षण धड़कते दिल से यही नहीं मानती होगी कि हाय राम, इस वक़्त कोई जान-पहचान का न मिल जाये! हालाँकि वह खुद भी बहुत ख्याल रखती थी कि जब किशोर उसके साथ हो, तो सबसे अच्छे कपड़ों में हो··· मगर उसके पास अच्छे कपड़े थे कहाँ··· ?

"देखो, कल एक जहाज क्रैश हो गया··· आई० ए० सी० का विस्काउण्ट था···" अखबार पढ़ते-पढ़ते उसने मेहता और लीना को सुनाया। अक्सर जब वे तीनों बैठते, तो किशोर को लगता, जैसे उसके पास बात करने को कोई विषय ही नहीं है। अपनी इस कमजोरी को छिपाने के लिए वह कुछ उठाकर पढ़ने लगता—हालाँकि एकाध बार लीना ने बताया भी कि यह बदतमीजी है।

"क्या था?" लीना स्टोव के पास थी, जैसे कम सुनती हो, इस तरह कान पर ज़ोर देकर पूछा। वैसे भी स्टोव की आवाज रसोई में गूँज रही थी। उसने डरते-डरते मेहता को देखा कि कहीं सुन तो नहीं लिया।

"इंडियन एयर-लाइन्स का विस्काउण्ट था," किशोर ने दोहराया। वह और मेहता आँगन में मूढ़ों पर बैठे थे। लीना रसोई में, पास ही, चाय बना रही थी।

"विस्काउण्ट नहीं, प्रोफेसर साहब, बाइकाउण्ट बोलो!" लीना ने हँसकर कहा, तो फिर वही बाई-फोकल शीशे और तुच्छता का अहसास कराती दो उपेक्षा-भरी आँखें उसे तिलमिलाता छोड़ गयीं।

"अरे हाँ-हाँ, आप कान्वेंट में पढ़ी हैं। जरा स्पैलिंग तो देखो!" किशोर जिद करता रहा।

"मेहता साहब, जरा इन्हें बताइये," वह वहीं से बोली।

मेहता अचकचा उठा। क्षमा माँगने के लहजे में कहा, "प्रोफेसर साहब, है तो

वाइकाउण्ट ही···"

"अरे, इन अंग्रेज़ी शब्दों का कोई एक उच्चारण है?" किशोर भड़क उठा, "अंग्रेज़ और अमेरिकनों की बात छोड़ दीजिए। इंग्लैंड में खुद हज़ारों शब्दों के उच्चारण तय नहीं हैं। एक अंग्रेज़ बोलता है डिरैक्शन, दूसरा कहेगा डायरैक्शन! जो कहेगा ऑफिन; दूसरा बोलेगा ऑफ्टिन! लिखा है ल्यूटिनेट, स्कीइंग-पढ़ रहे हैं, लैफ्टिनेण्ट, शीइंग! स्पैलिंग है जी-ए-ओ-एल- बोला जा रहा है जेल!··· आई हेट दिस लैंग्वेज जो सिर्फ कॉन्वेंट के बच्चों की बपौती हो, यानी गरीब आदमी की पहुँच से बाहर हो-द लैंग्वैज ऑफ़ इम्पीरियेलिस्ट्स एण्ड ब्यूरोक्रैट्स!" और इस शब्द के आते ही उसे लगा, जैसे वह मेहता और लीना को नहीं, इन दोनों के पीछे कहीं छिपे खड़े दीक्षित साहब को यह सब सुना रहा है, "साले हमारे जबान को कहेंगे वर्नाक्लुयर···! जानते हैं, वर्नाक्युलर माने क्या होता है? वर्नाक्युलर मीन्स द लैंग्वैज ऑफ़ रोमन स्लेव्ज़··· जन्म-जन्मान्तर के गुलामों की ज़बान···"

उसके गुस्से पर लीना जोर से हँस पड़ी, "लेकिन इस पर इतना गुस्सा होने की क्या जरूरत है? अपनी गलती मान लीजिए न, और नाराज होकर भी वही भाषा बोल रहे हैं, जिस पर नाराज हैं!" वह हत्थी टिकाकर हँसती रही।

"शटाप्!" जाने उसे क्या हुआ कि ज़ोर से उसने अखबार ज़मीन पर पटका और झटके से उठ खड़ा हुआ, "ठीक है, हम कॉन्वेंट में नहीं पढ़े हैं। हमारे उच्चारण ख़राब सही, लेकिन इसी कॉन्वेंट ने तुम्हारा दिमाग़ खराब कर दिया है···" और वह मेहता को स्तब्ध छोड़कर बाहर चला आया-आते हुए कह आया, "मैं गरीब आदमी हूँ लीना, लेकिन मेरी अपनी इज्जत है!"

बाद में अपनी उत्तेजना पर उसे अफसोस होता रहा··· तीन-चार दिनों के तनाव, रोने-धोने के बाद उसने खुद लीना से माफ़ी माँगी कि ग़लती उसी की थी, न मालूम उसे क्या हो गया था···

क्या हो गया था नहीं, क्या होता चला जा रहा था-समझ में नहीं आता था। उसे जैसे लीना से, उसके सामने पड़ने से डर लगने लगा था। लीना की एक खास तरह की दृढ़ या जिद्दी मुद्रा है, जिसके सामने वह नर्वस हो जाता है, और या तो कुछ ऊलजलूल कह बैठता है या उससे ऐसा ही कुछ हो जाता है। उसे हमेशा खतरा रहता है कि न मालूम किसी मज़ाक या गम्भीरता में वह क्या-कुछ कह दे और लीना का चेहरा, साँवले गम्भीर चेहरे में बदल जाये और वहाँ बाई फोकल चश्मा उभर उठे···

वह अपनी थीसिस के सिलसिले में रोज़ साँझ को यूनिवर्सिटी लाइब्रेरी जाता था, और लीना इम्तहानों की तैयारी करती थी। प्रीवियस में अट्ठावन प्रतिशत नम्बर थे और अगर इस बार तैयारी ठीक हो जाये, तो कमी पूरी करके फर्स्ट क्लास लाया जा सकता था। इसलिए नियमित रूप से मेहता की मोटरसाइकिल दरवाज़े पर पाँच बजे आ खड़ी होती थी। तीनों साथ चाय पीते। उस क्षण लीना सबसे अधिक प्रसन्न रहती। वैसे प्रायः उसकी

यह शिकायत रहती थी कि न तो हम किसी के यहाँ जाते हैं, न किसी को चाय पर बुलाते हैं। तब उसे ख्याल हुआ था कि सचमुच उसका परिचय कितने कम लोगों से हैं–ऐसे लोगों से, जिनके साथ सम्पर्क रखने में लीना को प्रसन्नता हो। इसलिए वह अक्सर ही चुप रहता और ख्याल रखता कि कहीं चाय से सुड़-सुड़ की आवाज़ न हो, या वह दाँतों के पीछे जीभ लगाकर अपनी प्रिय 'चस्सी! चस्सी!' न कर बैठे। खाने के बाद एक दिन वह परम तृप्त-भाव से यों ही दांतों से जीभ लगाकर साँस खींच रहा था, जिससे आवाज होती थी लीना खा रही थी। अचानक बोली, "फॉर गॉड्स सेक, यह मत करो–मुझे उल्टी हो जायेगी।···" और तब से जब भी वह ऐसी आवाज़ निकालता कि लीना का यह वाक्य उसकी 'च्स्सी! च्स्सी!' को बीच से ही रोक देता··· वह और मेहता कपड़ों की बातें करते, फ़िल्मों की बातें करते, दिल्ली और बम्बई के होटलों की बात करते–ड्राईविंग और पार्टियों के दिलचस्प किस्से सुनाते, "मिसेज़ किशोर, आपने 'रेन्स आफ़ रांचीपुर' देखा है?··· भुवाल संन्यासी वाले किस्से पर बेस किया है–" और वह फिल्मों की कहानियाँ सुनाने लगता। लीना उत्सुक मुग्धता से सुनती रहती या कभी लीना सुनाती, "मुझे क्रीम खाने का शौक ज़रा ज़्यादा ही था, फ्रूट-क्रीम, क्रीम-जैली, आइसक्रीम··· पता नहीं, एक दिन पापा को क्या सूझा–दस सेर क्रीम उठा लाये–"

"दस सेर!" मेहता अथाह आश्चर्य दिखाता, "माई गॉड!"

"हाँ-हाँ, दस सेर!" लीना उत्साह से बताती, "कहते थे–जी भरकर खा लो। एक बार खूब नीयत भर लो, तो नार्मल हो जाओगे। यह पापा का सिद्धान्त था।"–या–"उन दिनों दो घोड़ों की बोस्की, चार घोड़ों की बोस्की आती थी–और पापा ने घर-भर की चादरें उसी सिल्क की बनवा दी थीं–"

"वह तो बड़ा कीमती सिल्क हुआ करता था!" मेहता प्रशंसा से कहता।

"रुपये की पापा ने कभी चिन्ता नहीं की। मखमल के परदे, दो-दो हजार के गलीचे हैं उनके पास। आप सोचिए, उन दिनों के दो हज़ार··· !" उस समय वह किशोर की उपस्थिति भूल जाती। "फर्स्ट क्लास से नीचे कभी सफ़र नहीं किया। और पापा वह सिगार पीते हैं–आप सोचिए, अंग्रेज कलक्टर कहा करते थे–मि० दीक्षित, आपके यहाँ जो सिगार मिलता है–वह हमें इंग्लैंड में नसीब नहीं है··· घर के हर आदमी पर एक बैरा तो आज भी है। पाँच-दस रुपयों का तो हिसाब ही नहीं माँगते···"

'कमाल है!' के भाव से मेहता सुनता रहता। वह खुद अच्छे परिवार का था और तनखा के अलावा सौ-दो सौ घर से मँगाकर खर्च कर देता था। वह तो यहाँ सिर्फ इन्तज़ार का वक्त काट रहा था, वस्तुतः उसे तो आगे पढ़ने के लिए इंग्लैंड जाना था। साफ़-सुथरा स्मार्ट सा नौजवान; मुलायम, घने, बिना तेल के बालों का गुच्छा सामने झुका रहता और कभी 'बी' या कभी टाई में वह सचमुच प्रभावशाली लगता था। अपने मस्से पर अँगुली रखे अक्सर किशोर उसे देखता। साँझ को प्रायः वह सफेद पैंट-कमीज़

में आता। आँगन में ही नैट लगाकर बैडमिण्टन कोर्ट काढ़ लिया जाता—और घंटा-डेढ़ घंटा दोनों खेलते। "मेरे यहाँ बेकार पड़ा था," कहकर उसने बल्ले और शटल-कॉक्स का पूरा डिब्बा लाकर रख दिया था—तब पढ़ाई होती थी। एक बार उसके आते ही लीना ने वाक्य अधूरा छोड़ दिया, "इन्हें मिलता ही क्या है ···?"

और इस सबमें किशोर सचमुच, अपने को फ़ालतू ही पाता था। न उसे किसी ने दस सेर क्रीम लाकर दी थी, और न बोस्की की बेड-शीट्स उसने देखी थीं—उसके पास कमीज-कुरते तक सिल्क के नहीं रहे पहले। उसे लगता-अगर मेहता लीना का क्लासफ़ेलो होता, तो? ··· वह ये सारी बातें सुनता और दाँत पीसता-शेखी ··· शेखी ··· यह वर्ग सिर्फ़ शेखी पर जिन्दा रहता है। एक की बात सुनकर प्रतीक्षा करता है, देखें अब दूसरा पक्ष कौन-सी शेखी इसके जवाब में खोजकर लाता है। मेहता के सधे हुए खेलने के ढंग और साड़ी का पल्ला कमर में खोंसकर बार-बार जूड़ा खोलकर कसते हुए लीना का व्यस्त भाव से खेलना देखता, तो कहीं कचोट तीखी हो जाती-कहीं कुछ ग़लत हो गया है। फिर किताब उठाकर चुपचाप बाहर चल देता और 'आईने-अकबरी' के अनुवाद में पढ़ने की कोशिश करता कि अकबर के प्रिय खेल क्या-क्या थे। उसे बार-बार वे दिन याद आते रहते, जब बी. ए. में वह लीना को हिस्टरी का पेपर तैयार कराता था और लीना मुग्ध भाव से ज़रा से होंठ खोलकर उसे एकटक सुनती रहती थी ··· मन होता था, बात अधूरी छोड़कर उन होंठों को धीरे से चूम ले ··· कॉलेज की मोना-लिज़ा फ़तहपुर सीकरी में खड़ी नूरजहाँ बन जाती ··· मेहता के मुँह से ब्रैडले को भी तो ठीक उसी तरह सुनती होगी—और मेहता तो किशोर से हर हालत में आगे है ··· औरत का मन एक बार अगर आ सकता है, तो ··· ! उसके पीछे भी तो वह पागल ही हो उठी थी। कभी भूल सकता है वह लीना के चेहरे के उस भाव को, जब मेहता ने कहा था, "मिसेज किशोर, आपकी अंग्रेज़ी तो सचमुच कमाल की है—मन होता है, घंटों सुनता रहूँ ··· कुछ भी कहिए साहब, कॉन्वेंट की बात ही और है! जो उन स्कूलों में एक बार पढ़ लेता है, जिन्दगी-भर उसकी छाप बनी रहती है ···' और तब एक सख्त चेहरा, साँवले होंठों में दबा स्टेट-एक्सप्रेस से निकलता हुआ धुआँ किशोर के मन मस्तिष्क पर छा गया। किशोर डरता था और किसी भी तरह कहने की हिम्मत नहीं जुटा पाता था—'गेट आउट ऑफ़ माई हाऊस, यू स्काउंड्रल!'

लीना का जन्मदिन था। वह बैठा-बैठा काँच के गिलास में ब्लेड घिस रहा था। लीना नहा-धोकर साड़ी लपेटे निकली थी। गीले बालों को सिर पर पार्वती की तरह बाँध लिया था। भीगी साड़ी को डोरी पर फैलाती हुई बोली, "अभी प्रोफेसर मेहता पासपोर्ट के सिलसिले में दिल्ली गये थे। कहते थे, एक डॉक्टर है, जो शर्तिया मस्सा दूर कर देता है ···"

"बीस बार तो दूर कर लिया, यार! लोग कहते हैं, घोड़े का बाल बाँधो—फिर नहीं

होता; लेकिन हर बार आ जाता है। इसीलिए मूँछें रखनी पड़ती हैं··· " वह अफ़सोस से बोला।

"एक बार दिखा लेने में क्या हर्ज है?" लीना ने स्नेह से कहा, "जब वे खुद जाकर डॉक्टर से मिले हैं, इतनी परेशानी उठायी है, तो एक बार यह भी कर देखो ··· और पता है, हमारे लिए जन्मदिन पर क्या लाये हैं ?"

"क्या?" उसने हाथ रोककर उत्सुक प्रश्नमुद्रा में उधर देखा।

लीना अन्दर से एक डिब्बा उठा लायी। ब्रॉन्ज़ शेड की रॉ सिल्क साड़ी थी।

लीना बता रही थी, "दिल्ली में तो आजकल क्रेज़ है रॉ-सिल्क···"

किशोर की हिम्मत छूकर कपड़ा देखने की नहीं पड़ रही थी। सूखे गले से शब्द ठेलकर कहा, "यह तो बड़ी कीमती होगी। सौ-सवा सौ से कम क्या होगा दाम···!"

"दाम तो नहीं बताये, लेकिन हाँ, इससे कम क्या होगी! एक ब्लाउज़-पीस भी है।" उत्साह और आहलाद से लीना ने साड़ी के नीचे रखे ब्लाउज़ पीस को खींच लिया, "हमारे पास तो सच, अच्छी साड़ी भी नहीं रह गयी कोई। वह शादी के वक्त की चार छः पड़ी हैं।"

"बस?" किशोर ने भोलेपन से पूछा, "साड़ी ब्लाउज़ ही दिये हैं? और कपड़े नहीं दिये ?"

लीना जैसी खड़ी थी, वैसी ही रह गयी। बड़ी मुश्किल से सिर्फ़ इतना ही पूछा, "क्या मतलब?"

किशोर ने कोई जवाब नहीं दिया और डिब्बा एक ओर खिसकाकर ब्लेड घिसने लगा। तभी उसके कन्धों को छूकर क़रीब-करीब चीती आवाज में लीना ने पूछा, "मैं पूछती हूँ, मतलब बताओ?"

झटके से किशोर ने उधर मुँह घुमाया और दुगुनी ऊँची आवाज में पूछा, "मारोगी मुझे? लो, मारो··· नहीं बताता मतलब! कर लो, जो तुम्हारा मन हो। मुझे भी बाप का चपरासी समझ लिया है, जो घुड़कियों में आ जायेगा?··· अन्धा हूँ? मुझे दिखायी नहीं देता?··· हुंह, मुझे मिलता ही क्या है···"

लीना का स्वर गिर गया। वह न चीखी, न चिल्लायी। बहुत सख्त आवाज में बोली, "देखो किशोर, आज से–बल्कि उसी क्षण से हम लोग साथ नहीं रहेंगे। मैं भी सोच रही थी कि अब तुमसे बात कर ही ली जाये। न तुम अन्धे हो, न बहरे। तुम सिर्फ़ इन्फीरियॉरिटी कॉम्प्लेक्स के मारे हुए हो। इसलिए तुम्हें मेरी हर बात वह नहीं लगती, जो होती है। उसके पीछे और-और बातें दीखती हैं। मैं समझती थी कि मैनर्स, बातचीत, उठने-बैठने के तौर-तरीके और व्यवहार ऐसी चीजें हैं, जिन्हें बहुत जल्दी बदला जा सकता है, सीखा और भुलाया जा सकता है। लेकिन इस कॉम्प्लेक्स का तो कोई इलाज ही नहीं ··· तुम्हें मेरे हँसने-बोलने-चलने-सबमें शेखी और दिखावा लगता है···"

"हाँ-हाँ, मैं जाहिल हूँ, बेवकूफ हूँ!" झटके से किशोर उठा और पूरी ताकत से काँच

के गिलास को ज़मीन पर पटककर बकता रहा, "लाट साहब की बच्ची कहती हैं, हमें इन्फीरियॉरिटी-कॉम्प्लेक्स है! ··· हममें बातचीत, उठने-बैठने के मैनर्स नहीं हैं! ··· हम कंजूस और बदजबान हैं! ··· बड़े बाप की बेटी और मिठबोली तो आप हैं! या तो जो मन में आये, सो करने दो; या ये सब सुनो ··· जिन्दगी तबाह करके रख दी ··· भाई-भाभी के पास नहीं गये। माँ-बाप की तरह उन्होंने लिखाया-पढ़ाया और शादी के बाद से उन्हें धेले की मदद नहीं कर सके ··· अपने लिए एक रूमाल नहीं लिया। कुछ बचे, तो लें ··· दिन-रात कॉलेज में मेहनत करो, थीसिस के बहाने ट्यूशन करने जाओ ··· और यहाँ दिल में भरी है ··· कोठी-बँगला, नौकर-चाकर ··· बाहर की नवाबी! ···"

"देखो किशोर, पापा को ··· "

"बीस बार कहूँगा! रोक, तू मुझे रोक। नक़लची बन्दर कहीं के! साले अंग्रेज़ों की नक़ल कर-करके, उनके जूते चाट-चाटकर आज साहब बन गये हैं ··· हा-हंा-हा, साहब! दस सेर क्रीम लाये थे ··· बोस्की की चादरें ··· दो-दो हजार के गलीचे ···"

पता नहीं क्या-क्या बकता-झकता वह बाहर चला गया और सारे दिन अपने-आपसे बातें करता सड़कों पर भटकता रहा। दिन छिप़ने के बाद जब डरता-डरता आया, तो दरवाजे पर ताला था और लीना चली गयी थी ···

वह 'पास्ट'-अतीत आठ साल पहले का है। दूसरा अतीत है आठ साल का यह काल-यानी अगले साल उसके खुद कलकत्ता चले जाने के बाद बीता हुआ समय। उसका एक विद्यार्थी बहुत बड़ी जगह घरजमाई बनकर आया था, और उसने किशोर को चार सौ का स्टार्ट दिया था ··· यह इस अतीत का प्रारम्भ है।

"सारा खेल रुपये का है, और अब रुपया कमाना है," उसने निश्चय किया और भूत की तरह रुपये के पीछे लग गया-भूल गया, कहीं कोई लीना है, कहीं कोई दीक्षित साहब हैं और कहीं कोई अतीत है। एक नौकरी पर पाँव टिकाकर दूसरी का सौदा होता ··· पहला तल्ला ··· दूसरा तल्ला और एक दिन लिफ्ट उसे दसवें तल्ले के इस चैम्बर में ले आयी जिसके दरवाज़े पर लिखा था, 'जनरल मैनेजर ···'

मगर नहीं, सम्पर्क लीना और दीक्षित साहब से न रहा हो, और उसने दो साल पता न लगाया हो कि लीना कहाँ है—भूला वह दोनों में से एक को भी नहीं था। आज तो उसे लगता है, लीना नाम का एक परदा था, जिसके हटते ही उसने अपने आपको दीक्षित साहब के रू-ब-रू खड़े पाया। परदा कहना भी गलत होगा, वह सिर्फ एक मेज का तख्ता थी और उस पर कोहनियाँ टिकाकर वह और दीक्षित साहब पंजा लड़ा रहे थे—अपनी-अपनी शक्ति आज़मा रहे थे। जिस दिन उसने जाना कि लीना ने लैक्चरशिप ले ली है, उस दिन उसे सचमुच बहुत सन्तोष हुआ। 'च्स्सी! च्स्सी!' की अभिव्यक्ति के साथ उसने महसूस किया कि अपराध का बोध उसकी छाती से दूर हो गया है। दूसरे तरीकों से उसने यह सन्देश भी भिजवा दिया कि लीना चाहे, तो किसी के साथ-चाहे, तो मेहता के साथ ही—सैटिल हो जाये, उसे कोई आपत्ति नहीं होगी। वह चाहेगी, तो

कानूनन भी भरसक सब-कुछ करने को तैयार है। उसे लीना से कोई शिकायत, कोई द्वेष नहीं है। बाद में सुना, मेहता इंग्लैंड से ही किसी को लाया है···

बहरहाल, इस निश्चय के साथ ही उसे लगा कि वह लीना को भुला सकने में सफल हो गया है। सभी से गलत निर्णय हो जाते हैं-पूरे होशो-हवास में सारा आगा-पीछा सोचने के बावजूद! हम लोग एक-दूसरे के लायक नहीं थे। यों अक्सर ही उठते-बैठते, खाते-पीते लीना के साथवाले दिनों की तस्वीरें दिमाग़ में कौंधती थीं—और आज यह आँक सकना उसके लिए असम्भव हो गया कि कितनी घटनाएँ और बातें वास्तव में हुई थीं और कितनी उसकी अपनी कल्पना की उपज हैं। उनकी असलियत में उसे खुद विश्वास नहीं है और उसने यह तो मान ही लिया है कि उन दिनों जिस अस्वाभाविक मानसिक तनाव और दबाव से वह गुजर रहा था, उसके रहते हुए बातों को सही परिप्रेक्ष्य में ले सकना सचमुच उसके लिए असम्भव था। साथ ही वह इस बात को अच्छी तरह जानता था कि लीना मर जायेगी, आत्महत्या कर लेगी; लेकिन न तो किसी के साथ सैटिल होगी, न उसके सामने झुकेगी··· झुकना, पछताना, समझौता करना उसके खून में ही नहीं है। एक तो वह खुद इतनी निर्णय-दृढ़ और फिर अफसरी-वर्ग के संस्कार, जो व्यक्ति को तोड़ देते हैं, बिखराकर चूर-चूर कर देते हैं, लेकिन झुकने नहीं देते··· उसकी रग-रग में सिगरेटों से काले पड़े होंठ और बाई-फोकल चश्मे से झाँकती काली खुर्राट आँखें तैरती हैं-

किसी ने बताया था कि दीक्षित साहब हार्ट फेल हो जाने से चल बसे हैं। न उसे अफसोस हुआ, न खुशी। वे रहें, न रहें—उसकी दुनिया में कोई फर्क नहीं पड़ता। हाँ, वह प्रतीक्षा जरूर कहीं मन में उन दिनों करता रहा कि उनकी मृत्यु की सूचना तो कम-से-कम उसे मिलेगी ही। लेकिन कोई सूचना नहीं दी गयी। 'स्टेट्समैन' के पर्सनल कॉलम ने उनके न रहने की सूचना को ज़रूर पक्का कर दिया। लीना ने मसूरी में हैकमैन्स के सामने चलते हुए कहा था (उसे अभी भी वह जगह याद है), 'हमारी अपनी स्वतन्त्र जिन्दगी है। पापा उसमें कहाँ आते हैं!' लेकिन वह एक झूठ था—बहुत बड़ा और यन्त्रणादायक झूठ··· क्योंकि जिस दिन उन्होंने लीना को स्टेशन पर विदा किया था, पाँच हज़ार के चैक के साथ बन्द लिफ़ाफ़े में बैठकर वे खुद किशोर की ज़िन्दगी में भी घुस आये थे, और अनचाहे मेहमान की तरह उसके अस्तित्व पर हावी हो गये थे—जिनसे सात जन्म में वह जाने को नहीं कह सकता था और जिनकी उपस्थिति उसकी नस-नस को तड़काये दे रही थी···

हाँ, जिस दिन लीना नाम का परदा बीच से हटा था, या उसने जाना कि लीना सिर्फ़ मेज़ का तख्ता थी, और वे दोनों उस पर अपनी-अपनी कोहनियाँ टिकाये शक्ति आज़मा रहे थे; उसी दिन महसूस किया कि उसकी असली लड़ाई दीक्षित साहब से है···

वह मैनेजर हुआ, तो पहली बार उसके मन में उभरी—दीक्षित साहब अब तो कमिश्नर होकर रिटायर हो गये होंगे। इन्कम-टैक्स के मामलों में तो उनका कोई जवाब

ही नहीं है। सरकारी आदमी रहे हैं—बीस ताल्लुक़ात होंगे और सारी भीतरी पोलें उन्हें पता होंगी—सेठ से कहकर क्यों न उन्हें यहाँ बुलवा लिया जाये? उसके नीचे काम करेंगे और चैम्बर में आने से पहले खट्-खट् करके कहा करेंगे, 'मे आई कम इन, सर?' वह बैठा-बैठा उनकी फ़ाइल के कागज़ों पर दस्तखत करता रहेगा और वे अदब से एक ओर खड़े रहेंगे। वह भारी आवाज़ में कहेगा, 'मिस्टर दीक्षित, आपने वह 'जुपीटर-प्लाईवुड' का एनुअल स्टेटमेण्ट तैयार नहीं कराया? उसे परसों जाना है। उसकी ही वजह से नये परमिट बहुत डिले हो रहे हैं···' और कल्पना में मेज़ के पास खड़े दीक्षित साहब से यह सब कहकर उसे आत्मिक प्रसन्नता हुई। तभी शंका हुई—उनके सामने वह यह सब-कुछ कह पायेगा? उस समय न उसका स्वर हकलायेगा, न ज़बान लड़खड़ायेगी? असम्भव! वे बाज़-जैसी निगाहें—वह चेहरे की अभेद्य भावहीनता··· उस सबका सामना वह कभी भी नहीं कर पायेगा··· यहाँ आकर वे ज़िन्दगी-भर कोई काम न करें—वह उनके सामने कभी ज़बान नहीं खोल सकेगा। चौथे-पाँचवें क्लास में जिन सिमियन साहब से उसने केन खाये हैं, उन्हें आज भी चाहे सौ रुपये ही मिलते हों, उनके सामने उसकी आँखें नहीं उठ सकतीं। वह भय अब उसकी प्रकृति बन गया है।

उसे याद है; चुपके से पीछे वाली बरामदे के पास वाली खिड़की के नीचे वह साइकिल खड़ी करता और बिना जूतों की आवाज़ किये लीना को पढ़ाने चला जाता। बाहर निकलता, तब तक दीक्षित साहब आ गये होते—या तो बीच वाले कमरे में चाय पी रहे होते या बाहर अलसेशियन कुत्ते को लिये लॉन में चहलकदमी कर रहे होते, माली को तरह-तरह के आदेश दे रहे होते। चोर की तरह वह बरामदा उतरता—कहीं निगाह न पड़ जाये, उसे बुला न लें। साइकिल लेकर ऐसा हड़बड़ाता हुआ निकलता, मानो वे भी पीछे-पीछे आ रहे हों। बाहर सड़क पर आकर खुली साँस लेता और सिर इस तरह झटकता, जैसे पानी की दमघोंट सतह के नीचे दबा जा रहा हो··· वे देख लेते, तो बुला भी लेते, 'किशोर बेटे, कैसे हो? लो, चाय पी लो···' उनके सामने रहना कितना कष्टकर अनुभव था! वे बहुत ही कम बोलते थे, सिगार को होंठों में घुमाकर पपोलते हुए कुछ सोचते रहते, बार-बार माचिस जलाते रहते—लेकिन वे दो क्षण उसके लिए हजार इम्तहानों में बैठने से ज्यादा दुस्सह हो उठते। 'जी, ठीक हूं!' कहने में उसे चक्कर आ जाता, हकलाहट बढ़ जाती और पिण्डलियों तक पसीना तैर आता। दीक्षित साहब ने कभी उससे कुछ नहीं कहा। आज लगता है, कुछ न कहना उनका बहुत रिजर्व रहना नहीं, उसे बात करने लायक न समझना था। उनका अफ़सरी दबदबा, बाहर का रौब और घर का—लीना तक का—भय कुछ इस तरह उसकी चेतना पर छा गया था कि वह मजबूर हो उठता था···

दूसरों द्वारा सौंपा गया भय व्यक्तियों के लिए कितना घातक और प्राणान्तक हो सकता है, यह बात तर्क से चाहे समझ में न आती हो; लेकिन खुद किशोर जानता है: उसकी सारी शक्तियाँ इन आठ वर्षों में सिर्फ़ उसी भय से लड़ने में लगी रही हैं···

नौकरियां बदलना सांसारिक दृष्टि में सफल होते चले जाना, तो सिर्फ उस भय के सामने बार-बार पराजित होकर नये-नये हथियारों से लड़ने जैसा रहा है··· ईसप के मेंढक की तरह वह मानो इन एक-से-एक ऊँची जगहों पर खड़े हो-होकर हर बार अपने-आपसे सवाल करता: क्या बैल इतना बड़ा था? क्या अभी भी वह दीक्षित साहब से डरता है? क्या अभी भी वह उनसे छोटा है। तभी ख्याल आता कि वे तो जाने कब के गुजर चुके हैं···

बड़ी-बड़ी पार्टियों में वह कुशलता से छुरी काँटों का इस्तेमाल करता, कीमती शराबें पीता, कोई पुरमज़ाक बात कहता, या रेस्तराँओं में पाँच-पाँच, दस-दस रुपयों की टिप छोड़ता, बेयरों-चपरासियों के सलाम लेता, तो कहीं बाई-फोकल चश्मे से झाँकती दो आँखें-आँखें नहीं, आँखों का निराकार अहसास होता और उन्हें वह चुनौती देकर दिखाता रहना-तुमने कभी पन्द्रह रुपयों की टिप छोड़ी है? मन की गहराई में उसे लगता ही नहीं था कि वे नहीं है! और ऐसे मौकों पर वह ठीक वही मुद्रा धारण करने की कोशिश करता, जो उसके हिसाब से दीक्षित साहब ऐसे मौकों पर धारण कर सकते थे-वही सचेत लापरवाही··· हजामत बनाते समय घण्टों वह अपने चेहरे को अलग-अलग कोणों से देखता-किधर से वह दीक्षित साहब जैसा रौबीला लगता है··· उसने चेहरा अधिक रौबीला करने के लिए मोटे फ्रेम का चश्मा भी ले लिया था, जिसे वह झटके से उतारता और लगाता था···

हॉल-एण्डर्सन से हजार रुपये का नया सूट बनकर आया, तो पहनने से पहले उसने मन-ही-मन कहा, 'तुमने देखा भी है ऐसा सूट?' पहना, तो मुँह से निकला, "आँखें फटी रह जायेंगी!' लकदक बरदी में जब ड्राइवर अदब से लपककर कार का दरवाजा खोलता, तो वह किसी से निश्शब्द कहता, 'अभी तक उसी हिलमैन को धकेलते होंगे!' किसी कर्मचारी की गलती पर उसे माफ़ करने को मन होता, तभी ध्यान आता, 'वे' उस समय क्या रवैया दिखाते? और तभी भारी सख्त आवाज उसके गले से निकलती, 'नो-नो, मिस्टर सेन! मैं पूछता हूँ, ऐसा हुआ ही क्यों? आप जानते हैं, मैं गलती किसी भी हालत में बरदाश्त नहीं कर सकता···' उसे लगता, कहीं इस बात को 'वह' भी सुन रहा है और आवाज की सख्ती बढ़ जाती··· किसी बहुत जरूरी काम से कोई छुट्टी माँगता तो एप्लीकेशन स्वीकार करते-करते उसे सिगरेट वाले होंठों का ख्याल ही आता और हाथ रुक जाता···

शुरू से ही एक अजीब विद्वेष-भरी घृणा भर गयी थी उसे नौकरी चाहने वालों के प्रति-ऐसे प्रार्थना-पत्र वह बिना पढ़े फाड़ देता और कोई सामने ही पड़ जाये, तो बेमुरव्वती से कह देता, 'भूखे मर रहे हो, तो यहाँ क्या करने को रुके हो? अपने घर क्यों नहीं जाते? कोई जरूरी है कि कलकत्ता रहकर नौकरी ही करो? कलक्टर के दामाद हो, जो थोड़े में काम नहीं चलता? मैंने कहा न, यहाँ कोई जगह ही नहीं है। नहीं सुना···?' और बात पूरी होने से पहले ही बाहर खड़े बैरे के सिर पर घण्टी घनघना

उठती–'वह' होता, तो ठीक यही व्यवहार करता–मैं तो चुप हूँ, 'उसने' तो इतनी देर में धक्के देकर निकलवा दिया होता। उसे फुरसत थी इतना सब बकवास सुनने की···? इण्टरव्यू में जानबूझकर आड़े-टेढ़े प्रश्न पूछकर प्रार्थी को नर्वस कर देने में उसे अद्‌भुत क्रूर सन्तोष मिलता··· ऐसे लोगों को तो बरदाश्त कर सकना ही उसके लिए मुश्किल था, जो हकलाते हैं; बात ठीक से नहीं कर पाते; पसीने-पसीने हो जाते हैं; मसले हुए बिना इस्त्री के, सस्ते-से कपड़े पहनकर आते है, और बाइकाउण्ट को विस्काउण्ट बोलते हैं-वहाँ उसे वर्षों पहले का किशोर दिखायी देता है–और अब उसे बिल्कुल-बिल्कुल नहीं देखना चाहता··· ऐसे किशोरों को धरती पर रहने का कोई हक़ नहीं है! ऐसी परीक्षा में हर असफल प्रार्थी उसे फ़िज़ूल-फ़ालतू कूड़े की तरह लगता था।

सिगरेट पीते-पीते अचानक उसे ख्याल आता-अक्सर 'वह' जब बहुत चिन्ता-मग्न होता, तो आधी पी हुई सिगरेट को ही ऐश-ट्रे में डाल देता था। झट उसका हाथ दो कश पी हुई सिगरेट को ऐश-ट्रे में मरोड़ देता! धुँधला-सा ख्याल आता–ये बारह पैसे कभी बहुत कीमती थे। कभी किसी जगह दो-चार सौ रुपये देने की बात आती और उसे ध्यान आता कि 'उसे' रुपये की चिन्ता नहीं थी, तो वह झटके से रुपये लिखकर दस्तख़त कर देता–वह 'उससे' किस बात में कम है? अक्सर जब वह खड़े होकर बातें करता तो सिगरेट का टिन ठीक उसी तरह उसके हाथों में खेलता, जैसे लीना को विदा करते समय 'उसे' करते देखा था। स्टेट एक्सप्रेस के सिवाय कोई सिगरेट ज़बान पर चढ़ती ही नहीं थी··· जब उसने पहले-पहल कन्धे उचकाकर इन्कार करना सीखा था, तो अक्सर उसे दो बातें साथ याद आती थीं–जिस फिल्म में या व्यक्ति को उसने इस तरह कन्धे उचकाकर इन्कार करता देखा था, उसकी कैसी खूबसूरत नकल की है; दूसरी यह कि 'तुम' तो अभी भी सिर हिलाकर इन्कार करते होंगे–सोलहवीं सदी का तरीका! कीमती रेशम का ड्रैसिग गाउन पहनकर सिगार होंठों में घुमा-घुमाकर पपोलते हुए, जब वह विचारमग्न बालकनी में खड़ा होता, तो कई क्षण उसे भ्रम हो जाता, मानो 'वह' खुद दरवाजे पर ही ठिठका खड़ा है, या ड्राइंगरूम में प्रतीक्षा कर रहा है और यह घूमने वाला व्यक्ति स्वयं नहीं-दीक्षित है! लगता, कैसे आत्मविश्वास और रौब से वह चहलकदमी कर रहा है–जैसे एरिस्टोक्रेसी उसके खून की बूँद-बूँद में घुल गयी है–ऐसी शान से भला 'वह' क्या खाकर घूमेगा! ··· कभी किसी कमजोर क्षण में अपने-आपसे एक सवाल करता–उसे दीक्षित का भूत तो नहीं आता? ··· शायद इसे ही 'भूत आना' कहते हैं? फिर अपने को झिड़क देता–क्या भूत ··· वूत ···

'तुम्हारे बाप ने कभी यह जहाज देखा है?' बोइंग-प्लेन में क़दम रखते ही पहला वाक्य मन में आया ··· किसी दुकान के सामने से गुजरते हुए कभी किसी चीज को खरीदने की जरूरत महसूस होती, दो-एक कदम उधर बढ़ाता भी–तभी ध्यान आता: 'वह' इस दुकान में क़दम रखना अपनी बेइज़्ज़ती समझता–और वह उल्टे पाँव लौट आता। ड्राइवर को नोट देकर भेजता ··· किसी भी व्यक्ति को देखकर पहला प्रश्न मन

में उठता-जिसे वह किसी-न-किसी तरह से पूछ लेता– इसे कितना मिलता होगा? वह आदमी की कीमत उसको मिलनेवाले पैसे से लगाता। ज्यादा पैसे मिलने-वाले के प्रति अपने लापरवाह व्यवहार का उसे सचमुच अफसोस होता।

सिनेमाओं में, मैगजीनों में, आसपास की दुनिया में, वह ध्यान से देखता-सुनता कि ऊँची पोस्ट और पोजीशन वाले लोग कैसे बोलते हैं, कैसे हँसते हैं, किस समय उनके चेहरे पर क्या भाव रहता है, कैसे खड़े होते हैं और काम तथा आराम के समय उनके क्या-क्या पोज रहते हैं। और जब उन्हें निर्व्याज सरलता से नक़ल कर लेता, तो सुनाता, 'सुना साहब बहादुर, ये नये अफसरों के उठने-बैठने, बोलने-चालने के ढंग हैं! तुम सोलहवीं सदी के अंग्रेजों की नक़ल करके अपने को बड़ा मॉडर्न लगाते हो!···' नीचे-वाले कहते, 'बास बड़ा सख्त है!' तो मन में कह उठता, 'देखा, इसे कहते हैं अफ़सरी! उस गाँव में तुम राजा बने बैठे हो। यहाँ आओ, तो आटे-दाल का भाव पता चले!' फिर सन्तोष से उसका चेहरा खिल उठता, 'द रिस्पैक्ट आई कमाण्ड वाज़ यट एन अनरीयलाइज़्ड ड्रीम फ़ॉर यू···' (मेरा जो रौब है, वह तुम्हें सपने में भी नसीब नहीं था।)

जब कभी वह घबरा जाता, या परेशानियों से बेचैन हो उठता और उसके घुटने जवाब दे जाते, तब वह 'उसके' उस सुप्रीम-कॉन्फिडेन्स का ध्यान करता, और सचमुच ही मन में उत्साह और शक्ति भर उठती। चेतना में कभी प्रसन्न सुख का विस्मय क्षण भी आता-कैसी अजीब बात है! मैं 'उसी के' हथियारों से उससे लड़ रहा हूँ···

इस प्रकार एक अनवरत, अघोषित युद्ध था, जो हर पल अस्तित्व के रेशे-रेशे में चल रहा था; और उसकी उपस्थिति ही उसकी जीवनी-शक्ति का पर्याय बन गयी थी, जो घोड़े पर चढ़े उद्धत सवार की तरह एड़ें मारती थी, कौंचती थी–और यह सब उसके लिए साँस लेने जैसा स्वाभाविक हो उठा था···

लेक से उठकर किशोर गाड़ी के पास आया, तो उसका सिर घूम रहा था··· अन्यमनस्क भाव से दरवाजे के हैण्डिलवाली चाबी का सुराख टटोलता रहा··· फिर इंजिन स्टार्ट करके देर तक यों ही बैठा बाहर देखता रहा··· अत्यन्त तटस्थ, निर्वेद, ऊँचाई पर खड़े होकर नीचे घाटी में पड़े घायल, पस्त सिपाही को देखकर मन में करुणा उमड़ आयी थी। उसकी आँखें फिर सजल हो आयीं–दो दुर्द्धर्ष शक्तियों के बीच लीना, एक निरीह लड़की लीना–पिस गयी!

'क्या हम अतीत को भुला नहीं सकते?' किशोर को लगा, यह लीना ने माफी नहीं मांगी–पहली बार दीक्षित साहब के वास्तव में मर जाने की खबर दी है··· तो सच ही ताकत आजमाता दूसरा हाथ लीना का नहीं था? लीना तो सिर्फ मेज का एक तख्ता थी– वह दूसरा हाथ 'उसका' था··· बेचारा! उसे पहली बार लगा–महाराणा प्रताप के टूट जाने की खबर से अकबर को कैसा लगा होगा··· एक वीर प्रतिद्वंद्वी की पराजय पर कैसा लगता है···

फ्लैट पर आकर उसने सबसे पहले रामन को फोन किया: "रामन, सुबह बर्टन को फ़ोन करना है दिल्ली ··· मैं शायद नहीं जा पाऊँगा। तबीयत अच्छी नहीं है ··· फिर बातें तो सारी अन्तिम रूप से बड़े बाबू को ही तय करनी हैं–मैं सुबह उनसे बातें कर लूंगा ···"

फिर मानो अपने को जैसे-तैसे उठाकर उसने पलंग पर डाल दिया। फेफड़ों में गहरी सांस लेकर धीरे-धीरे छोड़ी, तो महसूस हुआ, वह बहुत-बहुत थक गया है-तीस-पैंतीस की उम्र तक आदमी में उत्साह होता है और हर नयी जगह उसे ललकारकर बुलाती हैं··· चालीस-बयालीस तक थकान शक्तियों को चूस डालती है··· ऐसे ढीले तन और मन से अब जिन्दगी का ढर्रा बदलना··· नये सिरे से नयी जिम्मेदारियों को ओढ़ना··· और फिर आखिर उसे अब जरूरत भी क्या है? 'वह' अब रह ही कहाँ गया, जो··· □

# मछलीजाल

## राजकमल चौधरी
(जन्म : सन् 1929 ई.)

ललिता प्रेमचन्दानी। विनय गंगादास। और, फ्लेश वोन स्ट्रीट के एक सिरे पर बसा हुआ, एक छोटा सा रेस्तराँ, निशातबाग। पहले रेस्तराँ का नाम था, पर्लहार्बर। बाद में कहीं के किन्हीं नवाब साहब की किन्हीं बेगम साहिबा ने पर्लहार्बर खरीद लिया, और नया नेमबोर्ड लगाया गया-निशातबाग। अन्दर छोटा-सा गार्डेन है, बाद में नन्हा-सा डान्स-फ्लोर, और भी बाद में एक बड़ा हॉल है, और आसपास कई अदद छोटे-छोटे कमरे हैं। कमरे घन्टों और दिनों के हिसाब से किराये पर आते हैं। बरसात होने पर, या डिनर-पार्टी होने पर हॉल काम में आता है। वैसे, गार्डेन सुहाना है; शाम को आते हैं, तो बिजली के दूधिया बल्ब बहुत मीठी रोशनी देते हैं; और क्रॉटन, या केवड़े या गुलाब के झाड़ के पास पड़ी टेबुल पर हल्के उजाले और हल्के अंधेरे का बड़ा ही प्यारा मौसम छा जाता है। शाम का मौसम। यों ही बेवजह उछल आने वाली ख्वाहिशों का मौसम।

ललिता ठीक सात बजे आ गयी। इर्द-गिर्द खाली टेबुल ढूँढ़कर चुपचाप बैठी रही; बेयरा आया तो बोली, "वन पाइनएप्पल विद आइस! और सुनो, साहब आया था? कुछ बोला?"

"यस मिस साहब, एक औरत के साथ में आया रहा। हमको बोला, मिस साहब आएगा, तो बताएगा, हम साढ़े सात तक आएगा। फिर, तुरंत कैथरीन स्ट्रीट जाएगा··· साहब यहाँ पर दो-तीन घंटा बैठा रहा। अठारह रुपया दस आना बिल उठा। साथ में जो औरत था, वही बिल चुकाया। मुझको दो रुपया टिप दिया। गेट मैन को एक रुपया दिया। गुड-नेचर का औरत लगा। मगर, उमर बेसी है। हमारा साहब के साथ फिट नहीं बैठता। साहब के साथ में तो मिस साहब, आप··· यस, याद आया, आपका एक फोन भी आया था। आई.सी.एम. कम्पनी से कौन बाबू बोलता रहा, क्या नाम बताया···"

बेयरा बहुत ही अच्छा आदमी है। ललिता को बहुत मानता है, वाकई आदर करता है। ललिता एक ही आदमी के साथ निशातबाग आती है, और बराबर उसी के साथ बैठती

है। बुलाये जाने पर कभी दूसरी टेबल पर नहीं गयी। विनय टेबुलों पर और डान्स-फ्लोर पर और किराये पर लगने वाले कमरों में घूमता है, ललिता नहीं घूमती। घूमती भी है, तो साथ में और कोई नहीं होता, विनय होता है। रेस्तराँ का मैनेजर मुखर्जी और सारे बेयरे ललिता की इस आदत को पसन्द करते हैं। निशातबाग में सिर्फ कोल्ड-ड्रिंक्स ही मिलते हैं, इसीलिए यहाँ के लोगों को ऐसे दृश्यों से परहेज़ है। फिर, ललिता टिप भी बड़े प्यार से देती है। टिप बड़ी प्यारी चीज़ है। बेयरे बहुत कद्र करते हैं। ललिता कद्र की जाने लायक औरत है। औरत नहीं है, लड़की ही लगती है; मगर, जो आदर निशातबाग की मालकिन, बेगम शाहजहाँ अख्तर को मिलता है, वही ललिता प्रेमचन्दानी को भी मिलता है।

पाइनएप्ल। पाइनएप्ल के बाद, फिर एक पाइनएप्ल। तब, विनय आ गया। तेज़ चलता हुआ आया, और बोला, "प्रेम, तुम गाड़ी लेकर चली जाओ। फिफ्टी सेवन बी, कैथरीन स्ट्रीट। मकान का नाम है बेकरकोर्ट। अपना कार्ड ऊपर भेजोगी, और मिसेज राधारानी अग्रवाल से मिलोगी। मुझसे फोन पर बातें हो चुकी हैं। उन्हें साथ लेकर यहाँ आ जाओ। फिर मैं संभाल लूंगा।"

"तुम्हें कॉफी पिला दूँ, फिर जाऊँगी। इतने थके-थके आये हो, दो मिनट बात करते हैं।" ललिता ने कहा, और हाथ के इशारे से किसी बेयरे को बुलाने लगी। मगर विनय ने मना कर दिया– "तुम जाओ। मैं काफी पी लेता हूँ। थोड़ी ही देर पहले मधु आण्टी के साथ यहाँ बैठा था। तुम नहीं आयीं, तो मैं उन्हें छोड़ने चला गया। रुपये उनके पास हैं, मगर मेरी ज़िन्दगी नरक बनाये बिना बिजनेस में लगाना नहीं चाहती हैं। कहती थीं, मेरे बँगले पर चले आओ। साथ रहो। बताओ, ललिता ऐसा हो सकता है?"

"क्यों नहीं हो सकता? मेरे यहां रहते हो, कितनी बदनामी होती है। मेरी कोई प्रेस्टिज भले नहीं हो, मगर सोसाइटी में तुम्हें तो लोग ज़ानते हैं। कल मेरी मदर तक कह रही थीं, दो-दो बजे रात तक आमने-सामने कुर्सी डालकर पड़ी रहती हो, और कहती हो, विनय मेरे बड़े भाई हैं, विनय मेरे पिता के बराबर हैं, विनय मेरे देवता हैं! अब, मैं माँ को क्या कहूँ?" ललिता ने अपना यह प्रश्न आकाश में बिखेर दिया, और कार की चाबी लेकर चली गयी। विनय पाइनएप्ल का खाली ग्लास देखता हुआ चुपचाप बैठा रहा। बैठा रहा, और सोचता रहा।

दुनिया में क्या-क्या चीजें हैं? सबसे पहले पैसा है, यानी मनचाही चीज़ों को खरीदने की ताकत है। इसके बाद क्या है? इसके बाद, समाज की इज्जत है, प्रतिष्ठा है, ऐशो-आराम है, हँसी-खुशी है, परिवार है, प्यार करने और किये जाने वाली एक स्त्री है, फिर, बहुत सारी खूबसूरत और कीमती चीज़ों की कतारें हैं। मगर सबसे पहले चीज़ों को खरीद सकने की ताकत है। और, सौदा करने वाले, बाकी सारी चीजें, बाकी सारी ताकत, बाकी सारी कीमत तराजू पर डालकर पैसा खरीदते हैं। और, पैसा खरीदने के बाद, उन्हीं पैसों से वह सारी चीजें वापस खरीदना चाहते हैं, जिन्हें बेचकर उन्हें पैसा

मिला है।

यही सामाजिक अर्थतन्त्र का मछलीजाल है। इसमें मछलियाँ अपनी स्वेच्छा से गिरती हैं, और कैद हो जाती हैं।

एक खूबसूरत मछली है ललिता! एम. एस-सी. में पढ़ती थी। पिता नहीं थे, मगर अंकिल डाक-विभाग में सुपरिण्टेण्डेण्ट थे और माँ एक अच्छे फर्म में स्टेनोग्राफर थीं। फिर, अंकिल ने पढ़ाई का खर्च देना बन्द कर दिया, क्योंकि उन्हें अपनी लड़कियों की पढ़ाई और शादी का खर्च देना ज्यादा जरूरी हो गया। फिर, माँ ने कहा, "लीलू बेटी, अपना खर्च आप चलाना चाहिए। मैं विधवा स्त्री हूँ। चार पैसे जुटाकर नहीं रक्खूँगी तो बाद में फुटपाथ पर भीख माँगनी पड़ेगी। तू ग्रेजुएट है। कहीं टीचरी तो पा ही सकती है। कोई नौकरी कर ले।'

नौकरी कर ली गयी। मगर, नौकरी चल नहीं पायी। ललिता नौकरी के लायक नहीं थी। पढ़ाई छूटने का गम था। अच्छी जगहों पर बैठने की आदत थी। अच्छे कपड़े पहनने की आदत थी। टॉयलेट और मेकअप का खर्च कितना भी कम करो, महीने में साठ-सत्तर रुपये तो इस मद में चाहिएँ ही! फिर, बस-ट्राम की भीड़ में मजदूर औरतों की तरह धक्के खाने का अभ्यास नहीं है। पाँव-पैदल चले जाएँगें, नहीं तो कम-से-कम टैक्सी चाहिए।

और शामें घर में कैद रहकर कैसे काटी जाएँ? लाइफ इज़ हेल!

नौकरी कर ली गयी। छोड़ी गयी। फिर की गयी। फिर छोड़ी गयी। हिन्दुस्तानी फर्म के अफसर बड़े बदतमीज होते हैं। या तो छ: घंटे में बारह घंटों का काम पूरा करवाना चाहते हैं या चाहते हैं कि मिस ललिता उनकी और उनके दोस्तों की टेबुल पर प्लास्टिक का गुलदस्ता बनकर मुस्कराती रहें; टूटे नहीं, मुरझाए नहीं, बस मुस्कराती रहें और, विदेशी कम्पनियों की मशीनी चाल-ढाल ललिता को पसन्द नहीं। आदमी आदमी है, मशीन तो नहीं है। कभी खूब मिहनत करता है, तो कभी जरा फाँकी भी दे सकता है। रोज़ नौ बजे दफ्तर आता है, तो एक दिन टेबुल पर फाइलें खुली छोड़कर, किसी दोस्त के साथ कैन्टीन में गपबाजी कर सकता है। ललिता न तो प्लास्टिक का गुलदस्ता है, और न ही टाइपराइटिंग मशीन है। ललिता ललिता है। अपने-आप में एक टाइप, एक कैरेक्टर!

ललिता प्रेमचन्दानी कैरेक्टर है, इसलिए विनय ने उसे अपना बिजनेस पार्टनर बनाया है। विनय बिजनेस करता है। चीज़ें खरीदता है, और बेचता है; बेचता है, और खरीदता है। डलहौजी में, या कहीं भी उसका कोई दफ्तर नहीं है। दफ्तर रखने और नाइन ए. एम. से सिक्स पी. एम. के सिलसिले में उसका विश्वास नहीं है। उसका दफ्तर है निशातबाग होटल! उसका दफ्तर है उसका फोलियो बैग। उसका दफ्तर है उसका दिमाग, जिसमें सैकड़ों टेलीफोन नम्बर, सैकड़ों पते-ठिकाने, सैकड़ों चीजों की खरीद-बिक्री के भाव लिखे पड़े हैं। उसका दफ्तर है 'स्ट्रीप्टीज' करने वाली कैबरे डान्सर्स की तरह

दीखती हुई यह शानदार लड़की, मिस ललिता प्रेमचन्दानी!

ग्रेट ईस्टर्न के बार में ललिता अकेली बैठी बियर पी रही थी। काउण्टर पर विनय अकेला खड़ा-खड़ा रम पी रहा था। विनय गुस्से में था। एक दोस्त ने टिप दिया था: मित्रा साहब ऐसे नहीं पसीजेगा। कोई अच्छी-सी लड़की अपनी सेक्रेटरी बनाकर ले जाओ, अच्छी तरह बातें करो, शाम को कहीं मिलो, खायो-पियो, थोड़ा लिफ्ट दो। पेपर-सप्लाई का यह आर्डर मिल सकता, तो बिना हाथ-पाँव गंदा किये तीन-चार हज़ार रुपये बन जाते।

ललिता ने हफ्ते ही भर पहले ओरिएण्टल आर्ट कालेज की नौकरी छोड़ी थी। वहाँ वह मॉडेल थी। एक सीटिंग के तीस रुपये मिलते थे। सप्ताह में दो सीटिंग, महीने में आठ दस। लगातार चार-पांच घंटों तक एक ही पोज़ में–एक ही मुखमुद्रा में बैठी या खड़ी या अधलेटी रहना ललिता के लिए संभव नहीं था। कपड़े पहने रहती तो जरा और बात थी। फिर उजाले में पचीसों लड़के-लड़कियों के सामने नंगी, निपट नंगी होकर रहना उसे पसन्द नहीं आता था। कभी कोई टीचर पास चला आता और लड़कों को बताता, कमर के पास से गिरती हुई इस लकीर को बड़ी सावधानी से खींचना चाहिए। मिस चन्दानी, प्लीज, ज़रा बैक घूमिए ··· थोड़ा और ··· बायीं बांह ज़रा ऊपर स्टैण्ड पर रहने दीजिए। बस, अब आधे घण्टे में फ्री हो जाएँगी।

ललिता तैयार हो गयी। वह विनय के साथ काम करेगी। कोई सैलरी नहीं, कमीशन नहीं, एलाउन्स नहीं, ललिता और विनय पार्टनर होंगे। साठ प्रतिशत विनय लेगा, चालीस ललिता पाएगी।

मगर ग्रेट ईस्टर्न से उतरकर निशातबाग पहुँचते, और मित्रा साहब को फोन करके चाय पर बुलाते-बुलाते ही ललिता प्रेमचन्दानी ने विनय गंगादास को अपना बड़ा भाई बना लिया। बोली, "मेरा अपना भाई नहीं है, न बड़ा, न छोटा। आज आप मिल गये हैं। आपको देखते ही लगा है, आप मेरे सगे भाई हैं। मुझे सही रास्ते पर ले चलेंगे। मेरा कैरियर बना देंगे। मैं अमीर होना चाहती हूँ। बहुत अमीर। नौकरी से यह होगा नहीं। शादी करने से भी नहीं होगा। मैं अमीर बनना चाहती हूँ, मगर अपने पैसों से; हसबैंड की गुलामी करके नहीं! मैं मेहनती हूँ, और मैं बेवकूफ नहीं हूँ। मैं कर पाऊँगी!"

ललिता ने इतनी सादगी और इतने भोलेपन से अपने आपको विनय पर लाद दिया, कि वह कुछ बोला नहीं, मुस्कुराकर स्वीकार कर गया।

राधारानी अग्रवाल के पास वह स्वयं नहीं गया, ललिता को ही जाने दिया। राधारानी से रायबहादुर पुरुषोत्तम अग्रवाल ने कुल तीन ही बरस पहले विवाह किया है। इस विवाह के कारण समाज में उन्हें आदर मिला है। सुधारवादी और क्रांतिकारी होने का विशेषण मिला है। राधारानी अज्ञात कुल-शील की महिला हैं, आर्य समाज के महिलाश्रम में रहती थीं, इसीलिए रायबहादुर और राधारानी में उम्र का लम्बा फर्क है, मगर उम्र से

क्या फर्क पड़ता है! वैवाहिक जीवन की सफलता के लिए आवश्यक है भावनाओं की समानता। आवश्यक है पारस्परिक स्नेह-सहानुभूति! सो, इन दोनों में पर्याप्त रूप से है। दोनों सुखी हैं।

और, विनय ने इन दोनों के सुख से थोड़ा-सा लाभ उठाना चाहा है। रायबहादुर ने एक नयी लिमिटेड कम्पनी शुरू की है-हिमालय ग्लास प्रोडक्ट्स लिमिटेड। हिमालय ग्लास की फैक्टरी के लिए जमीन खरीद ली गयी है, और टेण्डर मांगे गये हैं। कारखाने की मशीनें रूस की एक फर्म सप्लाई कर रही है। मशीनें बैठाने के लिए रूसी इंजीनियर आएँगे। कलकत्ते से बीस-बाईस मील दूर, रघुनाथपुर में 'हिमालय ग्लास' का एक छोटा-सा उपनगर ही बस जाएगा। मज़दूरों की कॉलोनी। अफसरों के क्वार्टर और बँगले। कारखाने। पैट्रोल पम्प। बड़े-बड़े शेड। बड़े-बड़े गोदाम।

टेण्डर मांगे गए हैं। विनय चाहता है, उसके द्वारा 'तालुकदार एण्ड तालुकदार प्राइवेट लिमिटेड' को 'हिमालय ग्लास' के सारे कारखाने और मकान और कॉलोनी और सड़कें बनाने का ठेका मिल जाए। तालुकदार का टेण्डर मंजूर हो जाए तो विनय और ललिता को कमीशन से ही लगभग दस हजार रुपये मिल जाएँगें। टेण्डर पास होते ही उनका पैसा मिल जाएगा। दस हजार रुपया कम नहीं होता है।

ललिता कहती है, रुपया मिलते ही मिशन-रो में एक शानदार दफ्तर लेंगे। एंग्लो-इंडियन स्टेनो, नेपाली दरबान, एयर कंडीशंड कमरा, फैशन-हाऊस के फर्नीचर, सफेद टेलीफोन···

सुनकर विनय हँसने लगता है। ललिता ने कभी एक साथ दस हजार रुपये नहीं देखे हैं। अपने हाथ में नहीं देखे हैं।

'तुम जरा अपनी मोरेलिटी को भूलने की कोशिश करो, और जरा गंभीरतापूर्वक बातें करना सीखो, और जरा ड्रेस-मेकअप को और भी सिम्पुल, और भी सादा बनाओ, तो मैं छः महीने बीतते-बीतते सिर्फ तुम्हारे शेयर में बीस हजार रुपया डाल सकता हूँ।' विनय हँसी रोककर कहता है।

"और सब कुछ कर लूँगी, मगर मोरेलिटी की बात न करो, विनय भाई! मैं अपना शरीर नहीं बेच सकती हूँ। बेच पाती तो आज यहाँ नहीं होती, किसी करोड़पति व्यापारी के साथ न्यूयार्क और पेरिस घूमती होती। तुम भी ब्रदर होकर ऐसी बात कैसे कहते हो?" ललिता बहुत आज़िजी से सवाल करती है।

विनय उसे समझाने की कोशिश करता है, "देखो ललिता, मोरेलिटी का मतलब तुम गलत लगाती हो। शरीर से और मोरेलिटी से कोई रिलेशन नहीं है। मोरेलिटी इज़ रिलेटेड टु मांइड, टु सोल! मित्रा साहब के साथ तुमने जो व्यवहार किया, वह क्या इम्मौरेल व्यवहार नहीं था? उनको तुमने यह बहम दिया, कि तुम उनकी ओर आकर्षित हो, तुम उनके साथ अकेली किसी भी जगह, किसी भी वक्त जा सकती हो। उनके दिल में एक उम्मीद बँध गयी। और जब उन्होंने पेपर की सप्लाई का आर्डर दे दिया, और हम अपनी

कमीशन का चैक पा गये, तो तुमने उन्हें फोन कर दिया कि तुम शाम की ट्रेन से दार्जिलिंग जा रही हो, उनसे नहीं मिल सकोगी। ··· यह इम्मोरेलिटी नहीं हुई। चीटिंग हमेशा सेलिंग से ज्यादा बुरा काम है। कोई भी चीज बेचना पाप नहीं है। पाप है बेचने का लालच देकर अपना काम निकाल लेना।'

"तो इसका मतलब यह है कि मैं चीट हूँ? मैं बेईमानी करती हूँ? और वे लोग बेईमान नहीं हैं जो अपनी बीवी के रहते, अपना घर-परिवार रहते, मुझसे होटलों में मिलते हैं, और चाहते हैं, चाहते हैं कि ···" ललिता आगे बोल नहीं सकी। ललिता इससे आगे बोल नहीं सकती है। आँखों में आँसू छलछला आते हैं और विनय से रूमाल माँगकर वह बाथरूम चली जाती है। वहाँ दो मिनट रोयेगी, फिर शान्त-स्वस्थ-होकर वापस आ जाएगी। मुस्करायेगी। विनय का हाथ दबाकर कहेगी, "विनय भाई, मैं बहुत सेंटिमेंटल लड़की हूँ। तुम्हारी बहन हूँ। मुझसे नाराज मत हो जाओ। जो भी कहोगे, सब करूँगी। सिर्फ मुझे पवित्र रहने दो, नहीं तो मैं मर जाऊँगी। सच, मर जाऊँगी।"

तीन साल के वैवाहिक जीवन ने राधारानी को बहुत आलसी और बहुत मोटी-ताज़ी बना दिया है। जैसे, कोई लाश पानी में डूबी रहकर फूल गयी हो। निशातबाग की गद्दीदार कुर्सी में सिमट नहीं पाती है। बैलेंस सँभालती हुई कहती है, "बड़ी तेज लड़की है ललिता। आखिर तुम्हारी बहन ही तो है! लिफ्टमैन बिना मुझसे पूछे किसी को ऊपर आने नहीं देता है। पता नहीं, ललिता कैसे मेरे कमरे तक चली आयी। सो इंटेलिजेंट!"

ललिता खुश होती है। बेहद खुश दीखती है। वह राधारानी को साथ लेकर ही नहीं आयी है, रायबहादुर पुरुषोत्तम दास अग्रवाल से 'तालुकदार एण्ड तालुकदार' की तारीफ भी कर आयी है।

बेयरे आते रहे। खाने-पीने की चीजें आती रहीं। पास की टेबुलों पर बैठे लोग राधारानी की उन्मुक्त हँसी और ठहाके सुनते रहे। ललिता मज़ाकिया किस्से सुनाती रही। विनय धीरे-धीरे 'हिमालय ग्लास' की बात शुरू करने लगा। राधारानी विनय की मीठी-मीठी बातों को चक्करदार सीढ़ियों पर चढ़ती रही। अचानक विनय ने ललिता से कहा, "एक बात तो भूल ही गया। तुम्हारी मदर का फोन आया था। तुम्हें दस मिनट के लिए घर आने को कहा है। तुम ऐसा करो, घर चली जाओ, और दस-पन्द्रह मिनट में वापस आ जाओ। तुम आओगी, तब हम लोग विक्टोरिया चलेंगे। वहाँ थोड़ी देर घूमेंगे, फिर तुम इन्हें कोठी पहुँचा देना। क्यों, मिसेज अग्रवाल?"

मिसेज़ अग्रवाल समझ गयी। ललिता भी समझ गयी। ललिता समझ गयी और नाराज होने लगी। मगर, नाराजगी जाहिर करने का कोई उपाय नहीं था। मुस्कुराती हुई उठी, और जल्दी लौट आने का वादा करके चली गयी।

दूसरे दिन सुबह ग्यारह बजे विनय ललिता के घर गया, तो नींद में थी। नौकरानी ने बताया, रात बहुत देर से वापस लौटीं। लगभग एक बजे। खाना भी नहीं खाया। चुपचाप सो गयीं। रात से ही तेज बुखार है। सुबह डाक्टर आया था, दवा दे गया है। अभी एक सौ दो फीवर है।

विनय को आश्चर्य हुआ। निशातबाग से तो यह आठ बजे से पहले ही चली आयी थी! इतनी देर तक कहाँ रही? किसके साथ रही? क्यों?

ललिता नींद में थी। तेज बुखार में थी। बीमार थी। पलकें बन्द थीं और ओंठ सूखे हुए थे, और चेहरा बहुत भारी दीख रहा था। विनय ने जगाया नहीं, वह स्वयं करवट बदलकर छत की तरफ देखने लगी। थोड़ी देर बाद बोली, "मैं कुछ देर अकेली घूमती रही, फिर फिल्म देखने चली गयी। सिनेमा-हाल में ही फीवर आ गया। तुम्हारा काम हो गया? राधारानी ने वादा कर लिया?"

"काम हो गया। तालुकदार का टेण्डर मंजूर हो गया। मैं सुबह नौ बजे 'हिमालय ग्लास' के चीफ इंजीनियर से मिला, दस बजे मिस्टर तालुकदार सीनियर से मिला। फिर, उनके साथ रायबहादुर के दफ्तर में गया। तालुकदार बहुत खुश हैं। कहता था, हफ्ते भर में हमारे कमीशन का चेक निकाल देगा।" विनय ने उत्तर दिया, और ललिता के सूखे केशों से उंगलियाँ फेरता रहा।

ललिता की आँखों में आशा और प्रसन्नता की चमक फैल गयी। वह तकिये का सहारा लेकर उठी और बोली, "चपला, विनय भाई के लिए चाय ले आओ। मुझे भी दवा दे जाओ। विनय भाई, आज चन्दन स्टोर का आदमी आया था। उनके यहाँ से मैं कुछ साड़ियाँ और कपड़े ले आयी थी। उनका बिल नहीं चुकाया गया है।"

"कितने रुपये देने हैं?" विनय ने पूछा। उसके प्रश्न में थोड़ा रूखापन था। रूखापन इसलिए था कि ललिता को साड़ियों की कोई जरूरत नहीं थी। बेकार वार्डरोब भरने से क्या फायदा मिलता है।

"थोड़े रुपये पहले के भी थे। सारे बिल मिलाकर सात सौ चालीस रुपये होते हैं।" ललिता ने धीमी और उदास आवाज में कहा, और खिड़की की तरफ देखने लगी। वह जानती है, विनय को फिजूलखर्ची से नफ़रत है।

ललिता यह बात समझती है। इसलिए कहती है, "साड़ियाँ तो पहन ली गयी हैं, विनय भाई, नहीं तो मैं वापस करवा देती। तुम्हें बुरा लगा है न? मैं बहुत फिजूलखर्च हूँ। अब से ऐसा नहीं होगा, विनय भाई।"

"तुम अच्छी साड़ियाँ पहनो, यह मेरे लिए सुख की बात है। तुम जार्जेट पहनती हो, और राजकुमारी की तरह दीखती हो तो तुम्हारे साथ प्रिन्सेज और एम्बेसी में बैठकर मुझे बहुत सुख मिलता है। मगर मेरा एक सिद्धान्त है। मेरी भी एक मोरेलिटी है। मैं एक पैसा भी उधार या कर्ज नहीं लेता हूँ। मैं जरूर चाहता हूँ कि मेरी ललिता भी कर्ज नहीं ले। सात सौ रुपयों की बात नहीं है। बात आदत की है। और यह आदत बहुत गलत

आदत है!" विनय चाय पीता रहा और ललिता के बालों में, माथे पर और गरदन पर उँगनियाँ फेरता हुआ बोलता रहा।

ललिता की माँ आ गयीं। ललिता को बुखार है, यह भूलती हुई, बोल पड़ीं, "लीलू, पिछले फ्राइडे को तू मुझसे पचास रुपये ले गयी थी अब तक वापस नहीं किये? रुपये हों तो दे दे। मुझे शहर जाना है।"

विनय ने पैंट की जेब से पर्स निकाला और कहा, "मेरे पास रुपये हैं, माँ! आप ले लीजिए। और अब से ललिता को पैसे नहीं दिया कीजिए।"

माँ ने रुपये रख लिये। बोली कुछ नहीं। चुपचाप कमरे में टहलती रहीं। विनय ने ललिता के बालों पर से उँगलियाँ नहीं हटायीं। ललिता आँखें बन्द करके पड़ी रही।

विनय धन्धा करता है। प्यार नहीं करता है। अपने आपसे भी नहीं। मगर उसे ललिता पर दया आती है। अजीब लड़की है! अजीब लड़की की अजीब माँ है! बेटी की बीमारी नहीं, अपना रुपया देखती है।

माँ चली गयीं, तो ललिता ने कहा, "तुमने देखा न विनय भाई। मैं इसी नरक में रहती हूँ। मैं उदास रहती हूँ तो तुम्हें बुरा लगता है। मगर मैं उदास नहीं रहूँ तो क्या करूं? नरक में रहकर ··· "

मगर विनय जानता है कि ललिता इस नरक से अलग नहीं हो सकती है। वह डरती है। डरती है कि घर छोड़ देगी, तो जंगली जानवरों के चंगुल में फँस जाएगी। इस घर में कम से कम चारों ओर दीवारें तो है; रक्षा करने वाली चारदीवारी तो है।

रक्षा? किस वस्तु की रक्षा? शरीर की ही रक्षा तो? इससे क्या फायदा है? आत्मा पाप से भरी हुई है, मन परिताप से भरा हुआ है तो शरीर की पवित्रता कायम रखकर ही क्या होगा?

विनय को ललिता पर बहुत तेज गुस्सा आया, और गुस्से से भरकर वह कमरे से बाहर निकल आया। फिर डाक्टर से पूछने चला गया कि मामूली बुखार है, या ललिता को बिस्तरे से उठने में कई दिन लग जाएँगे ?

विनय वापस नहीं लौटा। डलहौजी चला गया, और स्टाक एक्सचेंज में एक दोस्त के पास बैठकर 'टाटा स्टील' और 'स्टार पेपर' और 'मार्टिन-बर्न' के शेयरों के चढ़ाव-उतार देखता रहा। फिर, मैटिनी शो में 'बेनहूर' देखने चला गया। शाम को अकेला निशातबाग गया। वहाँ जी नहीं लगा तो अपनी ऑण्टी को फोन किया, और उनके साथ 'मेन ऑफ वार' जेटी के किनारे कार लगाकर बैठा रहा, और रवीन्द्र-संगीत सुनता रहा। आण्टी ने कहा, "उस ललिता से पीछा छुड़ाओ, तो हैल्प कर सकूँगी। वह आवारा लड़की है।"

विनय को फिर गुस्सा आ गया। वह आण्टी को घर छोड़ आया, कुछ बोला नहीं। फिर, ग्रीनउड होटल जाकर अपने एक पुराने परिचित के साथ बातें करने लगा।

रात में ग्यारह-बारह बजे मिस्टर तालुकदार सीनियर किसी एक एंग्लो-इंडियन लड़की के साथ ग्रीनउड होटल आए।

दोस्त को अकेला छोड़कर विनय उनके पास चला आया; बोला, "तालुकदार साब, ललिता बीमार है, मुझे कुछ रुपये चाहिए ... "

"ललिता बीमार है? तुम दोनों तो खूब हो! आज दो बजे ललिता दफ्तर आयी थी। बोली, विनय का कार-एक्सीडेंट हो गया है ... रुपये चाहिए। मैंने तुम लोगों का कमीशन का चेक बना दिया, वह बोली, कैश चाहिए। मैंने पर्सनल एकाउण्ट में चेक कैश करवा दिया। सारे रुपये ले गयी। और तुम कहते हो, ललिता बीमार है! खूब आदमी हो तुम भी!"

विनय शर्म से और पसीने से भीग गया। कुछ नहीं बोला। बर्फ बनकर जम गया। बर्फ बनकर पिघल गया। ललिता मोरेलिटी की बात करती थी।

विनय ने बाहर आकर टैक्सी पकड़ी और सीधे ललिता के घर गया। उनकी माँ ने कहा, "ललिता अब तक वापस नहीं आयी है।" □

# एक प्यास पहेली

राजेन्द्र अवस्थी
(जन्म : सन् 1930 ई.)

एक आवाज उठती है, 'वीर बोल हक्कड़े!' फिर कई आवाज़ें शामिल हो जाती हैं और दल-का-दल आगे बढ़ जाता है। एक नवजवान तेल-पिए डंडे की तरह चिकना और काला, दोनों मुट्ठियों में मोरपंखा थामे आगे बढ़ता जाता है। उसकी चाल अटपटी है। उसकी छाती में कपड़े की दो रस्सियाँ बंधी हैं, जिन्हें पीछे दो आदमी थामे हैं। उस पर नियंत्रण आवश्यक है। आज वह, वह नहीं है जो है। उस पर काल्हादेव चढ़ा है और सब उसे ही मनाये जा रहे हैं।

सवेरे-सवेरे गांव के हर घर सुपारी घुमा दी गयी थी और सारा गाँव जान गया था कि आज काल्हादेव की सवारी निकलेगी। गांव का सबसे नवजवान युवक जंतरी इस साल दूल्हे की तरह सजाया गया था—पैर में महावर, कमर में तूस का पाजामा, गले में हार और सिर पर सफेद पगड़ी। गीतों की धुनों और ढोल-मांदर के सुरों के साथ गांव-गांव जाग उठा।

गेवड़े[1] में काल्हादेव[2] है। उसके पास साज के दो खम्भों से मण्डप बनाया गया है। सब के सब वहीं जा रहे हैं। हर औरत और मरद के चेहरे पर मुस्कान है। हर किसी के होंठ खुलते और बन्द होते हैं। जवान छोकरियाँ अपने-आप उचटती हैं। जंतरी से उन्हें प्यार हो न हो, उसके आज के रूप रंग से भला कौन प्यार न करेगा। हर कोई उसके पास जाना चाहती है— मनिआरो, टिटरी, चंदिया, जंगली, रूपी और कौन नहीं!

दल गेवड़े के पास पहुँचा तो काल्हादेव के सामने जंतरी ने माथा टेक दिया और फिर आसमान की ओर आंख उठाकर एक ही उचाट में चिकने साज के लट्ठे पर चढ़ गया। अब वह आसमान में था। उसके साथी उसे घेरे खड़े थे। दोनों 'सबासे' अभी भी

1. गांव की सीमा।
2. बैगाओं का प्रमुख देवता।

रस्सी पकड़े थे। जन्तरी मण्डप पर लेट गया तो उसे घुमाया गया—सात आदिवार। देवा[3] ने काल्हादेव को हल्दी लगायी। अकरी[4] कुदई छोड़ी और जैसे ही धूप दी कि जंतरी की मुट्ठी खुल गयी। उसके हाथ के मोरपंख ज़मीन पर आ गिरे और इसके साथ उस छोटे से साम्राज्य के विजय चिन्ह थे। चंदिया उसके बालों को सहलाती। उनमें गांठ बांधकर उन्हें बाएं कान पर टिका देती जंतरी को यह फैशन बेहद पसंद है। यह जवानी का फैशन है और इसी बीच जब जंतरी आंखें खोलता तो उसकी बिल्ली की तरह तेज और चमकीली आँखें चंदिया को चकाचौंध कर देतीं। वह मुंह पलटाकर खड़ी हो जाती, "उठ रे, क्या आज पहाड़ नहीं चलना?"

"ऊं ऊं ऊं!" जंतरी हाथ खींच लेता।

"अरे, उठ!" प्यार भरी मनुहारों से वह उसके हाथ पकड़ लेती। तब वह एक अंगड़ाई लेता और उठकर उसकी छाती से लग जाता। चंदिया की सारी देह कांप उठती उसके रोयें-रोयें में एक अजीब सरसराहट दौड़ जाती। उसका मन इस धरती को छोड़ देता।

सूरज सिर पर था। उसकी चिलचिलाहट रेत पर पानी-जैसा भ्रम कर रही थी। लेकिन हवा ठंडी थी। वृक्षों के हरे पत्तों से खिलवाड़ करने के बाद जैसे वह ठंडी हो जाती थी। चंदिया और जंतरी एक-दूसरे का हाथ पकड़े यहां-वहां दौड़ रहे थे। दोनों इस बियाबान जंगल में चार[5] तोड़ने आए थे। बियाबान सांय-सांय करता जंगल! वृक्षों से उसका अंग-अंग भरा था—वृक्ष जो कुछ झुके हैं, कुछ उठे हैं, कुछ बैठे हैं और कुछ घूम रहे हैं। पास ही एक झरना बहता है। उसके स्वर हवा की लहरों में तैरकर सारे जंगल में बिखर जाते हैं। कभी बुलबुल बोलता है और कभी कोयल कुहुक उठती है। एक बांसुरी-सी सारे सुनसान जंगल में बज उठती है।

"जंतरी...!"

"हां...!"

"वह देख, सब कुछ कितना सुहावना है! कितना अच्छा!"

"हाँ, बहुत अच्छा! चारों ओर से झाड़ लदा है—सिर से पैर तक! चलो, वहीं चलें।"

जंतरी उस ओर दौड़ गया तो चंदिया को अच्छा न लगा, पर वह काफी आगे निकल गया था, चंदिया को भी दौड़ना पड़ा। जंतरी खुश था। एक ही झाड़ में मनमाने चार लगे थे। इसी झाड़ को दिन-भर तोड़ें तो खाली न हो। चंदिया सोचती—यह धंधा तो रोज का है, ज़िन्दगी में चैन कहाँ है? कभी तो एक-दो पल बैठकर बातें भी कर ली जाएं। पुन्ना से उसे यही शिकायत है, वह कभी उसके साथ बैठकर बात नहीं करता। वह

---

3. गुनियां।
4. अधकुटी।
5. एक प्रकार का जंगली फल जिससे चिरौंजी निकलती है।

समझती है कि पुन्ना बूढ़ा हो गया है। उसे अपने काम से मतलब। जंगल के अफसर आते हैं, उनके साथ वह हंसता हुआ चला जाता है।

लेकिन वह क्या करे, गांव भर में वही सबसे अच्छा शिकारी माना जाता है। जंगल का हर कोई अफसर उसे साथ रखना चाहता है। वह नाहीं करे, तो भी कैसे? एक तो वे अफसर हैं—जंगल के मालिक! दूसरे, उसे भी तो शिकार में मजा आता है। जब वह किसी शेर या सूअर को चित्त कर देता है, तो अपने हाथ में लगे खून को बड़े स्वाद के साथ अपनी जीभ से चाटता है और गर्व भरी आंखों से अफसरों की ओर देखता है। बड़े-बड़े अफसरों ने उसकी पीठ ठोकी है और उसे मुंहमांगा इनाम दिया है।

चंदिया उसकी बहादुरी को जानती है। गांव भर उसके किस्से कहता है, पर वह फिर भी औरत है—वह औरत, जिसे केवल प्यार चाहिए, जो केवल प्यार की बातें सुन कर अपनी भूख-प्यास भुला सकती है। वह जिन्दगी भर प्यार के किस्से सुनती रहेगी, कभी ऊबेगी नहीं। उमर का बन्धन उसे नहीं सतायेगा। पर आदमी, वह भला क्या करे? जानकर भी काश कर पाए! पुन्ना, वह तो आदमी से ज्यादा मशीन है!

"जंतरी!"

"हाँ।"

"मुझे प्यास लगी है।"

"वह रहा नरवा। मैं यहां से देख रहा हूं, तूं पानी पी आ।"

चंदिया बिगड़ गयी, "मैं अकेली जाऊं? क्यों न?"

चंदिया की नजरों में गूलर घूम गया। जंतरी खड़ा न रह सका। उसने दौड़कर हाथ पकड़ लिये, "बुरा मान गयी! चल, मैं पानी पिला देता हूँ।" दोनों एक साथ खिलखिला उठे।

नरवा के तीर चंदिया ने पानी पिया। कित्ता पानी पिया, यह भी पूछने की बात है! पानी पीकर उसने अपना मुंह धोया और आकर रेत में बैठ गयी, वहीं जंतरी बैठा था।

"थक गयी हूं, जंतरी! आराम कर लूं।"

जंतरी चुप रहा, पर उसकी आंखें उठ गयी थीं। चंदिया उसकी गोद में सिर रखकर लेट गयी थी। तब सूरज सीधा सिर पर था और उसकी किरणें चंदिया की देह पर तीर की तरह पड़ रही थीं। चंदिया को उन किरणों के तीखेपन का ज़रा भी भान नहीं था। जंतरी उसके सिर पर हाथ फेर रहा था, "आज दादा फिर शिकार पर जाने वाला है···!"

"कोई नई बात है?" चंदिया ने मुंह बना लिया।

"नहीं तो, पर आज जंगल का अफसर उस शेरनी का शिकार करने वाला है, जिसने पिछले चार महीनों में आठ आदमी मार डाले हैं। नरभक्षी शेरनी खाल तक खींच लेती है। दादा को वहां नहीं जाना चाहिए।"

"हूं···" चंदिया ने कुछ कहा। वह आंखें बन्द कर चुप हो गयी। जंतरी समझ गया था, चंदिया भर उठी है।

"तू तो व्यर्थ चिन्ता करती है।" वह सहज ही बोल गया, "मैं क्या तेरा साथी नहीं हूं? तू मुझे इतना चाहती है···"

चंदिया चौंककर एकदम उठ बैठी और जंतरी के गले में हाथ डालकर झूले की तरह झूल गयी। जंतरी हक्का-बक्का खड़ा देखता रहा। "मेरे अच्छे जंतरी, तुझ पर ही तो भरोसा है।"

"भरोसा रख मां, भरोसा।"

"हां रे, मेरे अच्छे साथी, जंतरी! जब तू मां कहता है तो मेरे कान मुझे काटने लगते हैं। सोचने लगती हूं–बूढ़ी हो गयी हूं? मरघट पास है और यहाँ की बैतरनी पार उतरना मुश्किल हो रहा है···!"

जंतरी ने झटके के हाथ छुड़ा लिया, "मैंने गलत कहा? पर सच है, तू मेरी मां है। बहुत समय के बाद मुझे मिली है, इसलिए तुझसे बेहद प्यार हो गया है। तुझे जो अच्छा लगे, वह समझ। बेटा नहीं तो साथी ही सही।"

तब दोनों आगे बढ़ने लगे और शीघ्र ही नरवा की घाटी पर थे–एक ओर गहरा गड्ढा था, दूसरी ओर चढ़ाई चढ़ने में पैरों को सहारा चाहिए, जरा-सा वह फिसला कि खैर नहीं। ज़िन्दगी की चढ़ाई भी कुछ ऐसी ही है।

सूरज ढल गया था। चंदिया रोटियां सेक चुकी थी और थोड़ा आराम कर रही थी। जंतरी परछी में बैठा चिलम पी रहा था तभी एक दल आया और एक भारी शेरनी जंतरी के घर के सामने पटक दी। वह चित्त-शून्य पड़ी थी और उसका मुंह फटा था। दांत खून से लाल थे और आंखें फट गयी थीं। उसके खुले मुँह और फटी आंखों से मानो पुन्ना का नाम बाहर निकल रहा था। इस दिलेर बैगा ने खूंखार शेरनी के दांत उखाड़ दिए थे। जब शिकारी अफसर पर घायल शेरनी टूट पड़ी थी तो उसका सारा साहस हवा हो गया था। यदि पुन्ना तब न दौड़ता, तो यहां अफसर की लाश आती। पुन्ना ने शेरनी की गरदन पकड़कर उसका काम तमाम कर दिया।

चंदिया बेहद खुश हुई। जंतरी ने अपनी बाजुओं को ठोका! दोनों के चेहरे फूल उठे। परन्तु यह क्या··· ? शिकारी दल प्रसन्न नहीं था। क्यों? आखिर क्यों? सब चुप क्यों हैं? जंतरी ने सिपाही को झकझोर डाला। तभी एक डोली उतरी। एक खटिया पर चारों तरफ से परदा पड़ा था। चंदिया ने देखा। जंतरी आगे बढ़कर उसे देखना चाहता था, पर तभी डोली खोल दी गई। उसमें खून से लथपथ दिलेर पुन्ना सोता हुआ मिला। चंदिया उस पर टूट पड़ी। अफसर ने उसे पकड़कर अलग कर दिया। चंदिया का रोदन हर आदमी के कलेजे में तीर की तरह चुभ गया। जंतरी आंखें फाड़े देखता रहा। उसके आंसू सूख गए थे। अफसर कुछ देर खड़ा रहा, फिर उसने साथियों को इशारा किया। पुन्ना का शव शेरनी की बाजू में लिटा दिया गया। अफसर ने कैमरा खोला, 'क्लिक, क्लिक।' दो-तीन चित्र उतारे और सबको समझाकर अपने साथियों सहित वह चला गया।

चंदिया कब तक कलपती! मौत पर भला किसका वश है! जाने वाला चला गया। हंसा उड़ जाये तो देह मिट्टी है। हीतुरढोल[6] पीटा गया। वहां सारा गांव जमा हो गया और पुन्ना को गांव के बाहर लकड़ियों के बीच रखकर जला दिया गया। जंतरी ने उसे आग दी। जिसका उसने जिन्दगी भर प्यार पाया, उसी को अपने हाथ से उसने राख बना दिया।

रात आयी और चंदिया सो न सकी। जंतरी की भी यही स्थिति थी। दोनों का एक विश्वस्त सहारा चला गया था। दोनों परेशान थे। एक समूचा इतिहास उनके बीच से गुजर रहा था। पुन्ना हवा में परदे की तरह उनकी आंखों के सामने तैर रहा था।

"मैंने कहा था, एक दिन शिकार उसकी जान लेकर रहेगा।" चंदिया ने भरे गले से कहा।

जंतरी ने कोई जवाब नहीं दिया। घण्टे-पर-घण्टे बीतने लगे। चंदिया की बैचेनी बढ़ती गयी। बोली, "यहां तो अकेले डर लगता है, सांय-सांय रात खाए जा रही है। क्या होगा?"

"तो यहां आ जाओ, मां। डरने से क्या होगा!"

वह उठकर बरामदे में आ गयी। जंतरी उठ बैठा और बाहर टहलने लगा।

"तू कब तक ठहरेगा?"

जंतरी ने आसमान की ओर देखा, रात शायद अभी आधी ही बीती थी। वह चुपचाप भीतर आ गया और चंदिया के पास बैठ गया। चंदिया कांप रही थी। जंतरी ने उसके सिर पर हाथ फेरा तो चंदिया उससे लिपट गयी और बिलख-बिलखकर रोने लगी, जैसे किसी ने सहारे की एक डोर एक साथ तोड़ दी है, "अब मेरा क्या होगा, जंती?"

जंतरी को दुख की उस असीम काली चादर के बीच भी एक विचित्र प्रकार की अनुभूति हुई। उसके शरीर का तार-तार कांप उठा। चंदिया के स्पर्श ने इसके पहले कभी उसे इतनी बेचैनी नहीं दी थी। जंतरी ने उसे अपनी भुजाओं में कसकर एक बार छाती से लगाया और फिर तुरन्त अलग हो गया। चंदिया चुप हो गयी थी और अपनी पथराई आंखों से उसे देख रही थी। इसी तरह बेचैन रात ढल गयी थी और भिनसारे की हवा बहने लगी। जंतरी नरवे की तरफ चला गया।

समय के पंख उड़ते गए। पुन्ना को मरे दस दिन हो गए। मरने वाले के जीव को स्वर्ग में शान्ति देना जरूरी है, इसलिए जाति वालों को खिलाया गया। लांदा[7] ढाली गयी और नाच गाना हुआ। कोई किसी का शोक भला क्या जाने? सब नाच गाने में ऐसे खो गए जैसे कोई बड़े हर्ष की बेरा हो। जंतरी के पैर नाच के मैदान में नहीं उठ सके। चंदिया मैदान में उतरी। कुछ देर उसने नाचा, पर अकेलेपन ने उसके पोर-पोर बहा दिए। वह अधूरा नाच छोड़कर बाहर आ गयी।

आधी रात बीत गई सब अपने-अपने घर चले गए। रोज की तरह आज की रात भी भयानक थी। चंदिया ने आंख लगायीं तो सपने की दुनिया में चली गयी। पुन्ना उसके

---

6. मरने पर बजाया जाने वाला बाजा।
7. चावल की शराब।

पास आया था। उसने चंदिया के सिर पर हाथ फेरा था, "मेरी साइगुती[8] जिन्दगी की इतनी लम्बी डगर तू अकेले कैसे काटेगी? देख, जंतरी को तो देख। वह मेरी ही तो छाया है!"

"हां।" चंदिया बोली।

"तो फिर ··· " पुन्ना जाने क्या कहना चाहता था, बाहर खटका हुआ तो चंदिया का सपना गायब हो गया। वह बाहर आ गयी। चारों तरफ देखा, शायद एक चीता था। उसके आते ही वह भाग आया। चंदिया को उस पर गुस्सा आया, सपने का सुख भी निगोड़ा जानवर नहीं लेने देता। ऐसे छन आते कब हैं! जंतरी परछी में करवटें बदलता रहा। चंदिया पुन्ना की बातों की थाह लेने लगी। वह ठीक कहता है। उसके पैर अनायास वहां पहुंच गए हैं जहां जंतरी सोया था। उसने जंतरी के सिर पर हाथ फेरा, "हम कब तक इस तरह चिन्ता करते रहेंगे, जंती! वह तो चला ही गया। हमें एकदम अकेला छोड़ गया।"

"हाँ", जंतरी ने चंदिया की बाजुओं में अपना हाथ रखा तो उसे लगा जैसे उसने कटार की धार पर हाथ रख दिया है, "तू बाजू में फट्टा बिछा ले और सो रह। शायद धीरे-धीरे आंख लग जाये।"

"नहीं रे!" चंदिया बोली, "मैंने एक सपना देखा है। वह आया था। कहता था, कब तक तुम दोनों अलग ···"

एक सनसनाता तीर आया और जंतरी के कलेजे से लग गया। उसने अपनी फटी आंखों से देखा, चंदिया की आंखें उस अंधेरे में चमक रही हैं, उनमें जैसे पानी उतर आया था।

"हां जंतरी, तूने ही तो कहा था, मुझ पर भरोसा रख, मैं जो कहू ··· कहा था न?"

जंतरी पथराई आंखों से चुप देखता रहा।

"मेरा और कौन बैठा है, जंती! क्या ये भयावनी, काटती रातें ही मेरी बाजुओं की छाया बनकर रहेंगी! मैंने तुझे कब देखा था, तू भूल गया होगा। तेल पिये डंडे की तरह तेरा मुस्तैद रूप! काल्हादेव गांव के किस जवान पर इस तरह आया है? तेरी छवि बिसरती नहीं जंती, बिल्कुल नहीं! एक गहरा कांटा चुभा है और आज भी उसका दर्द मेरे पूरे शरीर को साल रहा है। हां, जंतरी ···!" कहते-कहते चंदिया अचानक चुप हो गयी और लम्बी सांसें लेने लगी।

जंतरी ने देखा चंदिया की बंधी सफेद आंखें चमक रही हैं, जैसे मकई के खेत में लालटेन चमकती है। कोशिश करने पर भी वह अपनी नज़र वहां से उठा नहीं सका। चंदिया ने उसी समय आंखें बंद कर लीं और अपनी निढाल देह सीधे धरती पर बिछा दी। उसकी सांसें और बढ़ गयी थीं। सुनसान रात में उसके गिरते-उठते स्वरों को बारीकी से पढ़ा जा सकता था! □

---

8. साथी।

# गुलरा के बाबा

**मार्कण्डेय**

(जन्म : सन् 1930 ई.)

"कवन है रे वह सरपत काट रहा?" बाबा ने अमिलहवा के नीचे खड़े होकर अपनी लाठी कंधे से उतारते हुए कहा। आवाज सारी गुलरा में गूंज गयी। बड़ी गम्भीर और बड़ी बुलन्द आवाज थी वह; अनजान आदमी तो एक बार डर जाए और चिरइ-चुरमुन भी पेड़ों पर से उड़ पड़ें। गुलरा की इस आमों की बगिया का एक-एक जीव, एक-एक पत्ता बाबा के इस गर्जन से परिचित है। क्यों न हो, बाबा रात-दिन इन्हीं पेड़ों की सेवा-सत्कार में लगे रहते हैं।

पर बाबा की पुकार का कोई असर नहीं हुआ। उन्होंने एक बार नीचे सिर किया और अपने शरीर को देखा, चमड़े झूल गए थे और उन पर बेशुमार झुर्रियां पड़ गयी थीं। पूरे पचहथे जवान, भींट ऐसी छाती और हाथी की सूंड जैसे हाथ, बड़ी-बड़ी तेज आंखें; लोग हनुमान कहते थे बाबा को, हनुमान! मेले-ठेले में अपने पिता गंजनसिंह के लिए रास्ता बनाने का काम बाबा ही करते थे। बड़ी-बड़ी भीड़ को पानी की काई की तरह इधर-उधर कर देना उनके लिए कोई विशेष बात न थी। बखरी में खाने घुसते समय बिटियों-पतोहुओं को जता देना तो जरूरी होता न! बाबा दालान ही में से खांसते और सारी बखरियों के कुत्ते मारे डर के भाग कर बाहर हो जाते।

बाबा के दिल को धक्का लगा। वे गुलरा के बाबा कहे जाते हैं; इतना बड़ा जंगल और बाग उनके ही ऊपर तो छोड़ रक्खा है परिवार वालों ने, और यहां दस कोस में कौन नहीं जानता इसे··· उनका आहत अभिमान नयी भाषा में बोला–बुढ़ापे के एहसास के कारण–और क्रोध की हल्की गर्मी उनके शरीर में दौड़ गयी। उन्होंने बगल में देखा, लेहसुनवां में नए गोंफे आ गए थे, शायद इस साल इसमें और भी आ जाएं, और फिर धीरे-धीरे उस हिलती सरपत की ओर चल पड़े।

चैतू अहीर था–पूरा चेलिक; करीब चौबीस-पच्चीस का, काला मजीठ शरीर, जैसे कोल्हू की जाट। इसी ने तो बनारस के मशहूर पहलवान झग्गा को पटक दिया–केवल

दो मिनट में।

चैतू बाबा को देखकर रुक गया।

"सलाम ठाकुर!"

"खुश रहो चैतू, लेकिन तुम यह क्या कर हो?"

"सरपत काट रहे हैं ठाकुर!"

"अच्छा कल से मत काटना!"

"ऐसे ही काटूंगा।" और चैतू लटक कर हंसिया चलाने लगा।

"यह बात नहीं चैतू!" बाबा सागर की-सी गहराई से कहते गए, "मैं तुम्हारी बातें समझ रहा हूं। अपने दो-एक संगी साथियों और बूढ़-पुरनियों को भी बुलाए आना-यहीं, यदि तुम मेरा गट्टा टेढ़ा कर दोगे, तो मैं कभी जबान नहीं खोलूंगा और यदि नहीं, तो तुम कल से यहां दिखाई न पड़ना?"

चैतू कटी-कटाई सरपत छोड़कर चला गया। दूसरे दिन बाबा के सभी भाई, कुछ गांव के तमाशवीन और चैतू के अपने संगी साथी; खासी भीड़ जमा हो गयी थी। बाबा ने बांह फैला दी-बीते भर नीचे तक झुर्रीदार चमड़ा लटक गया और चैतू ने दांत पीस-पीसकर जोर लगाया-माथे पर पसीना हो आया, पर बाबा का हाथ टस से मस न हुआ।

किसी ने कहा, "बस चैतू, अब तुम अपना हाथ फैलाओ!" चैतू ने हाथ फैलाया और बाबा ने बच्चे की तरह उसे मरोड़कर दबा दिया। चैतू चिचिया उठा। बाबा ने उसे छोड़ दिया।

बाबा के छोटे भाई देवी सिंह लठैत थे। उनसे चैतू की यह धृष्टता देखो नहीं जा रही थी, पर बाबा ने कहा, "ऐसा मत करो।" और अब, जब वह हार गया, तो वे एकाएक उबल पड़े, "कहो तो दे दूं दो बांस साले की पीठ पर!" बाबा ने देवी सिंह को डांटा। वे सिटपिटा गए। चारों ओर बाबा के पौरुष की तारीफ होने लगी। पर वे उदास हो गए थे।

फागुन के दूसरे पखवारे के थोड़े ही दिन बाकी थे-दिन को सुनहली धूप, शाम को अबीरी आकाश और रात को रूपहली, टहकी चांदनी-खलिहान जौ-गेहूं के डांठ से खचाखच भरे हुए। हवा भी चिबोला करती है न। बकरिदिया ठाकुर के घर से नह काटकर लौटी रही थी-फगुनहट का झोंका आया और आंचल उड़ाकर चला गया-"शरमा गयी बकरीदा! इसमें क्या बात है जी, फागुन में बाबा देवर लागें!" देवकी पंडित ने आज खूब छान ली थी।

"भौजी ने मेरी सिलिक की कमीज रद्द कर दी।" नन्हकुआ मुस्कराता जा रहा था और हाथ से कमीज सुखा रहा था।

"जीताबो आज खूब फंसी। बड़ी उस्ताद बनती थी न! आज पड़ गया सुधुआ से पाला, कलाई मरोड़कर रंग का लोटा छीन लिया और खूब नहलाकर गालों पर ऐसी रोली मली कि बच्ची को छठी का दूध याद आ गया।"

"बड़ा बुरा किया-राम! राम!! कुनरु-ऐसे गाल इतने जोर से मलने के लिए थोड़े ही

हैं।" रामदीन खांसते हुए बोले और खटिया पर करवट बदल ली। पारस ने मुंह बनाते हुए जवाब दिया, "बुढ़ापा आ गया, लेकिन लत न छूटी। मरते-मरते जीभ में कीड़े पड़ जाएंगे बाबा! अब तो मान जाओ, आखिरी समा में!"

गुलरा के पलासों पर तो फागुन उतर आया था, अजब का फूल होता है—लाल टेस; और टहनियां काली या चितकबरी-बेपत्तियों की। शाम की किरणें रोज उन पर थम जाती हैं और आम की बगिया की सांवरी छांह जैसे उसकी ललछहट में एक खैरी-मटमैली रेखा से बंट जाती है। बाबा एकटक नीचे देख रहे हैं—गोमती की तलहटी में-पछुवा का वेग, पानी की लहरें और उसमें पड़ती हुई सुनहली रेखाएं और पलास की छायाएं। बसहटा चारपाई, हुक्का-चिलम, फरसा-कुदार, गगरी और बांस की पुरानी लाठी—सब एक नन्हीं सी गड़इया में। सुखई चिलम भरकर देता जा रहा है—बाबा का चेला है, अखाड़े का—बड़ा गठीला जवान। बाबा ने अपनी सब पेंच इसी को तो सिखायी—पट्ट तो इतना रवां है कि एक बार गामा को भी उठाकर फेंक दे।

सुखई ने चिलम पर दम लगाते हुए कहा, "बाबा! आज मनकिया भी आ गयी। अब तो छे रंडियां हो गयीं, मुदा चमेलिया जैसी गानेवाली ···" बाबा की आंखें जैसे पलास के फूलों में धंस गयी हों। दिन की उदासी जैसे घनीभूत होकर गुलरा के झपसे आमों की डाल पर बैठ गयी हो।

चमेलिया बचपन से आती। इस गांव में फागुन के छह दिन ठाकुर के चबूतरे पर तबला ठनकता ही रह जाता। एक नहीं दस-दस रंडियां आतीं।

उस समय बाबा बच्चे थे। बड़े ठाकुर के चौथे-पांचवें पुत्र थे शायद और ठाकुर के साथ महफिल में बैठते! एक दिन खेलते-खेलते गए और पतुरिया की नन्हीं बच्ची के कुर्ते की छोर पकड़कर खींचने लगे। "अभी से सीख रहा है!" किसी ने ठहाका मारा और लड़की चिल्लाकर रोने लगी। चमेलिया बाबा के साथ ही जवान हुई और उसने अपनी मां की गद्दी को जगाए रखा।

उसका स्वर, उसका रूप और उसके पांवों की थिरकन लोगों को मोह लेती थी, और जब बाबा होते, तब क्या पूछना! जैसे उसके पैरों में पंछियों वाले पंख जुड़ गए हों। वह पुरानी कहानी बाबा भी जानते थे और चमेलिया भी, पर बाबा की भौंहें कभी टेढ़ी नहीं हुईं, और चमेलिया कभी हारी नहीं।

जाते समय इनाम के बाद भी बाबा से रुपये मांगना-जरूरत न रहने पर भी। "रुपये ले जा चमेली! पर इसे कर्ज समझना!" चमेलिया एक तीखी हंसी हंसती, जैसे वासना का जीवित स्वर उसके कंठ में उतर आया हो। उसकी आंखें, चेहरा, सब दमदमा उठते पर बाबा स्थिर और गम्भीर! उनके उन्नत वक्षस्थल पर बनी हुई, कड़ी-कड़ी मांसपेशियां और बलिष्ठ भुजाएं, जैसे सींक से छू दो तो खून आ जाए, और चमेलिया उसे देखती-देखती चली जाती।

उस साल वह जा ही तो रही थी, पर रास्ते के लिए इतना सिंगार-पटार, जैसे मेनका

धरती पर उतर आयी हो। लम्बा, छरहरा, सुडौल बदन और कुल बीस वर्ष की उमर; चमेलिया बाबा का कर्ज चुकाना ही चाहती थी। गुलरा केराकत स्टेशन के रास्ते में पड़ता है। 'समाजी' घाट पर चले गए और चमेलिया बगिया में घुसी। बाबा कसरत करके पसीना सुखा रहे थे। खटिया रेत पर पड़ी थी। रोशनी संवरा गयी थी। थोड़ी ही देर में रात होगी और बाबा घर खाने जाएंगे पर एकाएक नूपुर की आवाज–बाबा ने गरदन घुमायी, "चमेलिया, तुम यहां!"

"हां, कर्ज चुकाने आयी हूं।" आम्रपाली आम की बगिया में उतर आयी, पर बुद्ध का यहां कोई शिष्य नहीं था वर्ना आंख पर पट्टी बांध लेने के लिए कह देते।" मैंने कभी तगादा नहीं किया था!"

"फिर भी वह कर्ज तो है।" कहकर वह मुस्करायी–एक मोहभरी मुस्कान की रोशनी बिखर गयी। बाबा कपड़े नहीं पहनते थे। एकाएक ध्यान गया। बढ़कर धोती उठाना चाहते थे पर उसने लपककर धोती उठा ली और कसकर सीने में दबोचकर एकटक बाबा की ओर देखने लगी-बड़ी तेज आंखें थीं–कटार की तरह।

"मुझे देखने भी न दोगे!"

नीचे से ऊपर तक जैसे सांचे में गढ़ा शरीर–मंसे भीन रही थीं। एक अजीब कसाव और ऐंठन!

"मैंने ऐसा शरीर नहीं देखा है।" उसने अपनी आंखें तिरछी करते हुए कहा। अचूक आंखें थीं ये-नेह से छलछलायी हुई।

बाबा नीचे सिर किए ही हंसे, "ऐसे उरिन नहीं होने की चमेली!"

चमेलिया के चेहरे पर पराजय की हिंसा चमकी। एक तेज, एक जोश उसकी आंखों में उतर आया-बिल्कुल अनदेखा; वह सारी शक्ति लगा देगी।

बढ़कर बाबा के पैरों के पास बैठ गयी। नंगी, तेल से चुपड़ी-चिकनी जांघों पर नरम-नरम गाल घिस दिए। हाथों से कमर पकड़ ली। गरम कड़ी-कड़ी छातियों में पिंडलियां कस लीं, पर बाबा चुप तो चुप। उनके तीसरा नेत्र नहीं था वरन शंकर की तरह आज काम को जला देने की ठान लेते, पर चमेलिया स्त्री थी, स्त्री पर हाथ उठाना? यह बाबा से नहीं हो सकता था।

"जा चमेलिया तेरी आंखों का दोष मिट जाएगा।" बाबा ने बड़ी उदासी से कहा। चमेलिया की आंखें चकरा गयीं। उसका रोंया-रोंया कांप गया। आंखों का दोष मिट जाएगा? वेश्या की आंखों का दोष?

और चमेलिया उसी साल अंधी हो गयी।

सुखई ने मौन तोड़ा।

"अब तो देर हो रही है बाबा!"

"हाँ रे, मैं तो भूल ही गया था कि घर भी चलना है।" बाबा ने एक फीकी हंसी हंसते हुए कहा।

रात काफी बीत चुकी थी। बगिया में घना अंधेरा छा गया था। एकाएक बाबा को आम की सोर से ठोकर लग गयी।

बाबा को ठोकर कभी नहीं लगती थी गुलरा में, सुखई सोचते-सोचते कहने लगा, "बाबा! यह वही पेड़ है, याद है न?"

"याद है सुखइया। गजब की सिल्ली थी इसकी। अभी तक इसकी खुत्थियां बची ही रह गयी हैं!"

कई वर्ष पहले की बात है, जब बड़की बखरी बन रही थी। गर्मी का महीना–आराकस लगे थे। अकेलवा आम कटा था। कड़ियां चीरी जाने को थीं। सिल्ली अहराकर ठीक कर ली गई थी। गढ़ा खोदकर तैयार था। दस आराकस और आठ चरवाहे और लोहार-कुल मिलाकर अठारह हलाकान हो गए बेचारे-एड़ी का पसीना चोटी पर पहुंच गया, सिल्ली टस-से-मस न हुई। आखिर थककर बैठ गए। बाबा रस-दाना करके गुलरा आ रहे थे-पूछा, "क्या रे, पेड़िया नहीं चढ़ी?"

"यह जुम्मिस भी नहीं खा रही है बाबा! आओ, आपके साथ भी जोर लगा कर देख लें।"

सब उठ खड़े हुए। बाबा के साथ यही सुखइया था–कुल सोलह वर्ष का और एक बारह वर्ष का छोकरा गड़ेरिया।

बाबा ने बड़ी स्थिरता से कहा, "अब तुम लोग बैठो हो। देखो हम तीनों कुछ कर सकते हैं?"

बाबा ने सिल्ली का माथा थामा। ऊपर को उठाया और झटका देकर उसे हाथों पर रोक लिया, दोनों लड़के इधर-उधर; एक बार और जोर लगा। बाबा ने कहा, "जीओ मेरे बेटो!" और दूसरे झटके में सिल्ली खड़ी हो गयी।

आराकस सन्न रह गए। बाबा को भी कुछ पसीना हो आया। उन्होंने कहा, "आड़ लगाकर चीरो!" और तनिक दूर हटकर लेहसुनवां की छाया में बैठ गए। दोनों लड़के भी वहीं छहांने लगे।

सब-के-सब आराकस और लोहार बाबा के पास पहुंचे। उनमें एक लोहार था–लड़ता-भिड़ता भी था। कहने लगा, "बाबा, बड़ा जोर है आपके गट्टे में !"

बाबा हंसे, "अरे, यह मेरा जोर नहीं, यह तो सुखइया और नगइया का है।"

बच्चे हंस पड़े। लोहार ने कहा, "नहीं बाबा, ये सब बच्चे हैं क्या जोर लगाएंगे।"

बाबा ने कहा, "बात मानो, यह उन्हीं का जोर है।"

फिर लोहार ने हंसते हुए सिर हिलाया।

"अच्छा, तो फिर तुम उससे कुश्ती लड़कर देख लो!" बाबा ने वैसे ही कहा और दोनों की कुश्ती हो गयी। हाथ मिला और फिर दूसरे ही क्षण सुखइया लोहार के सीने पर था।

बाबा हंसे। लोहार शरमा गया। "सचमुच इन सबों में जोर है।" लोहार फुसफुसाया और उठकर सब काम पर चले गए। बाबा देर तक हंसते रहे।

बाबा चौके में चले गए थे। थाली परसी जा चुकी थी, तब तक देवी सिंह एकाएक

घर में घुसे।

बाबा ने उनकी ओर देखा, "क्या नाच बंद हो गया?"

"नहीं तो। अरे चैतुआ साले की टांग टूट गयी। खबर लगी, हम लोग उठ कर पता लगाने चले गए।"

"क्या कहा?" बाबा जैसे भौंचक्के से हो गए।

"अरे गरूर का नतीजा यही होता है। गट्टा टेढ़ा करने आया था न ठाकुर का! अब इन कमीनों की हिम्मत इतनी हो गयी?" देवी सिंह ने मुंह बनाते हुए कहा।

बाबा बिगड़ गए, "तुम्हें जिन्दगी भर तमीज नहीं होगी, आखिर कैसे टूटी टांग?"

"जाके देख क्यों नहीं आते बड़ी मोह है तो, वह तो टूटनी ही थी। आज अखाड़े में टूटी, कल हम लोगों की लाठी से टूटती। गुलरा से सरपत न काटने गया था?"

थाली परसी रही, पर बाबा रुके नहीं। वे यह काम तो जानते हैं—कितनी दूर-दूर के लोग उनके यहां हड्डियां बैठवाने आते हैं? और दौड़कर मन्ना साव की दुकान पर पहुँचे। "अम्माहल्दी, चोट मुसब्बर, सेतखरी"—पुड़िया बंध गयी। बाबा लेकर दौड़े। चांदनी पिघलकर धरती पर पसर गयी थी। हवा के झोंके इस ओर से उस ओर चले जाते थे—बुढ़ाई का समय, अब कहां है वह चाल?—बाबा सोचने लगे।—कितना अच्छा लड़ैत है। उस दिन कितना जोर लगाता था। झग्गा कोई मामूली पहलवाल थोड़े ही है-दो मिनट में उसे दे मारा। अब तो गांव का नाम यही रखे है।

चैतू का घर आ गया। बाबा थककर चूर हो गये थे। सांस बढ़ गयी थी। तनिक थमकर देखने लगे—लोग घेरे थे और चैतू जमीन पर पड़ा तड़फड़ा रहा था। टांग कमर के पास वाले जोड़ से सरक गयी थी। सब लोग हट गए। बाबा ने हाथ लगाया—"थोड़ा तेल तो लाओ और यह दवाई जरा पीस लेना।" उन्होंने देखा चोट बड़ी बेतुकी थी। चैतू को पट्ट सुला दिया, फिर तेल लगाकर मांजते-मांजते एकाएक पैर लगाकर उन्होंने चैतू की टांगें पैर से उठा दीं। चट की आवाज हुई और चोट ठीक हो गयी, हड्डी बैठ गयी! बाबा ने दवा गरम करवायी और चोट पर बांध दिया।

चैतू होश में आ गया था, उसकी मां और बीवी दोनों एकटक बाबा को देखकर रो रही थीं—खुशी के मारे! चैतू ने भी देखा—आंखें मुलमुलायीं, फिर एकाएक बोल उठा, "बाबा!" और उसकी आंखों से आंसू बहने लगे। बाबा ने उसका सर अपनी जांघ पर टिका लिया। इधर-उधर देखा। चैतू का छप्पर टूटा पड़ा था। बखरी का ओसार भी छान्ह का बना था—वह भी सड़ गया था।

बड़े सबेरे जब पलाशों की लाली पर सूरज की किरणें एक-एक कर उतर रही थीं—गुलरा की सरपत में पच्चीस मजदूर लगे थे—कटाई हो रही थी।

सुखई ने पूछा, "क्या होगी सरपत बाबा?"

"चैतुआ की छान्ह टूट गयी है रे!" बाबा ने उत्साह से कहा। □

# उसकी कहानी

हृदयेश
(जन्म : सन् 1930 ई.)

गहरी भूरी-कत्थई चित्तियों वाला बिल्लियों का नर वह बिल्ला ज़रूरत लायक नींद लेकर सूखे नाले से बाहर निकल आया। उसने अगले दोनों पैरों को फैलाकर अँगड़ाई ली, जिस्म को पूरा खोलते हुए सा, और सुर्ख जबान निकालकर गालों को दोनों ओर चाटा। फिर आहिस्ता-आहिस्ता चलने लगा, जिधर मुँह उठ गया था उधर ही, कुछ इस अंदाज से कि सारा इलाका उसका अपना है, वह कहीं भी बेरोक-टोक जा सकता है, बतौर हक के।

मैदान पार कर बिल्ला गली में आ गया। सुबह खुल चली थी, लेकिन गली में हलचल अभी पूरी तरह खुली न थी। वह गली में किनारे-किनारे चलने लगा। आहट होती, वह लम्हे भर के लिए चौकन्ना होता हुआ ठिठकता—क्या माजरा है, ऊँ-हूँ, कुछ भी नहीं। और फिर चलने लगता। सामने से एक कुत्ता आ गया। कुत्ता अगर उसकी ओर बढ़ता, तो वह पैंतरा लेता। मगर कुत्ता उसकी ओर देखकर आगे बढ़ गया और वह भी कुत्ते की ओर देखकर आगे बढ़ गया।

मन्दिर खुला था। अहाते में शायद कोई नहीं था। बिल्ला जंगला लाँघता हुआ मन्दिर के अन्दर कूद गया। एक ओर दिया जल रहा था। दिए से अपने रोम बचाता हुआ वह कटोरी में रखा दूध पी गया। दो बताशे रखे थे और स्वाद लेता हुआ वह उनको भी चट कर गया। यह जानते हुए भी कि वहाँ खाने के लिए कुछ नहीं होगा, वह गणेशजी की मूर्ति पर चढ़ गया। वहाँ से फिर उछलकर शंकरजी की मूर्ति पर आ गया और गले से बाहर फैले साँप के फन पर विराजमान हो गया, फोटो खिंचाने जैसी मुद्रा में। वह एक बड़े साँप को मार चुका था, जिसने बाग में उसका रास्ता छेक कर उसे चुनौती दी थी। यह साँप असली होता, तो वह इससे भी निपट लेता।

--ओ दुष्ट, उतर वहाँ से। ··· पुजारी पीछे बगीचे से निकलकर आ गया था और उसकी वहाँ उस रूप में उपस्थिति ने उसमें झल्लाहट ला दी थी—ओ बे हरामी, इस जन्म

में तो तूने बिल्ली की जोनि पायी है, अगले में क्या सुअर की पाना चाहता है? दुत, दुत, नासपीटे, उतर, ये देवता हैं··· ।

पुजारी के हाथ में मारने के लिए डंडा, पत्थर जैसा कुछ नहीं था, बिल्ला इसलिए इत्मीनान से म्यों-म्यों करता मूर्ति पर से उतरा ··· ज्यादा पिनपिनाओ मत। जानता हूँ, तुम मेरा कुछ नहीं बिगाड़ सकोगे। लेकिन चूँकि तुमको मेरा यहाँ होना पसन्द नहीं, जा रहा हूँ। म्यों ··· म्यों।

सामने जो एक मकान खुला था, बिल्ला उसमें दाखिल हो गया। फिर वह एक-एक कर बीसियों मकान मंझाने लगा। देखें, कहाँ क्या चीज़ उसके मतलब की है और वह क्या-क्या पा सकता है?

करीब एक घंटे बाद बिल्ला एक वीरान खंडहर में आ गया। तब तक दिन धूप के अनेक छोटे-बड़े सफेद गर्म गलीचे बिछा चुका था। वह सर्दी का मौसम था और धूप के वे गलीचे सुखकारी होते थे। ऐसे ही एक गलीचे पर नारंगी सफेद चकतों वाली एक बिल्ली अपने तीन बिलौटों के साथ बैठी थी। दो बिलौटों की भूरी-कत्थई चित्तियाँ एकदम बिल्ले जैसी थीं और इस आधार पर बिल्ली के उन जायों का पिता सहजता से बिल्ले को ठहराया जा सकता था। वह वास्तविकता भी थी। बिल्ला उनके करीब जाकर बैठ गया। उसकी उपस्थिति से उस समूह को जैसे पूर्णताबोधक एक उपयुक्त शीर्षक मिल गया था—"मैं और मेरा परिवार।"

एक बिलौटा बिल्ले का सिर चाटने लगा। एक दूसरा बिलौटा उसकी पीठ पर पंजे टिकाता हुआ इधर-उधर उछाला लेने लगा। फिर तीसरा भी दूसरे की नकल करने लगा। उसने उसको वैसा करने की छूट दे दी—दुष्टों, धीरे-धीरे, पर चालू रहो। तुम्हारी ये शैतानियाँ मुझे सुख दे रही हैं।—इस सुख का भरपूर आस्वाद लेने के लिए वह बीच-बीच में अपनी आँखें मींच लेता था।

कुछ देर बाद बिल्ली चली गई, पीछे-पीछे वे बिलौटे भी, ऊन के गोलों जैसे आगे-पीछे लुढ़कते हुए। किन्तु वह बैठा रहा, इस बात को प्रमाणित करता हुआ कि यद्यपि वह बिलौटों के जन्म का निमित्त जरूर है, लेकिन उनकी किसी जिम्मेदारी से बँधा हुआ नहीं है। वह अपने लिए है, सिर्फ अपने लिए।

वह अपनी रेगमाली जबान से रगड़-रगड़कर जिस्म की सफाई करने लगा ··· पीठ की, पुट्ठों की, पैरों की।

आकाश में एक चील चक्कर काट रही थी और उसका अक्स नीचे डोल रहा था। वह बैठे-बैठे गर्दन उचकाकर आकाश में चील का चक्कर काटना देखने लगा। हवा में परिन्दे कैसे इतना ऊँचा उड़ लेते हैं? काश; वह भी उड़ सकता! तब वह आकाश में भी मनचाहा शिकार करता।

वहाँ एक बकरी आ गई, फिल्म में आने वाले किसी नये रोचक दृश्य जैसी। बकरी छोटी थी, इसलिए नटखट भी। वह इधर-उधर उछलती-डोलती रहने के बाद उस ओर

बढ़ आयी जिधर बिल्ला बैठा था। बिल्ला आकाश की ओर ताकना छोड़कर बकरी की ओर ताकने लगा। बकरी जब पास ही आती गई, वह गुर्र-गुर्र गुर्राने लगा। नटखट बकरी पहले तो एक मिनट तक अपने स्थान पर रुककर बिल्ले को ध्यान से देखने लगी। फिर इठलाती हुई पिछले दो पैरों पर खड़ी हो गई। फिर पूर्व स्थिति में आते हुए उसने सिर झुकाया और डुम्मी मारने जैसे भाव से आगे बढ़ी।

बिल्ला, जो अब तक गुलेल जैसा तनकर बैठ चुका था, उसने बिजली की तेजी से उछाला लेकर बकरी के पंजा मारा।

पंजा बकरी के मुँह पर पड़ा था, भरपूर, गोश्त को फाड़ता हुआ-सा। बकरी पलटकर में-में करती हुई तेजी से भाग गई।

बिल्ला अपना जबड़ा फैलाकर जीभ को गोल-गोल घुमाता हुआ हँसा—न सिर पर सींग, न पास में लड़ने को कुछ और खास, और मुझसे भिड़ने चल दी। एक ही झापड़ में सारी हेकड़ी फूँ हो गई। अरे, मेरे पास नाखून की शक्ल में नेजें हैं, दाँत की शक्ल में खंजर। मैं शेर के वंश का हूँ। जिस्म से भले ही छोटा दीखूँ लेकिन ताकत और कूवत में छोटा नहीं हूँ।

बिल्ला मस्ती में पंजों से जमीन खुरचने लगा। फिर चील के डोलते साये को पकड़ने की कोशिश में उछल-कूद करने लगा।

वह दो साल का था, जिन्दगी से छलछलाता हुआ।

बिल्ला गली में आ गया। गली को पार करते हुए उसने सामने से आ रहे एक अधेड़ पंडित जी का रास्ता काट दिया। पंडितजी बड़बड़ाते हुए रुक गए। जब पीछे से आते एक युवा व्यक्ति ने उधर से गुजरकर रास्ता काटने के अपशकुन को निष्प्रभावी कर दिया, पंडितजी आगे फिर बढ़ गये। लेकिन बिल्ले ने पहली पटरी पर वापस आते हुए जल्द ही रास्ता फिर काट दिया। पंडितजी पीछे लौट गये। यह बिल्ला साला बड़ा हरामी है। किसी अच्छे काम के लिए निकलो और यह सगुन बिगाड़ देता है। अब वह घर जाकर पहले मुँह मीठा करेंगे, फिर दूसरे रास्ते से जायेंगे।

बिल्ला दुकान जा रहे एक भारी जिस्म के लाला से सटकर निकल गया। घबड़ाहट के झपेटे से लाला का पैर मोरी में तो चला गया ही, हाथ में थमा चाभी का गुच्छा भी छूटकर गिर गया। लाला भी गाली बकने लगा। बिल्ला जानता है कि अचानक कूदकर वह किसी के पास चला जाए, तो वह डर जाता है। नल के पास वाले मकान के बूढ़े के हाथ में हरदम छड़ी रहती है। लेकिन जब वह उसके सामने किसी ओट में से प्रकट हो जाता है, तो उसके हाथ की छड़ी कँपकँपाकर छूट जाती है। पीपल के दरख्त वाले मकान की औरत उसके खिड़की की राह रसोईघर में कूद आने पर सारा सामान वैसे-का-वैसा खुला छोड़कर रसोईघर से बाहर भाग जाती है।

बिल्ला दो गलियों को, आदमियों के बीच से निश्चिन्तता से रास्ता बनाता हुआ, पार कर गया। तीसरी गली में एक टूटा मकान था और वह उसकी दीवार पर चढ़ गया। दीवार

खूब चौड़ी थी और आगे जाकर सफील जैसी हो गई थी। वह दीवार पर पसरकर बैठ गया। दीवार के दूसरे सिरे पर एक बन्दर बैठा था जो खों-खों करने लगा। बिल्ले ने बन्दर का कद-काठी कूतकर उसकी घुड़कियों पर ध्यान नहीं दिया। उसके न डरने पर ही बन्दर डरेगा। और वही हुआ। दस-बीस घुड़कियाँ देने के बाद बन्दर खामोश हो गया और फिर कूद कर कहीं दूसरी जगह चला गया।

दो फाख्ते कहीं से आकर चक्कर काटने लगे थे। चक्कर काटते हुए वे कभी ऊँचे उठ जाते थे, कभी नीचे आ जाते थे। वे हवा में जैसे चढ़ने-उतरने का खेल खेल रहे थे, अपने डैनों पर विश्वास किए हुए।

बिल्ला पीछे की ओर उछला, उल्टी कलाबाजी लगाता हुआ। एक फाख्ता उसकी गिरफ्त में आ गया था।

बिल्ला मूँछ के बड़े बालों को हिलाता हुआ हँसा—शिकारी शिकार से अधिक बुद्धिमान और चतुर होता है।

बिल्ला जबड़ों में जुम्बिश लाता हुआ फिर हँसा—दोस्त, बेकार की चूँ-चपड़ है। मेरे पँजे में आकर आज तक तो कोई छूट नहीं पाया, वे कबूतर और मुर्गिया भी, जो डील में तुमसे दुगने-तिगने थे।

बिल्ले ने फाख्ते की गर्दन में दाँत चुभोकर उसकी छटपटाहट को शांत कर दिया।

ऊपर दूसरा फाख्ता चक्कर काटता हुआ चीख रहा था। पाँच-सात दूसरे पक्षी भी सिमट आकर चीखने लगे थे।

बिल्ले ने ऊपर देखते हुए आँखों के डेले घुमाये—यह समझ लो, मैं किसी दूसरे को भी पकड़ सकता हूँ। ठीक है कि तुम्हारा एक साथी तुमसे जुदा हो गया। लेकिन जो तुम्हारा साथी था, वह मेरा आहार था। सुबह मैंने एक घर में रोटी खाई थी। मगर रोटी में वह मजा कहाँ जो गोश्त में है। मेरे दाँत खास तौर से गोश्त खाने के लिए बनाए गए हैं। चूहे का गोश्त तो करीब-करीब मुझे हर रोज मिल जाता है, मगर परिन्दों का कभी-कभी। परिन्दे का गोश्त लजीज होता है।

ऊपर पक्षियों का शोर जारी रहा।

—म्यों-म्यों, तुम शोर मचाने से बाज नहीं आओगे और मुझे भोजन करना एकान्त में पसन्द है। अच्छा मचाओ शोर। मुझे किसी दूसरी जगह जाना होगा।—बिल्ले ने मुँह में मरे फाख्ते को दबाया और एक छत की बरसाती के नीचे आ गया।

बिल्ला घंटे भर तक बरसाती के नीचे सोने के बाद एक चौड़ी सड़क पर निकल आया। वह सारे रास्ते, उपरास्ते और उनके निकास जानता था, आपात् स्थिति में उपयोग में आने वाले गुप्त रास्ते भी। वह एक बंद दूकान के सन-शेड पर चढ़ गया। फिर वहाँ से और ऊँचाई पर बने एक-दूसरे सन-शेड पर। फिर एक तीसरे पर। अब वह वहाँ बैठकर जग का मुजरा ले सकता था, और उस रूप में कि उसे कोई नहीं देख सकता था जबकि वह हरेक को।

सड़क पर रिक्शों और साइकिलों के बीच एक साँड गुजरा था। उसे साँड का जिस्म जितना बड़ा लगता था, उतनी ही मन्द उसकी चाल लगती थी। साँड रास्ते में बैठा होता था, तो वह उसे उछलकर लाँघ जाता था। बैठा हुआ साँड मिट्टी के ढूहे जैसा ही निरापद होता है।

सामने बँगले में एक कुत्ता घुस गया था और उस कुत्ते पर बँगले वाला ऊँचे कद का एक दूसरा कुत्ता झपटा था। कुत्ते के गले में जंजीर पड़ी थी, जो फाटक के खाँचे में जाकर फँस गई थी। बँगले वाले कुत्ते के यों अवरोधित होने पर पहले वाला कुत्ता पलटकर भौंकने लगा। सड़क से दो-चार कुत्ते और सिमट आये थे और वे भी बँगले वाले कुत्ते पर भौंकने लगे। एक छोटा मरगिल्ला पिल्ला भी आकर बँगले वाले कुत्ते की लानत-मलानत करने लगा। गले की जंजीर ने उस कुत्ते को बेचारा बना दिया था। बिल्ले ने दो-चार बार ग्वाल टोले में खूँटा उखाड़कर भागती भैंस को देखा था। कोई-कोई भैंस पैर में जंजीर फँस जाने पर गिर जाती थी। गले का बंधन ही जानवर की कमजोरी है।

सड़क पर बैसाखी से ठुक-ठुक करता वह लँगड़ा निकला था, जो पहले भाइयों के साथ शामिल-शिरकत था, फिर पास के एक दूसरे मकान में रहने लगा था। वह खूब जोर-जोर से ठहाके लगाता है। उसकी एक टाँग कट जाने के पीछे कोई कहानी होगी।

कुछ देर बाद हाथ में थैला लटकाये वह अधेड़ निकला था, जिसके माथे और आंख के नीचे जख्म के गहरे निशान थे। पहले वह किसी फैक्टरी में काम करने जाता था, अब नहीं जाता है। कुछ दिनों तक उसके घर पर पुलिस आती रही थी। उसके चेहरे पर जख्म के निशान होने के पीछे भी कोई कहानी जरूर होगी।

बिल्ला सन-शेड से उचककर छत पर चला गया। फिर अँधेरा होने तक बीसियों घरों में डोलता रहा।

गहरी भूरी-कत्थई चित्तियों वाला वह बिल्ला आज सुबह फूटने पर एक अहाते में दीवार से टिकी टीनों के पीछे से निकलकर बाहर आ गया।

गलियों और घरों में चक्कर लगाने के बाद वह आज भी वीरान खंडहर में धूप के गलीचे पर आराम करने के लिए पहुँच गया।

आज वहाँ काले सफेद थापों वाला एक कबरा बिल्ला आ गया। यह दूसरा बिल्ला उसको देखते ही तेज-तेज गुर्राने लगा। यह बिल्ला किसी दूसरे इलाके से यहाँ पिछले एक माह से आ गया था और उस पर अपना दबदबा कायम करना चाहता था। उसकी मरजी थी कि वह इस इलाके को छोड़कर कहीं दूसरी जगह चला जाए और जो यहाँ तीन-चार बिल्लियाँ हैं, खास तौर से चमकीले भूरे रोमों वाली खूबसूरत बिल्ली, उन सब पर वह अपना एकछत्र अधिकार कर ले। अब तक वह उससे तीन-चार बार लड़ चुका था। सवाया डील होने का वह फायदा उठाना चाहता था, मगर अब तक फायदा उठा नहीं पाया था।

कबरे बिल्ले की गुर्राहट व तेवर से वह समझ गया कि यह आज भी लड़ने से बाज

नहीं आयेगा। वह खुद भी मोर्चा संभालकर गुर्राने लगा। आक्रमण के सामने आक्रमण ही प्रतिरक्षा होती है।

कबरे बिल्ले ने तेज चिंघाड़ के साथ जबड़ा फाड़कर अपने नुकीले-पैने दाँत चमकाये।

उसने भी जबड़ा फाड़ा–देखो, मैं भी नुकीले पैने दाँत रखता हूँ।

कबरा बिल्ला आगे बढ़ते हुए गुस्से में तनकर खड़ा हो गया।

वह भी तनकर खड़ा हो गया।

देखते-देखते वे एक-दूसरे से भिड़ गये, दो उल्का-खंड जैसे। कभी कबरा बिल्ला ऊपर आ जाता, कभी कत्थई चित्तियों वाला। एक-दूसरे का जिस्म नोचने की कोशिश करते हुए उनकी चिंघाड़ें और भी तेज हो जातीं। कबरा बिल्ला फिर ऊपर आ गया था। लगा था कि इस बार वह कत्थई चित्तियों वाले बिल्ले को झिंझोड़कर बेदम कर देगा। मगर कत्थई चित्तियों वाले बिल्ले ने तभी उचककर उसकी गर्दन को यों भंभोड़ खाया कि वह छिटककर दूर जा खड़ा हुआ।

–गुर्र-गुर्र-गुर्र्र्।

उधर एक राहगीर आ गया था और कबरा बिल्ला भाग गया।

–भाग गया स्साला।–कत्थई चित्तियों वाले बिल्ले ने म्यों-म्योंकर धिक्कारा। दो-एक जगह से रोयें नुच जाने के अलावा उसके कोई खास चोट नहीं आई थी। फिर वह भी गली और घरों के अपने फेरे पर बदस्तूर चला गया।

तीसरे पहर आज वह बिल्ला एक साबुन के विज्ञापन-बोर्ड के ऊँचे एंगिल पर चढ़कर बैठ गया।

सड़क पर बैसाखी से ठुक-ठुक करता लँगड़ा निकला था। इसके लँगड़े होने के पीछे जरूर कोई कहानी होगी।

चेहरे पर जख्म के गहरे निशान वाला वह अधेड़ भी निकला था। इन जख्म के निशानों के पीछे भी जरूर कोई कहानी होगी।

साँझ का झुटपुटा होने से पहले बिल्ला सड़क पर बने एक मकान में चला गया। कमरे का दरवाजा खुला था और वह अन्दर घुसकर दीवान के नीचे दुबक गया। ऐसे कमरों में भी खाने का कुछ सामान मिल जाता है। दीवान के पास ही दीवार में पानी के निकास के लिए एक छोटी-सी नाली बनी थी। यहीं कुछ देर बैठे रहा जाए, तो इस रास्ते से आने वाले चूहों को भी पकड़ा जा सकता है।

किसी ने बाहर से कमरे के किवाड़ बन्द कर दिये थे।

बिल्ले को कोई खास चिन्ता नहीं हुई। कुछ देर बाद जब किवाड़ खुलेंगे, वह बाहर निकल लेगा। बीसियों बार ऐसा हो चुका था। बल्कि यह स्थिति निर्विघ्नता की दृष्टि से उसके लिए अधिक अनुकूल होती थी।

नाली की राह कोई चूहा नहीं आया था। दूसरी ओर रखी अल्मारी के पीछे कुछ

खड़र-बड़र होने लगी थी। क्या चूहा वहाँ है?

बिल्ला अल्मारी के पास घात लगाकर बैठ गया।

चूहा बाहर आया था और उसने उछलकर पकड़ लिया—दोस्त, अब तुम मेरे कब्जे में हो।

उसने पंजे को ढीला किया और चूहा लड़खड़ाता हुआ भागा। मगर उसने उसे कुछ दूर तक जाने देने के बाद फिर पकड़ लिया—म्यों-म्यों दोस्त, यों मैं तुम्हें बीस बार मौका दे सकता हूँ, लेकिन मौके का फायदा नहीं उठाने दूंगा। अपने शिकार के साथ वही खेलता है, जिसमें आत्मविश्वास होता है।

उसने चूहे को खिलाकर खा डाला।

अब वह कमरे के बारह जाना चाहता था। मगर अभी किवाड़ बन्द थे। निकलने के लिए और कोई रास्ता नजर नहीं आ रहा था। वह थोड़ा और इन्तजार कर लेगा। किवाड़ बन्द कर जो गया है, वह लौटेगा भी।

वह अल्मारी पर चढ़ गया। वहाँ  से कार्निश पर कूद गया। कार्निश पर एक आइना रखा था। आइने के सामने जाओ, तो आइने में उस जैसा एक दूसरा बिल्ला उभर आता है, जैसा ठहरे पानी में झांकने पर, वह जानता था। उसने जबड़ा फाड़कर अपनी सुर्ख जबान व सफेद दाँतों का निरीक्षण किया। फिर एक पंजा उठाकर आइने पर रख दिया। मगर पंजा वहाँ टिके बगैर फिसल गया। वह नीचे दीवार पर आ गया। फिर दीवार से अल्मारी पर दुबारा कूद गया। फिर अल्मारी से दीवार पर फिर वापस आ गया।

वह अल्मारी और दीवार के बीच कूदने का खेल खेलने लगा।

खेलने से जब उसका मन अघा गया, वह दीवान पर टाँगे पसारकर लेट गया। अब विश्राम कर थोड़ा समय काटेगा।

दीवान पर लेटा हुआ वह यों दीख रहा था जैसे किसी केस में नुमाइश के लिए कोई अस्त्र सजा रखा हो।

अन्दर जो पश्चिम की ओर लगी खिड़की के शीशों की राह थोड़ा-बहुत प्रकाश आ रहा था, उसका आना बन्द हो गया। दिन मुँद रहा था।

रात घिर आयी।

घर का मालिक कहाँ चला गया है? क्यों नहीं लौटा? बिल्ले को बेचैनी हुई। उसने दरवाजे के पलड़े को पंजा फँसाकर खींचा। दर्ज चौड़ी नहीं हुई। उसने खिड़की की निकली पटिया पर बैठकर खिड़की के पलड़ों को खींचा। वे भी कसकर बन्द थे। उसने कमरे की चारों दीवारों के चक्कर लगाये। कहीं कोई गुंजाइश दीख जाए। नहीं दीखी।

उसने यह सोचकर अपनी बेचैनी दबा ली कि अगर घर का मालिक रात को किसी काम से बाहर रुक गया है, तो सुबह लौटेगा ही। तब उसकी कैद खत्म हो जायेगी। एक बार और भी उसे पूरी रात एक बन्द कमरे में बितानी पड़ी थी।

दीवार में बनी छोटी नाली के रास्ते एक चूहा अन्दर दाखिल हो गया। पहले उसके

कानों ने चूहे का आना जान लिया, फिर आँखों ने। उसकी आँखें अँधेरे में भी अपने लक्ष्य को देख लेती हैं। उसने चूहे को उछल कर पकड़ लिया–दोस्त, दाने-दाने पर पाने वाले का नाम लिखा होता है। चूँकि मुझे तुमको पाना था, शायद इसीलिये मैं अभी तक यहाँ हूँ।

उसने चूहे से ज्यादा खिलवाड़ न कर उसे खा लिया।

उसने सोना चाहा, मगर नींद उसे ठीक से आ नहीं रही थी। हालाँकि नाले, अहाते जैसे ठिकानों के मुकाबले यहाँ ज्यादा सुरक्षा थी, सुविधा भी, किन्तु यह अहसास कि यह स्थान उसने अपनी इच्छा से चुना नहीं है, स्थिति द्वारा उस पर थोपा गया है और दरवाजा खुलने पर ही वह यहाँ से निकल सकता है, उसे असहज बनाये हुए था। उसने तीन-चार बार जाकर दरवाजे के पलड़ों को पंजा फँसा-फँसाकर फिर खींचा, लेकिन दर्ज चौड़ी नहीं हुई।

सड़क पर चौकीदार के आवाज लगाने पर वह म्यों-म्यों करने लगा।

वह सोया भी तो जागता हुआ-सा।

सुबह हो गयी। कमरे की खिड़की के शीशों से सुबह का प्रकाश अंदर छन आया। फिर कुछ और प्रकाश छन आया। दिन चढ़ने के साथ बिल्ले की बेचैनी बढ़ने लगी। घर का मालिक अभी तक लौटा नहीं है। सुबह उसके लौटने की जो आशा थी, वह गलत निकली। क्या घर का मालिक कहीं दूर चला गया है?

वह कमरे का जायजा नये सिरे से लेने लगा। पर बाहर निकलने की कोई भी जुगत उसकी समझ में आ नहीं रही थी। दरवाजे की दर्ज खींचने पर भी चौड़ी नहीं होती थी। नाली का सूराख इतना छोटा था कि उसमें पंजा भी डाला नहीं जा सकता था। खिड़की पर शीशे के अलावा बाहर से लोहे के सीखचे भी जड़े थे।

अल्मारी में किताबों और दूसरे सामान के बीच बिस्कुट का पैकेट रखा था। वैसे उसे बिस्कुट पसन्द थे, पर इस वक्त उन्होंने स्वाद नहीं दिया। उसने बिस्कुट गिरा दिए। उसने अल्मारी की किताबें भी गिरा दीं।

उसे गुस्सा चढ़ने लगा। वह इस घर के मालिक का नुकसान करेगा, जो उसे बन्द कर गया है।

वह कार्निश पर चढ़ गया और वहाँ रखी टाइमपीस गिरा दी, तस्वीर खींचकर गिरा दी, गुलदान गिराकर तोड़ दिया। उसने दीवान की रेक्सीन को दाँतों से चिर्रर् करते हुए फाड़ डाला। उसने अल्मारी के शीशों को जिस्म से टकराकर तोड़ने की कोशिश की। मगर शीशे टूटे नहीं।

उसने कुर्सी को गंदा कर दिया।

गुस्सा दिखा चुकने पर वह कुछ सहज हो गया, जैसे अन्दर की बेचैनी इस गुस्से के साथ बाहर बह गयी। उसने गिरे हुए बिस्कुटों में से एक उठा कर और खा लिया।

लेकिन जल्द ही उसमें बेचैनी फिर भर गयी।

दोपहर हो गयी थी।

घर का मालिक लगता नहीं लौटेगा।

उसने करुण स्वर में म्यों-म्यों की–मैं मुसीबत में हूँ। मैं इस कैद से बाहर कैसे निकलूं?

–च्यों-चूँ-चूँ।–एक गौरैया कमरे की छत को छूती हुई चक्कर लगाने लगी।

उसने उड़ती गौरैया को कौतूहल से देखा–अच्छा, तुम भी यहाँ हो।

गौरैया रोशनदान पर जाकर बैठ गई और कमरे के बाहर निकल गयी।

रोशनदान कार्निश के ऊपर दीवार में था। उसे रोशनदान का इल्म था। उसने सुबह ही कार्निश के ऊपर छलाँग लगाकर अपने जिस्म के ही आकार के उस रोशनदान का मुआइना किया था। रोशनदान में बड़े चौकोर खानों वाली मोटे तार की जाली जड़ी थी। यह चिड़िया उधर के रास्ते ही आई थी और उधर से ही निकल गई।

उसे लगा कि अगर वह इस कमरे के बाहर निकल सकता है, तो इस रोशनदान के रास्ते से ही।

वह कार्निश से उछल पंजों के बल रोशनदान से लटक गया और जाली को झिंझोड़ने लगा।

वह कार्निश पर एक मिनट के लिए वापस आ गया और रोशनदान से लटक कर जाली को फिर झिंझोड़ने लगा।

वह इस क्रिया को बार-बार दोहराने लगा।

भूख के लिये शिकार करता हुआ वह बहुत खूबसूरत दीखता था। अपनी स्वतन्त्रता के लिए लड़ता हुआ वह इस वक्त और भी खूबसूरत दीख रहा था।

लेकिन आध घण्टे तक रोशनदान से जूझते रहने के बाद भी वह रोशनदान का कुछ भी न बिगाड़ सका–न उसका कोई तार ही टूटा, न उसका चौखटा ही टस-से-मस हुआ। उल्टे उसका पंजा जख्मी हो गया, दाँत भी। निराश होकर वह वापस नीचे उतर आया।

तीसरा पहर हो गया था।

उसने दरवाजे की दर्ज बढ़ाने की फिर कोशिश की, लेकिन नाकामयाब रहा। खिड़की के पलड़ों पर भी जाकर वह हार गया।

शाम हो गयी।

मकान मालिक शायद इस वक्त लौट आये। उसने आकर दरवाजा खोला नहीं कि वह बग़ैर कोई मौका खोये झट छलाँग मारता हुआ भाग निकलेगा।

रात गहराने लगी।

मकान मालिक लौटेगा नहीं। वह बाहर दरवाजे पर ताला जड़कर जरूर परदेश चला गया है–दस-पन्द्रह दिन के लिए, हो सकता है कि इससे भी ज्यादा दिनों के लिए।

क्या वह इस कमरे में कैद रह कर मर जाएगा? उसने भिनभिनाती मक्खियों से घिरे मुँह बाये, टाँगे फैलाये मरे बिल्ले-बिल्लियों को देखा है। क्या उसकी सुन्दर, फुर्तीली,

उत्साह से छलछलाती काया की भी यही गति होगी?

वह मौत से डरकर रोने लगा–म्यौंअ-म्यौंअ-म्यों-यूँ-अँ-अँ।

नाली की राह कमरे में एक चूहा आ गया। लेकिन उसकी शिकार करने की इच्छा नहीं हुई और उसने चूहे को भाग जाने दिया।

वह कुछ देर फर्श पर निढाल पड़ा रहा। चाहा कि गम को गलत करने के लिए नींद के आगोश में अपने को सौंप दे। लेकिन वह फिर उठ कर कार्निश पर चला गया और उछल-उछल कर रोशनदान को दुबारा झिंझोड़ने लगा। उसे लगा कि उसकी मुक्ति का मार्ग बस यह रोशनदान ही है।

मगर एक घण्टे बाद वह फिर हारकर बैठ गया। रोशनदान में जुम्बिश तक नहीं ली थी।

बाहर सड़क पर चौकीदार जागते रहो की आवाज लगा रहा था।

वह करुण स्वर में फिर रोने लगा–म्यौंअ-म्यौंअ-म्यों-यँ-अँ-अँ। मैं जाग ही रहा हूँ। मैं घोर संकट में फँस गया हूँ। मैं मर जाऊँगा। मेरी सहायता करो।

चौकीदार आवाज लगाता दूर चला गया था।

यह महसूस करने पर कि उसकी सहायता कोई नहीं करेगा, अपनी लड़ाई अपने आप लड़ी जाती है और उसके पंजे ही केवल उसके विश्वसनीय साथी बन सकते हैं, वह कार्निश पर जाकर, उछल-उछल कर, रोशनदान को फिर झिंझोड़ने लगा।

उसने रुक-रुककर रोशनदान पर अनेक हमले किये। निराशा उसकी आँखों के दिये बुझा देती, आशा उनमें लौ फिर जला देती। जब वह रुकता, तो कमरे में अन्धेरा जमने लगता। जब वह हमला करता, तो अन्धेरा टूटने लगता। नहीं, तब अन्धेरा बिल्ले में बदल जाता। वह कमरा उसके अस्तित्व की लड़ाई के लिए धर्मक्षेत्र कुरुक्षेत्र बन गया था।

काफी समय बाद उसे लगा कि रोशनदान हिला है। वह अब और अधिक वेग से उछलकर उसे झिंझोड़ने लगा। वह ज्यादा ताकत लगाने के लिये जाली को पंजों से पकड़े-पकड़े अपने जिस्म को तेज-तेज झटका देता, तूफान का बगूला बनकर।

रोशनदान और हिला था। वहाँ दीवार से एक पपड़ा उचल कर अलग हो गया था।

झन-झन-झन।–वह रोशनदान की जाली को पंजों से पकड़कर और अधिक ताकत से झिंझोड़ने लगा।

झन-झन-झन।–वह जाली को और भी अधिक ताकत से झिंझोड़ने लगा।

उसका जिस्म रोशनदान को सत्ताच्युत करने के लिए एक हथियार बन गया था, एक पिघली हुई आग। नहीं, एक इच्छा, एक उद्देश्य, एक संकल्प।

फिर रोशनदान मय चौखटे के तेज आवाज करता हुआ नीचे गिर पड़ा। साथ में उसके जिस्म को भी लिये हुए।

गहरी भूरी-कत्थई चित्तियों वाला वह बिल्ला जब कमरे से बाहर आया, सुबह फैल चुकी थी। गली में वह लँगड़ा-लँगड़ा कर चल रहा था। उसकी बायीं आँख के ऊपर

जख्म का निशान था। जिस्म के दूसरे हिस्सों की भी जिल्द कटी-फटी थी।

गली के मोड़ पर एक घर से कबरा बिल्ला निकल आया और जोर-जोर से गुर्राने लगा। वह कबरे बिल्ले से आज लड़ना नहीं चाहता था। उसका पोर-पोर टीस रहा था। कल-परसों वह उसकी चुनौती जरूर स्वीकार कर लेगा। तभी एक कुत्ता वहाँ नमूदार हो गया और कबरा बिल्ला भाग गया।

बिल्ला बाजार में आ गया और एक दुकान की निर्जन छत पर चढ़ गया।

लँगड़े आदमी को देखकर आज उसे लगा कि उसके लँगड़े होने के पीछे उस जैसी ही कोई कहानी हो सकती है। चेहरे पर जख्म के निशान वाले आदमी को देखकर भी उसने वैसा ही सोचा।

एक ढीठ मैना उसके आसपास फुदकने लगी। उसने लेटे ही लेटे पूँछ फटकारी–जा, दूर भाग जा। आज मैं बेहद थका हूँ। मरना है, तो कल आना।

बिल्ला गदरों में सिर छिपा कर सोने लगा। धूप उसे अपनी नरम, गुनगुनी अंगुलियों से सहला रही थी। कत्थई-भूरी चित्तियों से जगमग करता उसका जिस्म यों दीख रहा था जैसे वहाँ किसी गौरवमयी गाथा का एक गौरवमय पृष्ठ खुला पड़ा हो। □

# पानी और पुल

**महीप सिंह**
(जन्म : सन् 1930 ई.)

गाड़ी ने लाहौर का स्टेशन छोड़ा तो एकबारगी मेरा मन कांप उठा। अब हम लोग उस ओर जा रहे थे जहां चौदह साल पहले ऐसी आग लगी थी जिसमें लाखों जल गए थे, और लाखों घर जलने के निशान आज तक बने थे। मुझे लगा, हमारी गाड़ी किसी गहरी, लम्बी अंधकारमय गुफा में घुस रही है। और हम अपना सब कुछ इस अंधकार को सौंपे दे रहे हैं।

हम सब लगभग तीन सौ यात्री थे। स्त्रियों और बच्चों की भी संख्या हम में काफी थी। लाहौर में हमने सभी गुरुद्वारों के दर्शन किए। वहां हमें जैसा स्वागत मिला उससे आगे अब पंजासाहब की यात्रा में किसी प्रकार का अनिष्ट घट सकता है ऐसी सम्भावना तो नहीं थी, परन्तु मनुष्य के अन्दर का पशु कब जागकर सभी सम्भावनाओं को डकार जाएगा, कौन जानता है?

यही सब सोचते-सोचते मैंने मां की ओर देखा। देखा, हथेली पर मुंह टिकाए, कोहनी को खिड़की का सहारा दिए वे निरन्तर बाहर की ओर देख रही थीं। खेत कट चुके थे। दूर-दूर तक सपाट धरती दिखाई दे रही थी। मुझे लगा, मां की आंखों में से उतरकर यह सपाटता मन में पूरी तरह छा गई है। फिर मैंने अपने डिब्बे के यात्रियों की तरफ देखा। उन पर भी गहरी उदासी छाई हुई थी। समझ में नहीं आ रहा था कि एकाएक ऐसी उदासी सब पर क्यों छा गई है?

"तुम्हें तो यह रास्ता अच्छी तरह याद होगा?" मैंने मां का ध्यान तोड़ते हुए पूछा, "सैकड़ों बार आना-जाना हुआ होगा तुम्हारा?"

मां मेरी ओर देखकर मुस्कराई। वह सब कुछ खोकर पाई हुई मुस्कराहट थी। बोली, "मुझे तो इस रास्ते का एक-एक स्टेशन तक याद है। पर आज यह इलाका कितना बेगाना-बेगाना-सा लग रहा है। आज चौदह साल बाद इधर से जा रही हूं। पहले भी ऐसे ही जाती थी। लाहौर पार करते ही अजीब-सी उमंग नस-नस में दौड़ जाती थी।

सराई (हमारा गांव) जैसे-जैसे निकट आता जाता वहां की एक-एक शक्ल मेरे सामने दौड़ जाती, स्टेशन पर कितने लोग आए होते ···"

मां की आंखों में चौदह साल पहले की याद तरल हो आई थी। पिताजी ने अपना रोजगार उत्तर प्रदेश में ही जमा लिया था। हम सब भाई-बहनों का जन्म पंजाब के बाहर ही हुआ था। मुझे याद है, पिता जी तो शायद साल में एकाध बार ही पंजाब आते हों, पर मां के दो-तीन चक्कर जरूर लग जाते थे। हम में जो छोटा होता वह मां के साथ जाता। और जब से मुझे याद है, मेरी छोटी बहन ही उनके साथ जाया करती थी।

उन दिनों, जब पंजाब का विभाजन घोषित हो चुका था, पंजाब की पांचों नदियों का जल उन्माद की तीखी शराब बन चुका था, मां ने फिर पंजाब जाने का फैसला किया था। सभी ने ऐसे विरोध किया जैसे वे जलती आग में कूदने जा रही हों, और वह सचमुच आग में कूदने-जैसा ही तो था! परन्तु पिताजी सहित हम सब जानते थे कि मां को अपने निश्चय से डिगाना कोई आसान बात नहीं। उन्होंने सबकी बातों को हंसकर टाल दिया। बीस-बाईस दिनों में वह वापस आ गई। गांव के घर का बहुत-सा सामान वे बुक करा आई थी। अपने साथ वे अपना पुराना चरखा और दही मथने की बड़ी मथानी ले आई थी।

फिर सारे पंजाब में आग लग गई। घर के घर, गांव के गांव और शहर के शहर आग में जलने लगे। आग रुकी तो लगा इधर तक सपाट फैली हुई जमीन अमृतसर और लाहौर के बीच से फट गई है और उस पार का फटा हुआ हिस्सा बीच में गहरी खाई छोड़कर न जाने कितना उधर खिसक गया है। हम सब भूल से गए कि उस गहरी खाई के उस पार हमारा अपना गांव था, पक्की सड़क के किनारे, पीछे की ओर एक नहर थी और पास ही जेहलम नदी, अल्हड़ लड़की की तरह उछलती-कूदती बहती थी।

आज मैं मां के साथ उस खाई पर राजकीय औपचारिकता के बांधे हुए पुल से गुजरकर उसी ओर जा रहा था जो कल कितना अपना था, आज कितना पराया है।

मैं एक पुस्तक के पन्ने उलट रहा था; मां ने पूछा, "यह गाड़ी सराई स्टेशन पर रुकेगी?"

मैंने कुछ सोचा, फिर कहा, "हां, शायद रुके, पर पहुंचेगी रात के एक-दो बजे। हम लोग गहरी नींद में सो रहे होंगे। स्टेशन कब आकर निकल जाएगा, पता भी नहीं लगेगा। और अब अपना रखा ही क्या है वहां?"

मां के चेहरे पर खिसियाहट-सी दौड़ गई। बोली, "तुम्हारे लिए पहले ही वहां क्या रखा था?"

मेरी बात से मां को चोट पहुंची थी। बिना कुछ बोले मैं सिर झुकाकर अपनी पुस्तक के पन्नों में उलझ गया।

धीरे-धीरे अंधेरा छाने लगा। मां ने पोटली खोलकर खाने के लिए कुछ निकाला।

मेरे एक दूर के मामाजी हमारे साथ थे। तीनों ने मिलकर कुछ खाया और सोने की तैयारी करने लगे। मामाजी तो दस मिनट में ही खर्राटे भरने लगे। मैं भी एक ओर उढ़क गया। मां वैसी ही बैठी रही।

कुछ देर बाद एकाएक मेरी आंखें खुलीं तो देखा, मां वैसे ही बाहर फैले हुए अंधेरे की ओर निष्पलक देखती हुई बैठी है। घड़ी देखी, साढ़े दस बज गए थे। मैंने कहा, "मां, तुम भी लेट जाओ न!"

'अच्छा।' उनके मुंह से निकला और वे उधलेटी-सी हो गई।

उस अधनींदी अवस्था में मैंने कोई स्वप्न देखा, ऐसा तो मुझे याद नहीं आता; पर उस नींद में भी कुछ घबराहट अवश्य होती रही थी। शायद किसी अस्पष्ट स्वप्न की ही घबराहट हो। कोई लाल-सी तरल चीज मुझे अपने चारों ओर फिरती अनुभव होती थी। और मुझे लग रहा था, उस लाल-लाल गाढ़ी-सी चीज पर मेरे पैर फच-फच पड़ रहे हैं। फिर एकाएक मैं हड़बड़ाकर उठा। मां मुझे झकझोर रही थी। अजीब-सी घबराहट और उत्तेजना से उनके हाथ कांप रहे थे।

"क्या है?"

"देखो, ये बाहर शोर कैसा है?"

मैंने बाहर झांककर देखा। हमारी गाड़ी छोटे-से स्टेशन पर खड़ी थी। प्लेटफॉर्म पर लैम्प-पोस्टों की हलकी-हलकी रोशनी थी और अजीब-सा कोलाहल वहां छाया हुआ था। एकबारगी मेरा रोयां-रोयां कांप उठा। चौदह साल पहले की अनेक सुनी-सुनाई घटनाएं बिजली बनकर कौंध गई, जब दंगाइयों ने कितनी गाड़ियों को जहां-तहां रोककर लोगों को गाजर-मूली की तरह काट डाला था। मामा जी भी जागकर मेरा कंधा हिला रहे थे–

"अरे, क्या बात है?"

तभी मेरे कानों में आवाज़ पड़ी। उस भीड़ में से कोई चिल्ला रहा था–"अरे इस गाड़ी में कोई सराई का है?"

"यह कौन-सा स्टेशन है?" मैंने मां से पूछा।

मां ने कहा, "सराई ··· अपने गांव का स्टेशन।"

बाहर से फिर आवाज आई, "अरे, इस गाड़ी में कोई सराई का है?"

मैंने मां की ओर देखा। उनके चेहरे पर पूर्ण आश्वस्तता थी।

"पूछो इनसे, क्या बात है?"

मैंने खिड़की से गरदन निकाली। बहुत-से लोग घूमते हुए पुकार रहे थे, 'अरे, कोई सराई का है?'

पास से जाते हुए आदमी को बुलाकर मैंने पूछा, "क्या बात है जी?"

"आपमें कोई इस गांव का है?"

"हां, हम हैं इस गांव के ··· " मां आगे आकर बोली।

"तुम सराई की हो?" उस आदमी ने जोर देकर पूछा।

"हां जी?"

मां के इतना कहते ही स्टेशन पर चारों ओर शोर मच गया। इधर-उधर घूमते हुए बहुत-से आदमी हमारे डिब्बे के सामने जमा हो गए। फिर कई आवाजें एक साथ आईं।

"तुम सराई की हो?"

"हां जी, हम सराई के ही हैं···" मां ने जोर देकर कहा, "इसी गांव के।"

उपस्थित जनसमुदाय में एक कोलाहल-सा हुआ। किसी की आवाज आई, "तुम किसके घर से हो?"

मां ने मेरी ओर देखा, मैंने कहा, "मेरे पिताजी का नाम सरदार मूलासिंह है। ये मेरी मां हैं।"

"तुम मूलासिंह के बेटे हो?" कई लोग एक साथ चिल्लाए, "तुम मूलासिंह की बीवी हो··· रखेलसिंह की भाभी? कैसे हैं सबलोग··· ?" कहते-कहते कितने ही हाथ हमारी ओर बढ़ने लगे। लोग हमारे संबंधियों में सबकी कुशल-क्षेम पूछते हुए अपने हाथ की पोटलियां मुझे और मां को थमाते जा रहे थे। उनमें बादाम, अखरोट, किशमिश आदि सूखे मेवे बंधे हुए लग रहे थे। मैं और मां गुमसुम से उन्हें ले-लेकर अपनी सीट पर रखते जा रहे थे। देखते-देखते हमारी बर्थ छोटी-छोटी कपड़ों की पोटलियों से भर गई।

मैं हक्का-बक्का-सा यह सब देख रहा था। मां अपने सिर का कपड़ा बार-बार संभालती हुई हाथ जोड़ रही थी। खुशी से उनके होंठ फड़फड़ा रहे थे। मुंह से निकल कुछ भी न रहा था और लगता था आंखें अभी चू पड़ेंगी।

वहीं खड़े गार्ड ने हरी लालटेन ऊपर उठाई और कोट की जेब से सीटी निकाली। मैंने देखा, तीन-चार आदमियों ने उसे पकड़-सा लिया।

"अरे बाबू, दो-चार मिनट और खड़ी रहने दे न गाड़ी को! देखता नहीं, यह बीवी इसी गांव की है···।" और एक ने उसका लालटेन वाला हाथ पकड़कर नीचे कर दिया।

"भरजाई, सरदार जी कैसे हैं? उन्हें क्यों नहीं लाई, पंजेसाहब दरशन कराने?" एक बूढ़ा-सा मुसलमान पूछ रहा था।

मां ने दोनों हाथों से सिर का कपड़ा और आगे कर लिया, उनके मुंह से, धीरे से निकला, "सरदार जी नहीं रहे···"

"क्या··· ? मूलासिंह गुजर गए? क्या हुआ था उन्हें?"

मां चुप रही, मैंने जवाब दिया, "उनके पेट में रसौली हो गई थी। एक दिन अचानक फट गई और दूसरे दिन पूरे हो गए।"

"ओह, बड़े ही नेक बन्दे थे। खुदा उन्हें अपनी दरगाह में जगह दे!" उनमें से एक ने अफसोस प्रकट करते हुए कहा। कुछ क्षण के लिए सब में खामोशी छा गई।

"भरजाई, तेरे बच्चे कैसे हैं?"

"वाहेगुरु की किरपा है, सब अच्छे हैं।" मां ने धीरे से कहा।

"अल्लाह उनकी उम्र दराज करे!" कई आवाजें एक साथ आईं।

"भरजाई, तुम अपने बच्चों को लेकर यहां आ जाओ," किसी एक ने कहा, और कितनों ने दुहराया, 'भरजाई, तुम लोग वापस आ जाओ··· वापस आ जाओ।' प्लेटफार्म पर कितनी ही आवाजें कह रही थीं।

'वापस आ जाओ।'

'वापस आ जाओ।'

मैंने सुना, मेरे पीछे खड़े मामाजी कुढ़ते हुए कह रहे थे, "हुं··· बदमाश कहीं के! पहले तो हमें मार-मारकर यहां से निकाल दिया, अब कहते हैं वापस आ जाओ··· लुच्चे!"

पर प्लेटफार्म पर खड़े लोगों ने उनकी बात नहीं सुनी थी। वे कहे जो रहे थे–

"भरजाई, तुम अपने बच्चों को लेकर वापस आ जाओ। बोलो भरजाई, कब आओगी? अपना गांव तो तुम्हें याद आता है? भरजाई, वापस आ जाओ··· ।"

मां के मुंह से कुछ नहीं निकल रहा था। वे सिर का कपड़ा संभालते हुए हाथ जोड़े जा रही थी।

दूर खड़ा गार्ड हरी लालटेन दिखाता हुआ सीटी बजा रहा था।

इंजन ने सीटी दी। गाड़ी फक-फक करती हुई चल दी। भीड़ की भीड़ हमारे डिब्बे के साथ चल दी।

"अच्छा, भरजाई, सलाम··· अच्छा, बेटे, सलाम··· रवेलसिंह को मेरा सलाम देना ··· सबको हमारा सलाम देना।'

मां के हाथ जुड़े हुए थे और मुंह से गद्‌गद स्वर में धीरे-धीरे कुछ निकल रहा था। धीरे-धीरे गाड़ी कुछ तेज हो गई। हम दोनों खिड़की से सिर निकाले हाथ जोड़े रहे। भीड़ के लोग वहीं खड़े हाथ ऊपर उठाए चिल्लाते रहे।

गाड़ी स्टेशन के बाहर निकल आई तो मैंने बर्थ से पोटलियां हटाकर एक ओर की और मां से कुछ कहने के लिए उनकी ओर देखा।

मां की आंखों से आंसुओं की अविरल धारा बह रही थी, बहे जा रही थी। वे बार-बार दुपट्टे से आंखें पोंछे जा रही थी, पर टूटे हुए बांध का पानी बहता ही जा रहा था।

हमारी गाड़ी जेहलम के पुल पर आ गई थी। रात्रि के उस नीरवता में खडर··· खडर की तेज आवाज आ रही थी। मैं खिड़की से झांककर जेहलम का पुल देखने लगा। मैंने सुना था, जेहलम का पुल बहुत मजबूत है। पत्थर और लोहे के बने उस मजबूत पुल को अंधेरे में मैं देख रहा था। मेरी दृष्टि और नीचे की ओर भी जा रही थी, वहां घुप्प अंधेरा था, पर मैं जानता था वहां पानी है, जेहलम नदी का कल-कल करता हुआ स्वच्छ और निर्मल पानी, जो उस पत्थर और लोहे के बने हुए पुल के नीचे से बह रहा था।

□

# यही सच है

मन्नू भंडारी
(जन्म : सन् 1931 ई.)

कानपुर

सामने आँगन में फैली धूप सिमटकर दीवारों पर चढ़ गयी और कन्धे पर बस्ता लटकाये नन्हें-नन्हें बच्चों के झुंड-के-झुंड दिखायी दिये, तो एकाएक ही मुझे समय का आभास हुआ ··· घंटा-भर हो गया यहाँ खड़े-खड़े और संजय का अभी तक पता नहीं! झुंझलाती-सी मैं कमरे में आती हूँ। कोने में रखी मेज़ पर किताबें बिखरी पड़ी हैं, कुछ खुली, कुछ बन्द। एक क्षण मैं उन्हें ही देखती रहती हूँ, फिर निरुद्देश्य-सी कपड़ों की आलमारी खोलकर, सरसरी-सी नज़र से कपड़े देखती हूँ। सब बिखरे पड़े हैं। इतनी देर यों ही व्यर्थ खड़ी रही; इन्हें ही ठीक कर लेती ··· पर मन नहीं करता और फिर बन्द कर देती हूँ।

नहीं आना था तो व्यर्थ ही मुझे समय क्यों दिया? फिर यह कोई आज ही की बात है! हमेशा संजय अपने बताये हुए समय से घंटे-दो घंटे देरी करके आता है, और मैं हूँ कि उसी क्षण से प्रतीक्षा करने लगती हूँ! उसके बाद लाख कोशिश करके भी तो किसी काम में अपना मन नहीं लगा पाती। वह क्यों नहीं समझता कि मेरा समय बहुत अमूल्य है; थीसिस पूरी करने के लिए अब मुझे अपना सारा समय पढ़ाई में ही लगाना चाहिए। पर यह बात उसे कैसे समझाऊँ।

मेज़ पर बैठकर मैं फिर पढ़ने का उपक्रम करने लगती हूँ, पर मन है कि लगता ही नहीं। परदे के ज़रा-से हिलने से दिल की धड़कन बढ़ जाती है और बार-बार नज़र घड़ी के सरकते हुए काँटों पर दौड़ जाती है। हर समय यही लगता है, वह आया! वह आया!

तभी मेहता साहब की पाँच साल की छोटी बच्ची झिझकती-सी कमरे में आती है, "आण्टी, हमें कहानी सुनाओगी?

"नहीं, अभी नहीं, पीछे आना!" मैं रुखाई से जवाब देती हूँ। वह भाग जाती है।

ये मिसेज़ मेहता भी एक ही हैं! यों तो महीनों शायद मेरी सूरत नहीं देखती। पर बच्ची को जब-तब मेरा सिर खाने को भेज देती हैं। मेहता साहब तो फिर भी कभी-कभी आठ-दस दिन में ख़ैरियत पूछ ही लेते हैं, पर वह तो बेहद अकड़ू मालूम होती हैं। अच्छा ही है, ज्यादा दिलचस्पी दिखाती तो क्या मैं इतनी आजादी से घूम-फिर सकती थी।

खट-खट-खट··· वही परिचित पद-ध्वनि! तो आ गया संजय। मैं बरबस ही अपना सारा ध्यान केन्द्रित कर लेती हूँ। रजनीगन्धा के ढेर-सारे फूल लिये संजय मुस्कराता-सा दरवाजे पर खड़ा है। मैं देखती हूँ, पर मुस्कराकर उसका स्वागत नहीं करती। हँसता हुआ वह बढ़ता है, और फूलों को मेज़ पर पटककर, पीछे से मेरे दोनों कन्धे दबाता हुआ पूछता है, "बहुत नाराज़ हो?"

रजनीगन्धा की महक से जैसे सारा कमरा महकने लगता है।

"मुझे क्या करना है नाराज़ होकर?" रुखाई से मैं कहती हूँ।

वह कुरसी-सहित मुझे घुमाकर अपने सामने कर लेता है, और बड़े दुलार के साथ ठोड़ी उठाकर कहता है, "तुम्हीं बताओ, क्या करता? क्वालिटी में दोस्तों के बीच फँस गया। बहुत कोशिश करके भी उठ नहीं पाया। सबको नाराज़ करके आना अच्छा भी तो नहीं लगता।"

इच्छा होती है कह दूँ, तुम्हें दोस्तों का ख़्याल है, उनके बुरा मानने की चिन्ता है, बस मेरी ही नहीं! पर कह कुछ नहीं पाती, एकटक उसके चेहरे की ओर देखती रहती हूँ··· उसके साँवले चेहरे पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं। कोई और समय होता तो मैंने अपने आँचल से इन्हें पोंछ दिया होता, पर आज नहीं। वह मन्द-मन्द मुस्करा रहा है, उसकी आँखें क्षमा-याचना कर रही हैं। पर मैं क्या करूँ।··· तभी वह अपनी आदत के अनुसार कुरसी के हत्थे पर बैठकर मेरे गाल सहलाने लगता है। मुझे उसकी इसी बात पर गुस्सा आता है। हमेशा इसी तरह करेगा और फिर दुनिया-भर का लाड़-दुलार दिखलाएगा। वह जानता जो है कि इसके आगे मेरा क्रोध टिक नहीं पाता··· फिर उठकर वह फूलदान के पुराने फूल फेंक देता है, और नये फूल लगाता है। फूल सजाने में वह कितना कुशल है! एक बार मैंने यों ही कह दिया था कि मुझे रजनीगन्धा के फूल बड़े पसन्द हैं, तो उसने नियम ही बना लिया कि हर चौथे दिन ढेर-सारे फूल लाकर मेरे कमरे में लगा देता है। और अब तो मुझे भी ऐसी आदत हो गयी है कि एक दिन भी कमरे में फूल न रहें तो न पढ़ने में मन लगता है, न सोने में। ये फूल जैसे संजय की उपस्थिति का आभास देते रहते हैं।

थोड़ी देर बाद घूमने निकल जाते हैं। एकाएक ही मुझे इरा के पत्र की बाद याद आती है। जो बात सुनाने के लिए मैं सवेरे से ही आतुर थी, इस गुस्सेबाजी में उसे ही भूल गयी थी।

"सुनो, इरा ने लिखा है कि किसी दिन भी मेरे पास इण्टरव्यू का बुलावा आ सकता

है, मुझे तैयार रहना चाहिए।"

"कहाँ, कलकत्ता से?" कुछ याद करते हुए संजय पूछता है, और फिर एकाएक ही उछल पड़ता है, "यदि तुम्हें वह जॉब मिल जाये तो मज़ा आ जाये, दीपा, मज़ा आ जाये।" हम सड़क पर हैं नहीं तो अवश्य ही उसने आवेश में आकर कोई हरक़त कर डाली होती। जाने क्यों, मुझे उसका इस प्रकार प्रसन्न होना अच्छा नहीं लगता। क्या वह यह चाहता है कि मैं कलकत्ता चली जाऊँ, उससे दूर?

तभी सुनायी देता है, "तुम्हें यह जॉब मिल जाये तो सच मैं भी अपना तबादला कलकत्ता ही करवा लूँ, हेड-ऑफ़िस में। यहाँ की रोज़ की किचकिच से तो मेरा मन ऊब गया है। कितनी ही बार सोचा कि तबादले की कोशिश करूं, पर तुम्हारे ख्याल ने हमेशा मुझे बाँध लिया। ऑफ़िस में शान्ति हो जायेगी, पर मेरी शामें कितनी वीरान हो जायेंगी!"

उसके स्वर की आर्द्रता ने मुझे छू लिया। एकाएक ही मुझे लगने लगा कि रात बड़ी सुहावनी चली है।

हम दूर निकलकर अपनी प्रिय टेकरी पर जाकर बैठ जाते हैं। दूर-दूर तक हलकी-सी चाँदनी हुई है, और शहर की तरह यहाँ का वातावरण धुएँ से भरा हुआ नहीं है। वह दोनों पैर फैलाकर बैठ जाता है और घंटों मुझे अपने आफ़िस के झगड़े की बातें सुनाता है और फिर कलकत्ता जाकर साथ जीवन बिताने की योजनाएँ बनाता है। मैं कुछ नहीं बोलती, बस एकटक उसे देखती रहती हूँ, देखती रहती हूँ।

जब वह चुप हो जाता है तो बोलती हूँ, "मुझे तो इण्टरव्यू में जाते हुए बड़ा डर लगता है। पता नहीं, कैसे क्या पूछते होंगे! मेरे लिए तो यह पहला ही मौक़ा है।"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ता है।

"तुम भी एक ही मूर्खा हो! घर से दूर, यहाँ कमरा लेकर अकेली रहती हो, रिसर्च कर रही हो, दुनिया-भर में घूमती-फिरती हो और इण्टरव्यू के नाम से डर लगता है! क्यों?" और गाल पर हलकी-सी चपत जमा देता है। फिर समझाता हुआ कहता है, "और देखो, आजकल ये इण्टव्यू आदि तो सब दिखाया मात्र होते हैं। वहाँ किसी जान-पहचानवाले से इन्फ्लुएंस डलवाना जाकर!"

"पर कलकत्ता तो मेरे लिए एकदम नयी जगह है। वहाँ इरा को छोड़कर मैं किसी को जानती भी नहीं। अब उन लोगों की कोई जान-पहचान हो तो बात दूसरी है।" असहाय-सी मैं कहती हूँ।

"और किसी को नहीं जानती?" फिर मेरे चेहरे पर नज़रें गड़ाकर पूछता है, "निशीथ भी तो वहीं है?"

"होगा, गुझे क्या करना है उससे?" मैं एकदम ही भन्नाकर जवाब देती हूँ। पता नहीं क्यों, मुझे लग रहा था कि अब वह यही बात कहेगा।

"कुछ नहीं करना?" वह छेड़ने के लहजे में कहता है।
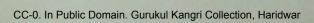
और मैं भभक पड़ती हूँ, "देखो संजय, मैं हज़ार बार तुमसे कह चुकी हूँ कि उसे लेकर मुझसे मज़ाक मत किया करो! मुझे इस तरह का मज़ाक ज़रा भी पसन्द नहीं है!"

वह खिलखिलाकर हँस पड़ता है, पर मेरा तो मूड ही खराब हो जाता है।

हम लौट पड़ते हैं। वह मुझे खुश करने के इरादे से मेरे कन्धे पर हाथ रख देता है। मैं झटककर हाथ हटा देती हूँ, "क्या कर रहे हो? कोई देख लेगा तो क्या कहेगा?"

"कौन है यहाँ, जो देख लेगा? और देख लेगा तो देख ले, आप ही कुढ़ेगा।"

"नहीं, हमें पसन्द नहीं है यह बेशर्मी !" और सच ही मुझे रास्ते में ऐसी हरक़तें पसन्द नहीं है। चाहे रास्ता निर्जन ही क्यों न हो, पर है तो रास्ता ही; फिर कानपुर जैसी जगह!

कमरे पर लौटकर मैं उसे बैठने को कहती हूँ, पर वह बैठता नहीं, बस बाँहों में भरकर एक बार चूम लेता है। यह भी जैसे उसका रोज़ का नियम है।

वह चला जाता है। मैं बाहर बालकनी में निकलकर उसे देखती रहती हूँ··· उसका आकार छोटा होते-होते सड़क के मोड़ पर जाकर लुप्त हो जाता है। मैं उधर ही देखती रहती हूँ—निरुद्देश्य-सी, खोयी-खोयी-सी। फिर आकर पढ़ने बैठ जाती हूँ।

रात में सोती हूँ तो देर तक मेरी आँखें मेज़ पर लगे रजनीगन्धा के फूलों को ही निहारती रहती हैं। जाने क्यों, अक्सर मुझे भ्रम हो जाता है कि ये फूल नहीं है, मानो संजय की अनेकानेक आँखें हैं, जो मुझे देख रही हैं, सहला रही हैं, दुलार रही हैं। और अपने को यों असंख्य आँखों से निरन्तर देखे जाने की कल्पना से ही मैं लजा जाती हूँ।

मैंने संजय को भी एक बार यह बात बतायी थी, तो वह खूब हँसा था और फिर मेरे गालों को सहलाते हुए उसने कहा था कि मैं पागल हूँ, निरी मूर्खा हूँ!

कौन जाने, शायद उसका कहना ही ठीक हो, शायद मैं पागल ही होऊँ!

कानपुर!

मैं जानती हूँ संजय का मन निशीथ को लेकर जब-तब सशंकित हो उठता है, पर मैं उसे कैसे विश्वास दिलाऊँ कि मैं निशीथ से नफ़रत करती हूँ, उसकी याद-मात्र से मेरा मन घृणा से भर उठता है··· फिर अठारह वर्ष की आयु में किया हुआ प्यार भी कोई प्यार होता है भला! निरा बचपन होता है, महज़ पागलपन! उसमें आवेश रहता है पर स्थायित्व नहीं; गति रहती है पर गहराई नहीं। जिस वेग से वह आरम्भ होता है, ज़रा-सा झटका लगने पर उसी वेग से टूट भी जाता है। ··· और उसके बाद आहों, आँसुओं और सिसकियों का एक दौर, सारी दुनिया की निस्सारता और आत्महत्या करने के अनेकानेक संकल्प और फिर एक तीखी घृणा। जैसे ही जीवन को दूसरा आधार मिल जाता है, उस सबको भूलने में एक दिन भी नहीं लगता। फिर तो वह सब ऐसी बेवकूफ़ी लगती है, जिस पर बैठकर घण्टों हँसने की तबीयत होती है। तब एकाएक ही इस बात का एहसास होता है कि ये सारे आँसू, ये सारी आहें उस प्रेमी के लिए नहीं थे, वरन्

जीवन की उस रिक्तता और शून्यता के लिए थे, जिसने जीवन को नीरस बनाकर बोझिल कर दिया था।

तभी तो संजय को पाते ही मैं निशीथ को भूल गयी। मेरे आँसू हँसी में बदल गये और आहों की जगह किलकारियाँ गूँजने लगी। पर संजय है कि जब-तब निशीथ की बात को लेकर व्यर्थ ही खिन्न-सा हो उठता है। मेरे कुछ कहने पर वह खिलखिला अवश्य पड़ता है, पर मैं जानती हूँ, वह पूर्ण रूप से आश्वस्त नहीं है।

उसे कैसे बताऊँ कि मेरे प्यार का, मेरी कोमल भावनाओं का, भविष्य की मेरी अनेकानेक योजनाओं का एकमात्र केन्द्र संजय ही है! यह बात दूसरी है कि चाँदनी रात में, किसी निर्जन स्थान में पेड़ तले बैठकर भी मैं अपनी थीसिस की बात करती हूँ, या वह अपने ऑफ़िस की, मित्रों की बातें करता है, या हम किसी और विषय पर बात करने लगते है ··· पर इस सबका यह मतलब तो नहीं कि हम प्रेम नहीं करते! वह क्यों नहीं समझता कि आज हमारी भावुकता यथार्थ में बदल गयी है, सपनों की जगह हम वास्तविकता में जीते हैं! हमारे प्रेम को परिपक्वता मिल गयी है, जिसका आधार पाकर वह अधिक गहरा हो गया है, स्थायी हो गया है।

पर संजय को कैसे समझाऊँ यह सब? कैसे उसे समझाऊँ कि निशीथ ने मेरा अपमान किया है, ऐसा अपमान, जिसकी कचोट से मैं आज भी तिलमिला जाती हूँ। सम्बन्ध तोड़ने से पहले एक बार तो उसने मुझे बताया होता कि आखिर मैंने ऐसा कौन-सा अपराध कर डाला था, जिसके कारण उसने मुझे इतना कठोर दण्ड दे डाला। सारी दुनिया की भर्त्सना, तिरस्कार, परिहास और दया का विष मुझे पीना पड़ा ··· विश्वासघाती! नीच कहीं का! ··· और संजय सोचता है कि आज भी मेरे मन में उसके लिए कोई कोमल स्थान है! छिः ! मैं उससे नफ़रत करती हूँ! और सच पूछो तो अपने को भाग्यशालिनी समझती हूँ कि मैं एक ऐसे व्यक्ति के चंगुल में फँसने से बच गयी, जिसके लिए प्रेम महज़ एक खिलवाड़ है।

संजय! यह तो सोचो कि यदि ऐसी कोई भी बात होती, तो क्या मैं तुम्हारे आगे, तुम्हारी हर उचित-अनुचित चेष्टा के आगे, यों आत्म-समर्पण करती? तुम्हारे चुम्बनों और आलिंगनों में अपने को यों बिखरने देती? जानते हो, विवाह से पहले कोई भी लड़की किसी को इन सबका अधिकार नहीं देती। पर मैंने दिया, क्या केवल इसीलिए नहीं कि मैं तुम्हें प्यार करती हूँ, बहुत-बहुत प्यार करती हूँ! विश्वास करो संजय, तुम्हारा-मेरा प्यार ही सच है, निशीथ का प्यार तो मात्र छल था, भ्रम था, झूठ था!

कानपुर!

परसों मुझे कलकत्ता जाना है। सच, बड़ा डर लग रहा है! कैसे क्या होगा? मान लो, इण्टरव्यू में बहुत नर्वस हो गयी तो? संजय को कह रही हूँ कि वह भी साथ चले, पर उसे ऑफ़िस से छुट्टी नहीं मिल सकती है। एक तो नया शहर, फिर इण्टरव्यू! सच, अपना कोई साथ होता तो बड़ा सहारा मिल जाता। मैं कमरा लेकर अकेली रहती हूँ,

यों अकेली घूम-फिर भी लेती हूँ, तो संजय सोचता है, मुझमें बड़ी हिम्मत है, पर सच, बड़ा डर लग रहा है।

बार-बार मैं यह मान लेती हूँ कि मुझे नौकरी मिल गयी है और मैं संजय के साथ वहाँ रहने लगी हूँ। सच, कितनी सुन्दर कल्पना है, कितनी मादक! पर इण्टरव्यू का भय मादकता में भरे इस स्वप्न-जाल को छिन्न-भिन्न कर देता है···

काश, संजय भी किसी तरह मेरे साथ चल पाता!

गाड़ी जब हावड़ा स्टेशन प्लेटफार्म पर प्रवेश करती है तो जाने कैसी विचित्र आशंका, विचित्र-से भय से मन भर जाता है। प्लेटफ़ार्म पर खड़े असंख्य नर-नारियों में मैं इरा को ढूँढ़ती हूँ। वह कहीं दिखायी नहीं देती। नीचे उतरने के बजाय खिड़की में से ही दूर-दूर तक नज़रें दौड़ती हूँ··· आखिर एक कुली को बुलाकर, अपना छोटा-सा सूटकेस और बिस्तर उतारने का आदेश दे, मैं नीचे उतर पड़ती हूँ। उस भीड़ को देखकर मेरी दहशत जैसे और बढ़ जाती है। तभी किसी के हाथ के स्पर्श से मैं बुरी तरह चौंक जाती हूँ। पीछे देखती हूँ, तो इरा खड़ी है।

रूमाल से चेहरे का पसीना पोंछते हुए कहती हूँ, "सच, तुझे न देखकर मैं घबरा रही थी कि तुम्हारे घर भी कैसे पहुँचूँगी!"

बाहर आकर हम टैक्सी में बैठते हैं। अभी तक मैं स्वस्थ नहीं हो पायी हूँ। जैसे ही हावड़ा पुल पर गाड़ी पहुंचती है, हुगली के जल को स्पर्श करती हुई ठंडी हवाएँ तन-मन को एक ताज़गी से भर देती हैं! इरा मुझे इस पुल की विशेषता बताती है और मैं विस्मित-सी उस पुल को देखती हूँ, दूर-दूर तक फैले हुगली के विस्तार को देखती हूँ, उसकी छाती पर खड़ी और विहार करती अनेक नौकाओं को देखती हूँ, बड़े-बड़े जहाजों को देखती हूँ···

उसके बाद बहुत ही भीड़-भरी सड़कों पर हमारी टैक्सी रुकती-रुकती चलती है। ऊँची-ऊँची इमारतों और चारों और के वातावरण से कुछ विचित्र-सी विराटता का आभास होता है, और इस सबके बीच जैसे मैं अपने को बड़ा खोया-खोया-सा महसूस करती हूँ। कहाँ पटना और कानपुर और कहाँ यह कलकत्ता! सच, मैंने बहुत बड़े शहर देखे ही नहीं!

सारी भीड़ को चीरकर हम रेड रोड पर आ जाते हैं। चौड़ी शान्त सड़क। मेरे दोनों ओर लम्बे-चौड़े खुले मैदान।

"क्यों इरा, कौन-कौन लोग होंगे इण्टरव्यू में? मुझे तो सच बड़ा डर लग रहा है।"

"अरे, सब ठीक हो जायेगा! तू और डर? हम-जैसे डरें तो कोई बात भी है। जिसने अपना सारा कैरियर अपने-आप बनाया, वह भला इण्टरव्यू में डरे!" फिर कुछ देर ठहरकर कहती है, "अच्छा, भैया-भाभी तो पटना में ही होंगे? जाती है कभी उनके पास भी या नहीं?"

"कानपुर आने के बाद एक बार गयी थी। कभी-कभी यों ही पत्र लिख देती हूँ।"

"भई, कमाल के लोग हैं, बहन को भी नहीं निभा सके!"

मुझे यह प्रसंग कतई पसन्द नहीं। मैं नहीं चाहती कि कोई इस विषय पर बात करे। मैं मौन ही रहती हूँ।

इरा का छोटा-सा घर है, सुन्दर ढंग से सजाया हुआ। उसके पति के दौरे पर जाने की बात सुनकर पहले मुझे अफ़सोस हुआ था; वह होते तो कुछ मदद ही करते। पर फिर एकाएक लगा कि उनकी अनुपस्थिति में मैं शायद अधिक स्वतन्त्रता का अनुभव कर सकूँ। उनका बच्चा भी बड़ा प्यारा है।

शाम को इरा मुझे कॉफ़ी-हाऊस ले जाती है। अचानक मुझे वहाँ निशीथ दिखायी देता है। मैं सकपकाकर नज़र घुमा लेती हूँ। पर वह हमारी मेज़ पर ही आ पहुँचता है। विवश होकर मुझे देखना पड़ता है, नमस्कार भी करना पड़ता है, इरा का परिचय भी करवाना पड़ता है। इरा पास की कुर्सी पर बैठने का निमन्त्रण दे देती है।

मुझे लगता है, मेरी साँस रुक जायेगी।

"कब आयीं?"

"आज सवेरे ही।"

"अभी ठहरोगी? ठहरी कहाँ हो?"

जवाब इरा देती है। मैं देख रही हूँ, निशीथ बहुत बदल गया है। उसने कवियों की तरह बाल बढ़ा लिये हैं। यह क्या शौक चर्राया? उसका रंग स्याह पड़ गया है। वह दुबला भी हो गया है।

विशेष बातचीत नहीं होती और हम लोग उठ पड़ते हैं। इरा को मुन्नू की चिन्ता सता रही थी और मैं स्वयं घर पहुँचने को उतावली हो रही थी। कॉफ़ी-हाऊस से धर्मतल्ला तक वह पैदल चलता हुआ हमारे साथ आता है। इरा ही उससे बात कर रही है, मानो वह इरा का ही मित्र हो। इरा अपना पता समझा देती है और वह दूसरे दिन नौ बजे आने का वायदा करके चला जाता है।

पूरे तीन साल बाद निशीथ का यों मिलना! न चाहकर भी जैसे सारा अतीत आँखों के सामने खुल जाता है। कितना दुबला हो गया है निशीथ! ··· लगता है, जैसे मन में कहीं कोई गहरी पीड़ा छिपाये बैठा है।

मुझसे अलग होने का दुःख तो नहीं साल रहा इसे?

कल्पना चाहे कितनी ही मधुर क्यों न हो, एक तृप्तियुक्त आनन्द देनेवाली क्यों न हो, पर मैं जानती हूँ यह झूठ है। यदि ऐसा ही था तो कौन उसे कहने गया था कि तुम इस सम्बन्ध को तोड़ दो। उसने अपनी इच्छा से ही तो यह सब किया था।

एकाएक ही मेरा मन कटु हो उठता है। यही तो है वह व्यक्ति, जिसने मुझे अपमानित करके सारी दुनिया के सामने छोड़ दिया था महज़ उपहास का पात्र बनाकर! ओह! क्यों नहीं मैंने उसे पहचानने से इन्कार कर दिया? जब वह मेज़ के पास आकर खड़ा हुआ, तो क्यों नहीं मैंने कह दिया कि माफ़ कीजिए, मैं आपको पहचानती नहीं। ज़रा उसका

खिसियाना तो देखती! वह कल भी आयेगा। सच, मुझे उसे साफ़-साफ़ मना कर देना चाहिए था कि मैं उसकी सूरत भी नहीं देखना चाहती; मैं उससे नफ़रत करती हूँ! ··· अच्छा है, आये कल! मैं उसे बता दूँगी कि जल्दी ही मैं संजय से विवाह करने वाली हूँ। यह बता दूँगी कि मैं पिछला सब-कुछ भूल चुकी हूँ। यह भी बता दूँगी कि मैं उससे घृणा करती हूँ और उसे इस ज़िन्दगी में कभी माफ़ नहीं कर सकती ···

यह सब सोचने के साथ-साथ, जाने क्यों, मेरे मन में यह बात भी उठ रही है कि तीन साल हो गये, अभी तक निशीथ ने विवाह क्यों नहीं किया? करे न करे, मुझे क्या! ···

क्या वह आज भी मुझसे कुछ उम्मीद रखता है? हुँः! मूर्ख कहीं का!

संजय! मैंने तुमसे कितना कहा था कि तुम मेरे साथ चलो, पर तुम नहीं आये ··· इस समय जबकि मुझे तुम्हारी इतनी-इतनी याद आ रही है, बताओं मैं क्या करूँ।

कलकत्ता!

नौकरी पाना इतना मुश्किल है, इसका मुझे गुमान तक नहीं था। इरा कहती है कि डेढ़ सौ की नौकरी तक के लिए खुद मिनिस्टर सिफ़ारिश करने पहुँच जाते हैं; फिर यह तो तीन सौ का जॉब है ··· निशीथ सवेरे से शाम तक इसी चक्कर में भटका है, यहाँ तक कि उसने अपने ऑफ़िस से भी छुट्टी ले ली है। वह क्यों मेरे काम में इतनी दिलचस्पी ले रहा है? उसका परिचय बड़े-बड़े लोगों में है और वह कहता है कि जैसे भी होगा, वह यह काम मुझे दिलाकर ही मानेगा। पर आख़िर क्यों?

कल मैंने सोचा था कि अपने व्यवहार की रुखाई से मैं स्पष्ट कर दूंगी कि अब वह मेरे पास न आये। पौने नौ बजे के क़रीब, जब मैं अपने टूटे हुए बाल फेंकने खिड़की पर गयी, तो देखा, घर से थोड़ी दूर पर निशीथ टहल रहा है। वही लम्बे बाल, कुरता-पाजामा। तो वह समय के पहले ही आ गया! संजय होता तो ग्यारह बजे से पहले नहीं पहुँचता; समय पर पहुँचना तो वह जानता ही नहीं।

उसे यों चक्कर काटते देख मेरा मन जाने कैसा हो आया! ··· और जब वह आया तो मैं चाहकर भी कटु नहीं हो सकी। मैंने उसे कलकत्ता आने का मक़सद बताया, तो लगा कि वह बड़ा प्रसन्न हुआ। वहीं बैठे-बैठे फ़ोन करके उसने इस नौकरी के सम्बन्ध में सारी जानकारी प्राप्त कर ली। कैसे क्या करना होगा, इसकी योजना भी बना डाली, और वहीं बैठे-बैठे फ़ोन से ऑफ़िस में सूचना भी दे दी कि आज वह ऑफ़िस नहीं आयेगा।

विचित्र स्थिति मेरी हो रही थी। उसके इस अपनत्व-भरे व्यवहार को मैं स्वीकार भी नहीं पाती थी, नकार भी नहीं पाती थी। सारा दिन मैं उसके साथ घूमती रही, पर काम की बात के अतिरिक्त उसने एक भी बात नहीं की। मैंने कई बार चाहा कि संजय की बात बता दूँ, पर बता नहीं सकी। सोचा, कहीं यह सब सुनकर वह दिलचस्पी लेना कम न कर दे। उसके आज-भर के प्रयत्नों से ही मुझे काफ़ी उम्मीद हो चली थी। यह नौकरी

मेरे लिए कितनी आवश्यक है। मिल जाये तो संजय कितना प्रसन्न होगा, हमारे विवाहित जीवन के आरम्भिक दिन कितने सुख में बीतेंगे!

शाम को हम घर लौटते हैं। मैं उसे बैठने को कहती हूँ, पर वह बैठता नहीं, बस खड़ा ही रहता है। उसके चौड़े ललाट पर पसीने की बूँदें चमक रही हैं। एकाएक ही मुझे लगता है इस समय संजय होता तो? मैं अपने आँचल से उसका पसीना पोंछ देती, और वह ··· वह क्या बिना बाँहों में भरे, बिना प्यार किये यों ही चला जाता?

"अच्छा, तो चलता हूँ।"

यन्त्रचालित-से मेरे हाथ जुड़ जाते हैं, वह लौट पड़ता है और मैं ठगी-सी देखती रहती हूँ।

सोते समय मेरी आदत है कि मैं संजय के लाये हुए फूलों को निहारती रहती हूँ। यहाँ वे फूल नहीं हैं तो बड़ा सूना-सूना-सा लग रहा है।

पता नहीं संजय, तुम इस समय क्या कर रहे हो। तीन दिन हो गये, किसी ने बाँहों में भरकर प्यार तक नहीं किया।

कलकत्ता!

आज सवेरे मेरा इण्टरव्यू हो गया। मैं शायद बहुत नर्वस हो गयी थी और जैसे उत्तर मुझे देने चाहिए वैसे नहीं दे पायी। पर निशीथ ने आकर बताया कि मेरा चुना जाना क़रीब-क़रीब तय ही हो गया है। मैं जानती हूँ, यह सब निशीथ की वजह से ही हुआ।

ढलते सूरज की धूप निशीथ के बायें गाल पर पड़ रही थी, और सामने बैठा निशीथ इतने दिन बाद एक बार फिर मुझे बड़ा प्यारा-सा लगा।

मैंने देखा, मुझसे ज़्यादा वह प्रसन्न है। वह कभी किसी का एहसान नहीं लेता, पर मेरी ख़ातिर उसने न जाने कितने लोगों का एहसान लिया! आख़िर क्यों? क्या वह चाहता है कि मैं कलकत्ता आकर रहूँ उसके साथ, उसके पास? एक अजीब-सी पुलक से मेरा तन-मन सिहर उठता है। वह ऐसा क्यों चाहता है? उसका ऐसा चाहना बहुत ग़लत है, बहुत अनुचित है! ··· मैं अपने मन को समझाती हूँ, ऐसी कोई बात नहीं है, शायद वह केवल मेरे प्रति किये गये अपने अन्याय का प्रतिकार करने के लिए यह सब कर रहा है। पर क्या वह समझता है कि उसकी मदद से नौकरी पाकर मैं उसे क्षमा कर दूँगी या जो कुछ उसने किया है, उसे भूल जाऊँगी? असम्भव! मैं कल ही उसे संजय की बात बता दूंगी।

"आज तो इस खुशी में पार्टी हो जाये!"

काम की बात के अलावा यह पहला वाक्य मैं उसके मुँह से सुनती हूँ। मैं इरा की ओर देखती हूँ। वह प्रस्ताव का समर्थन करके भी मुन्नू की तबीयत का बहाना लेकर अपने को काट लेती है। अकेले जाना मुझे कुछ अटपटा-सा लगता है। अभी तक तो काम का बहाना लेकर घूम रही थी, पर अब? फिर भी मैं मना नहीं कर पाती। अन्दर जाकर तैयार होती हूँ। मुझे याद आता है, निशीथ को नीला रंग बहुत पसन्द था, मैं नीली

साड़ी ही पहनती हूँ, बड़े चाव और सर्तकता से अपना प्रसाधन करती हूँ, और बार-बार अपने को टोकती भी जाती हूँ–किसको रिझाने के लिए यह सब हो रहा है? क्या यह निरा पागलपन नहीं है?

सीढ़ियों पर निशीथ हल्की-सी मुस्कराहट के साथ कहता है, "इस साड़ी में तुम बहुत सुन्दर लग रही हो!"

मेरा चेहरा तमतमा जाता है; कनपटियाँ सुर्ख हो जाती हैं। मैं सचमुच ही इस वाक्य के लिए तैयार नहीं थी। यह सदा चुप रहनेवाला निशीथ बोला भी तो ऐसी बात!

मुझे ऐसी बातें सुनने की जरा भी आदत नहीं है। संजय न कभी मेरे कपड़ों पर ध्यान देता है, न ऐसी बातें करता है, जबकि उसे पूरा अधिकार है। और यह बिना अधिकार के ऐसी बातें करे? ···

पर जाने क्या है कि मैं उस पर नाराज़ नहीं हो पाती हूँ, बल्कि एक पुलकमय सिहरन महसूस करती हूँ। सच, संजय के मुँह से ऐसा वाक्य सुनने को मेरा मन तरसता रहता है, पर उसने कभी ऐसी बात नहीं की। पिछले ढाई साल से संजय के साथ रह रही हूँ, रोज़ ही शाम को हम घूमने जाते हैं, कितनी ही बार मैंने श्रृंगार किया, अच्छे कपड़े पहने, पर प्रशंसा का एक शब्द उसके मुँह से नहीं सुना। इन बातों पर उसका ध्यान ही नहीं जाता; वह देखकर भी जैसे यह सब नहीं देख पाता। इन वाक्य को सुनने के लिए तरसता हुआ मेरा मन जैसे रस से नहा जाता है। पर निशीथ ने यह बात क्यों कहीं? उसे क्या अधिकार है?

क्या सचमुच ही उसे अधिकार नहीं है? ··· नहीं है?

जाने कैसी मज़बूरी है, कैसी विवशता है कि मैं इस बात का जवाब नहीं दे पाती हूँ। निश्चयात्मक दृढ़ता से नहीं कह पाती कि साथ चलते इस व्यक्ति को सचमुच ही मेरे विषय में ऐसी आवांछित बात कहने का कोई अधिकार नहीं है।

हम दोनों टैक्सी में बैठते हैं। मैं सोचती हूँ आज मैं इसे संजय की बात बता दूँगी।

"स्काई-रूम!" निशीथ टैक्सीवाले को आदेश देता है।

टुन की घण्टी के साथ मीटर डाउन होता है और टैक्सी हवा से बात करने लगती है। निशीथ बहुत सतर्कता से कोने में बैठा है, बीच में इतनी जगह छोड़कर कि यदि हिचकोला खाकर भी टैक्सी रुके तो हमारा स्पर्श न हो। हवा के झोंके से मेरी रेशमी साड़ी का पल्लू उसके समूचे बदन को स्पर्श करता हुआ उसकी गोद में पड़कर फरफराता है। वह उसे हटाता नहीं है। मुझे लगता है, वह रेशमी, सुवासित पल्लू उसके तन-मन को रस में भिगो रहा है, यह स्पर्श उसे पुलकित कर रहा है। मैं विजय के अकथनीय आहलाद से भर जाती हूँ।

चाहकर भी मैं संजय की बात नहीं कह पाती। अपनी इस विवशता पर मुझे खीझ भी आती है, पर मेरा मुँह है कि खुलता ही नहीं। मुझे लगता है कि मैं जैसे कोई बहुत बड़ा अपराध कर रही होऊँ। पर फिर भी बात मैं नहीं कह सकती!

यह निशीथ कुछ बोलता क्यों नहीं? उसका यों कोने में दुबककर निर्विकार भाव से बैठे रहना मुझे कतई अच्छा नहीं लगता! एकाएक ही मुझे संजय की याद आने लगती है। इस समय वह यहाँ होता तो उसका हाथ मेरी कमर में लिपटा होता। यों सड़क पर ऐसी हरक़ते मुझे स्वयं पसन्द नहीं, पर आज, जाने क्यों, किसी की बाँहों की लपेट के लिए मेरा मन ललक उठता है। मैं जानती हूँ कि जब निशीथ बग़ल में बैठा हो, उस समय ऐसी इच्छा करना, या ऐसी बात सोचना भी कितना अनुचित है। पर मैं क्या करूँ? जितनी द्रूत गति से टैक्सी चली जा रही है, मुझे लगता है, उतनी ही द्रुत गति से मैं भी बही जा रही हूँ, अनुचित, अवांछित दिशाओं की ओर!

टैक्सी झटका खाकर रुकती है तो मेरी चेतना लौटती है। मैं झटके से दाहिनी ओर का फाटक खोलकर कुछ इस हड़बड़ी से उतर पड़ती हूँ, मानो अन्दर निशीथ मेरे साथ कोई बदतमीज़ी कर रहा हो।

"अजी, इधर से नहीं उतरना चाहिए कभी!" टैक्सीवाला कहता है, तो अपनी ग़लती का भान होता है। उधर निशीथ खड़ा है, इधर मैं, बीच में टैक्सी!

पैसे लेकर टैक्सी चली जाती है तो हम दोनों एक-दूसरे के आमने-सामने हो जाते हैं। एकाएक ही मुझे ख्याल आता है कि टैक्सी के पैसे आज मुझे देने चाहिए थे। पर अब क्या हो सकता था? चुपचाप हम दोनों अन्दर जाते हैं। आसपास बहुत-कुछ है, चहल-पहल, रोशनी, रौनक। पर मेरे लिए जैसे सबका अस्तित्व ही मिट जाता है। मैं अपने को सबकी नज़रों से ऐसे बचाकर चलती हूँ, मानो मैंने कोई अपराध कर डाला हो, मानो कोई मुझे पकड़ न ले।

क्या सचमच ही मुझसे कोई अपराध हो गया है? आमने-सामने हम दोनों बैठ जाते हैं। मैं होस्ट हूँ, फिर भी उसका पार्ट वही अदाकर रहा है। वही आर्डर देता है। बाहर की हलचल और उससे भी अधिक मन की हलचल में मैं अपने को खोया-खाया-सा महसूस करती हूँ।

हम दोनों के सामने बैरा कोल्ड कॉफ़ी के गिलास और खाने का कुछ सामान रख जाता है। मुझे बार-बार लगता है कि निशीथ कुछ कहना चाह रहा है। मैं उसके होंठों की धड़कन तक महसूस करती हूँ। वह जल्दी से कॉफ़ी का स्ट्रॉ मुँह में लगा लेता है।

मूर्ख कहीं का! वह सोचता है मैं बेवकूफ हूँ! मैं अच्छी तरह जानती हूँ कि इस समय वह क्या सोच रहा है।

तीन दिन साथ रहकर भी हमने उस प्रसंग को नहीं छेड़ा। नौकरी की बात ही हमारे दिमाग़ों पर छायी हुई थी। पर आज ··· आज अवश्य ही वह बात आयेगी! न आये, यह कितना अस्वाभाविक है! पर नहीं, स्वाभाविक शायद यही है! तीन साल पहले जो अध्याय सदा के लिए बन्द हो गया, उसे उलटकर देखने का साहस शायद हम दोनों में से किसी में नहीं है। जो सम्बन्ध टूट गये, टूट गये। अब उन पर कौन बात करे? नहीं करूँगी। पर उसे तो करनी चाहिए। तोड़ा उसने था, बात भी वही आरम्भ करे। मैं क्यों

करूँ, और मुझे क्या पड़ी है! मैं तो जल्दी ही संजय से विवाह करनेवाली हूँ। क्यों नहीं मैं इसे अभी संजय की बात बता देती? पर जाने कैसी विवशता है, जाने कैसा मोह है कि मैं मुँह नहीं खोल पाती। एकाएक मुझे लगता है जैसे उसने कुछ कहा।

"आपने कुछ कहा?"

"नहीं तो!"

मैं खिसिया जाती हूँ।

फिर वही मौन! खाने में मेरा ज़रा भी मन नहीं लग रहा है, पर यन्त्रचालित-सी मैं खा रही हूँ। शायद वह भी ऐसे ही खा रहा है। मुझे फिर लगता है कि उसके होंठ फड़क रहे हैं, और स्ट्रॉ पकड़े हुए अँगुलियाँ काँप रही हैं। मैं जानती हूँ वह पूछना चाहता है, 'दीपा, तुमने मुझे माफ़ तो कर दिया न?'

वह पूछ ही क्यों नहीं लेता? मान लो, यदि पूछ ही ले तो क्या मैं कह सकूँगी कि मैं तुम्हें जिन्दगी-भर माफ़ नहीं कर सकती, मैं तुमसे नफ़रत करती हूँ, मैं तुम्हारे साथ घूम-फिर ली, कॉफ़ी पी ली, तो यह मत समझो कि मैं तुम्हारे विश्वासघात की बात को भूल गयी हूँ?

और एकाएक ही पिछला सब-कुछ मेरी आँखों के आगे तैरने लगता है। पर यह क्या? असह्य अपमानजनित पीड़ा, क्रोध और कटुता क्यों नहीं याद आती? मेरे सामने तो पटना में गुज़ारी सुहानी सन्ध्याओं और चाँदनी रातों के वे चित्र उभर आते हैं, जब घण्टों समीप बैठे, मौन भाव से एक-दूसरे का निहारा करते थे। बिना स्पर्श किये भी जाने कैसी मादकता तन-मन को विभोर किये रहती थी, जाने कैसी तन्मयता में हम डूबे रहते थे··· एक विचित्र-सी, स्वप्निल दुनिया में!··· मैं कुछ बोलना भी चाहती तो वह मेरे मुँह पर अँगुली रखकर कहता, आत्मीयता के ये क्षण अनकहे ही रहने दो, दीप!

आज भी तो हम मौन हैं, एक-दूसरे के निकट ही हैं। क्या आज भी हम आत्मीयता के उन्हीं क्षणों में गुजर रहे हैं? मैं अपनी सारी शक्ति लगाकर चीख पड़ना चाहती हूँ, नहीं!··· नहीं!··· नहीं!··· पर कॉफ़ी सिप करने के अतिरिक्त मैं कुछ नहीं कर पाती। मेरा यह विरोध हृदय की न जाने कौन-सी अतल गहराइयों में डूब जाता है!

निशीथ मुझे बिल नहीं देने देता। एक विचित्र-सी भावना मेरे मन उठती है कि छीना-झपटी में किसी तरह मेरा हाथ उसके हाथ से छू जाये! मैं अपने स्पर्श से उसके मन के तारों को झनझना देना चाहती हूँ। पर वैसा अवसर नहीं आता। बिल वही देता है, मुझसे तो विरोध भी नहीं किया जाता।

मन में प्रचण्ड तूफ़ान! पर फिर भी निर्विकार भाव से टैक्सी में आकर बैठती हूँ··· फिर वहीं मौन, वही दूरी। पर जाने क्या है कि मुझे लगता है कि निशीथ मेरे बहुत निकट आ गया है, बहुत ही निकट! बार-बार मेरा मन करता है कि क्यों नहीं निशीथ मेरा हाथ पकड़ लेता, क्यों नहीं मेरे कन्धे पर हाथ रख देता! मैं ज़रा भी बुरा

नहीं मानूँगी, जरा भी नहीं! पर वह कुछ भी नहीं करता।

सोते समय रोज़ की तरह मैं आज भी संजय का ध्यान करते हुए ही सोना चाहती हूँ, पर निशीथ है कि बार-बार संजय की आकृति को हटाकर स्वयं आ खड़ा होता है

कलकत्ता!

अपनी मज़बूरी पर खीझ-खीझ जाती हूँ। आज कितना अच्छा मौक़ा था सारी बात बता देने का! पर मैं जाने कहाँ भटकी थी कि कुछ भी नहीं बता पायी।

शाम को मुझे निशीथ अपने साथ 'लेक' ले गया। पानी के किनारे हम घास पर बैठ गये। कुछ दूर पर काफ़ी भीड़-भाड़ और चहल-पहल थी, पर यह स्थान अपेक्षाकृत शान्त था। सामने लेक के पानी में छोटी-छोटी लहरें उठ रही हैं। चारों ओर से वातावरण का कुछ विचित्र-सा भाव मन पर पड़ रहा था।

"अब तो तुम यहाँ आ जाओगी?" मेरी ओर देखकर उसने कहा।

"हाँ।"

"नौकरी के बाद क्या इरादा है?"

मैंने देखा, उसकी आँखों में कुछ जानने की आतुरता फैलती जा रही है, शायद कुछ कहने की भी। मुझसे कुछ जानकर वह अपनी बात कहेगा।

"कुछ नहीं!" जाने क्यों मैं यह कह गयी। कोई है जो मुझे कचोटे डाल रहा है। क्यों नहीं मैं बता देती कि नौकरी के बाद मैं संजय से विवाह करूँगी, मैं संजय से प्रेम करती हूँ, वह भी मुझसे प्रेम करता है! वह बहुत अच्छा है, बहुत ही! वह मुझे तुम्हारी तरह धोखा नहीं देगा!

पर मैं कुछ भी नहीं कह पाती। अपनी इस बेबसी पर मेरी आँखें छलछला आती हैं। मैं दूसरी ओर मुँह फेर-लेती हूँ।

"तुम्हारे यहां आने से मैं बहुत खुश हूँ!"

मेरी साँस जहाँ-की-तहाँ रुक जाती है, आगे के शब्द सुनने के लिए। पर शब्द नहीं आते। बड़ी कातर, करुण और याचना-भरी दृष्टि से मैं देखती हूँ, मानो कह रही होऊँ कि तुम कह क्यों नहीं देते निशीथ, कि आज भी तुम मुझे प्यार करते हो, तुम मुझे सदा अपने पास रखना चाहते हो, जो कुछ हो गया है, उसे भूलकर तुम मुझसे विवाह करना चाहते हो! कह दो, निशीथ, कह दो! ··· यह सुनने के लिए मेरा मन अकुला रहा है, छटपटा रहा है! मैं बुरा नहीं मानूँगी, ज़रा भी बुरा नहीं मानूँगी। मान ही कैसे सकती हूँ, निशीथ? इतना सब हो जाने के बाद भी शायद मैं तुम्हें प्यार करती हूँ—शायद नहीं, सचमुच ही मैं तुम्हें प्यार करती हूँ!

मैं जानती हूँ—तुम कुछ नहीं कहोगे, सदा के ही मितभाषी जो हो। फिर भी कुछ सुनने की आतुरता लिये मैं तुम्हारी तरफ़ देखती रहती हूँ। पर तुम्हारी नज़र तो लेक के पानी पर जमी हुई है ··· शान्त, मौन!

आत्मीयता के ये क्षण अनकहे भले ही रह जायें, पर अनबूझे नहीं रह सकते। तुम

चाहे न कहो, पर मैं जानती हूँ, तुम आज भी मुझे प्यार करते हो, बहुत प्यार करते हो! मेरे कलकत्ता आ जाने के बाद इस टूटे सम्बन्ध को फिर से जोड़ने की बात ही तुम इस समय सोच रहे हो। तुम आज भी मुझे अपना ही समझते हो, तुम जानते हो, आज भी दीपा तुम्हारी है! ··· और मैं?

लगता है, इस प्रश्न का उत्तर देने का साहस मुझमें नहीं है। मुझे डर है कि जिस आधार पर मैं तुमसे नफ़रत करती थी, उसी आधार पर कहीं मुझे अपने से नफ़रत न करनी पड़े।

लगता है, रात आधी से अधिक ढल गयी है।

कानपुर!

मन में उत्कट अभिलाषा होते हुए भी निशीथ की आवश्यक मीटिंग की बात सुनकर मैंने कह दिया था कि तुम स्टेशन मत आना। इरा आयी थी, पर गाड़ी पर बिठाकर ही चली गयी, या कहूँ कि मैंने ज़बरदस्ती ही उसे भेज दिया। मैं जानती थी कि लाख मना करने पर भी निशीथ आयेगा, और विदा के उन अन्तिम क्षणों में भी उसके साथ अकेली ही रहना चाहती थी। मन में एक दबी-सी आशा थी कि चलते समय ही शायद वह कुछ कह दे!

गाड़ी चलने में जब दस मिनट रह गये तो देखा, बड़ी व्यग्रता से डिब्बों में झाँकता-झाँकता निशीथ आ रहा था··· पागल! उसे इतना तो समझना चाहिए कि उसकी प्रतीक्षा में मैं यहाँ बाहर ही खड़ी हूँ!

मैं दौड़कर उसके पास जाती हूँ, "आप क्यों आये?" पर मुझे उसका आना बड़ा अच्छा लगता है। वह बहुत थका हुआ लग रहा है। शायद सारा दिन बहुत व्यस्त रहा और दौड़ता-दौड़ता मुझे सी-ऑफ करने यहाँ आ पहुँचा। मन करता है कुछ ऐसा करूँ, जिससे इसकी सारी थकान दूर हो जाये। पर क्या करूँ? हम डिब्बे के पास आ जाते हैं।

"जगह अच्छी मिल गयी?" वह अन्दर झाँकते हुए पूछता है।

"हाँ।"

"पानी-वानी तो है?"

"है।"

"बिस्तर फैला लिया?"

मैं खीझ पड़ती हूँ। वह शायद समझ जाता है, सो चुप हो जाता है। हम दोनों एक क्षण को एक-दूसरे की ओर देखते हैं। मैं उसकी आँखों में विचित्र-सी छायाएँ देखती हूँ, मानो कुछ है, जो उसके मन में घुट रहा है, उसे मथ रहा है, पर वह कह नहीं पा रहा है। वह क्यों नहीं कह देता; क्यों नहीं अपने मन की इस घुटन को हलका कर लेता?

"आज भीड़ विशेष नहीं है," चारों ओर नज़र डालकर कहता है।

मैं भी एक बार चारों ओर देख लेती हूँ, पर नज़र मेरी बार-बार घड़ी पर ही जा रही है। जैसे-जैसे समय सरक रहा है, मेरा मन किसी गहरे अवसाद में डूब रहा है। मुझे कभी उस पर दया आती है तो कभी खीझ। गाड़ी चलने में केवल तीन मिनट रह गये हैं। एक बार फिर हमारी नज़रें मिलती हैं।

"ऊपर चढ़ जाओ, अब गाड़ी चलनेवाली है।"

बड़ी असहाय-सी नज़र से मैं उसे देखती हूँ, मानो कह रही होऊँ, 'तुम्हीं चढ़ा दो' और फिर धीरे-धीरे चढ़ जाती हूँ। दरवाज़े पर मैं खड़ी हूँ और वह नीचे प्लेटफार्म पर।

"जाकर पहुँच की खबर देना। जैसे ही मुझे इधर कुछ निश्चित रूप से मालूम होगा, तुम्हें सूचना दूँगा।"

मैं कुछ बोलती नहीं, बस उसे देखती रहती हूँ···

··· हरी झण्डी ··· फिर सीटी। आंखें छलछला आती हैं।

गाड़ी एक हलके-से झटके से साथ सरकने लगती है। वह गाड़ी के साथ क़दम आगे बढ़ाता है और मेरे हाथ पर धीरे-से अपना हाथ रख देता है। मेरा रोम-रोम सिहर उठता है। मन करता है चिल्ला पड़ूं—मैं सब समझ गयी, निशीथ, सब समझ गयी! जो कुछ तुम इन चार दिनों में नहीं कह पाये, वह तुम्हारे इस क्षणिक स्पर्श ने कह दिया! विश्वास करो यदि तुम मेरे हो तो मैं भी तुम्हारी हूँ, केवल तुम्हारी, एकमात्र तुम्हारी! ··· पर मैं कुछ कह नहीं पाती, बस, साथ चलते निशीथ को देखती-भर रहती हूँ। गाड़ी के गति पकड़ते ही वह हाथ को ज़रा-सा दबाकर छोड़ देता है। मेरी छलछलायी आँखें मुँद जाती हैं। मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, बाकी सब झूठ है, अपने को भूलने का, भरमाने का, छलने का असफल प्रयास है!

आँसू-भरी आँखों से मैं प्लेटफार्म को पीछे छूटता हुआ देखती हूँ। सारी आकृतियाँ धुँधली-सी दिखायी देती हैं। असंख्य हिलते हुए हाथों के बीच निशीथ के हाथ को, उस हाथ को, जिसने मेरा हाथ पकड़ा था, मैं ढूँढ़ने का असफल-सा प्रयास करती हूँ। गाड़ी प्लेटफ़ार्म को पार कर जाती है, और दूर-दूर तक कलकत्ता की जगमगाती बत्तियाँ दिखायी देती हैं। धीरे-धीरे वे सब भी दूर होती जाती हैं, पीछे छूटती जाती हैं। मुझे लगता है, वह दैत्याकर ट्रैन मुझे अपने घर से कहीं दूर-दूर ले जा रही है—अनदेखी, अनजानी राहों में गुमराह करने के लिए, भटकाने के लिए!

बोझिल मन से मैं अपने फैलाये हुए बिस्तर पर लेट जाती हूँ। आँखें बन्द करते ही सबसे पहले मेरे सामने संजय का चित्र उभरता है··· कानपुर जाकर मैं उसे क्या कहूँगी! इतने दिनों तक उसे छलती आयी, अपने को छलती आयी, पर अब नहीं। ··· मैं उसे सारी बात समझा दूँगी। कहूँगी—संजय, जिस सम्बन्ध को टूटा हुआ जानकर मैं भूल चुकी थी, उसकी जड़ें हृदय की किन अतल गहराइयों में जमी हुई थीं, इसका अहसास कलकत्ता में निशीथ से मिलकर हुआ। याद आता है, तुम निशीथ को लेकर सदैव ही सन्दिग्ध रहते थे, पर तब मैं तुम्हें ईर्ष्यालु समझती थी; आज स्वीकार करती हूँ कि तुम

जीते, मैं हारी!

सच मानना संजय, ढाई साल से मैं स्वयं भ्रम में थी और तुम्हें भी भ्रम में डाल रखा था, पर आज भ्रम के, छलना के, सारे ही जाल छिन्न-भिन्न हो गये हैं। मैं आज भी निशीथ को प्यार करती हूँ। और यह जानने के बाद, एक दिन भी तुम्हारे और छल करने का दुस्साहस कैसे करूँ! आज पहली बार मैंने अपने सम्बन्धों का विश्लेषण किया तो जैसे सब-कुछ स्पष्ट हो गया और अब मेरे सामने सब-कुछ स्पष्ट हो गया, तो तुमसे कुछ भी नहीं छिपाऊँगी, तुम्हारे सामने मैं चाहूँ तो भी झूठ नहीं बोल सकती।

आज लग रहा है, तुम्हारे प्रति मेरे मन में जो भी भावना है, वह प्यार की नहीं, केवल कृतज्ञता की है। तुमने मुझे उस समय सहारा दिया था, जब अपने पिता और निशीथ को खोकर मैं चूर-चूर हो चुकी थी। सारा संसार मुझे वीरान नज़र आने लगा था, उस समय तुमने अपने स्नेहिल स्पर्श से मुझे जिला दिया। मेरा मुरझाया-मरा मन हरा हो उठा, मैं कृतकृत्य हो उठी, और समझने लगी कि मैं तुमसे प्यार करती हूँ। पर प्यार की बेसुध घड़ियां, वे विभोरक्षण, तन्मयता के वे पल, जहाँ शब्द चुक जाते हैं, हमारे जीवन में कभी नहीं आये। तुम्हीं बताओ, आये कभी? तुम्हारे असंख्य आलिंगनों और चुम्बनों के बीच भी, एक क्षण के लिए भी तो मैंने कभी तन-मन की सुध बिसरा देनेवाली पुलक या मादकता का अनुभव नहीं किया।

सोचती हूँ, निशीथ के चले जाने के बाद मेरे जीवन में एक विराट शून्यता आ गयी थी, एक खोखलापन आ गया था, तुमने उसकी पूर्ति की। तुम पूरक थे, मैं ग़लती से तुम्हें प्रियतम समझ बैठी।

मुझे क्षमा कर दो संजय, और लौट जाओ! तुम्हें मुझ-जैसी अनेक दीपाएँ मिल जायेंगी, जो सचमुच ही तुम्हें प्रियतम की तरह प्यार करेंगी। आज एक बात अच्छी तरह जान गयी हूँ कि प्रथम प्रेम ही सच्चा प्रेम होता है, बाद में किया हुआ प्रेम तो अपने को भूलने का, भरमाने का प्रयास-मात्र होता है ...

इसी तरह की असंख्य बातें मेरे दिमाग़ में आती हैं, जो मैं संजय से कहूँगी। कह सकूँगी यह सब? लेकिन कहना तो होगा ही। उसके साथ अब एक दिन भी छल नहीं कर सकती। मन से किसी और की आराधना करके तन से उसकी होने का अभिनय करती रहूँ? छी:!

नहीं जानती, यही सब सोचते-सोचते मुझे कब नींद आ गयी। लौटकर अपना कमरा खोलती हूँ, सब-कुछ ज्यों का त्यों है, सिर्फ़ फूलदान के रजनीगन्धा मुरझा गये हैं। कुछ फूल झरकर जमीन पर इधर-उधर भी बिखर गये हैं।

आगे बढ़ती हूँ तो जमीन पर पड़ा एक लिफ़ाफ़ा दिखायी देता है। संजय की लिखाई है, खोला तो छोटा-सा पत्र था :

'दीपा,

तुमने तो कलकत्ता जाकर कोई सूचना नहीं दी। मैं आज ऑफ़िस के काम से

कटक जा रहा हूँ। पाँच-छः दिन में लौट आऊँगा। तब तक तुम आ ही जाओगी। जानने को उत्सुक हूँ कि कलकत्ता में क्या हुआ।

'तुम्हारा संजय'

एक लम्बा निःश्वास निकल जाता है। लगता है, एक बड़ा बोझ हट गया। इस अवधि में तो मैं अपने को अच्छी तरह तैयार कर लूँगी।

नहा-धोकर सबसे पहले मैं निशीथ को पत्र लिखती हूँ। उसकी उपस्थिति में जो हिचक मेरे होंठ बन्द किये हुए थी, दूर रहकर वह अपने-आप ही टूट जाती है। मैं स्पष्ट शब्दों में लिख देती हूँ कि चाहे उसने कुछ नहीं कहा, फिर भी मैं सब-कुछ समझ गयी हूँ साथ ही यह भी लिख देती हूँ कि मैं उसकी उस हरकत से बहुत दुखी थी, बहुत नाराज भी, पर उसे देखते ही जैसे सारा क्रोध बह गया। इस अपनत्व में क्रोध भला टिक भी कैसे पाता! लौटी हूँ, तब से न जाने कैसी रंगीनी और मादकता मेरी आँखों के आगे छायी है ···

एक खूबसूरत-से लिफाफे में उसे बन्द करके मैं स्वयं पोस्ट करने जाती हूँ।

रात में सोती हूँ तो अनायास ही मेरी नज़र सूने फूलदान पर जाती है। मैं करवट बदलकर सो जाती हूँ।

कानपुर!

आज निशीथ को पत्र लिखे चौथा दिन है। मैं तो कल ही उसके पत्र की राह देख रही थी, पर आज की भी दोनों डाकें निकल गयीं। जाने कैसा सूना-सूना, अनमना-अनमना लगता रहा सारा दिन। किसी भी तो काम में जी नहीं लगता। क्यों नहीं लौटती डाक से ही उत्तर दे दिया उसने? समझ नहीं आता कैसे समय गुजारूँ!

मैं बाहर बालकनी में जाकर खड़ी हो जाती हूँ। एकाएक ख्याल आता है, पिछले ढाई सालों से क़रीब इसी समय, यहीं खड़े होकर मैंने संजय की प्रतीक्षा की है। क्या आज भी मैं संजय की प्रतीक्षा कर रही हूँ? या मैं निशीथ के पत्र की प्रतीक्षा कर रही हूँ? शायद किसी की नहीं, क्योंकि जानती हूँ कि दोनों में से कोई भी नहीं आयेगा। फिर?

निरुद्देश्य-सी मैं कमरे में लौट पड़ती हूँ। शाम का समय मुझसे घर में नहीं काटा जाता। रोज ही तो संजय के साथ घूमने निकल जाती थी। लगता है, यहीं बैठी रही तो दम ही घुट जायेगा। कमरा बन्द करके मैं अपने को धकेलती-सी सड़क पर ले आती हूँ··· शाम का धुँधलका मन के बोझ को और भी बढ़ा देता है। कहाँ जाऊँ? लगता है जैसे मेरी राहें भटक गयी हैं, मंज़िल खो गयी है। मैं स्वयं नहीं जानती, आखिर मुझे जाना कहाँ है। फिर भी निरुद्देश्य-सी चलती रहती हूँ। पर आख़िर कब तक यों भटकती रहूँ! हारकर लौट पड़ती हूँ।

कमरे पर आते ही मेहता साहब की बच्ची तार का एक लिफ़ाफ़ा देती है। धड़कते दिल से मैं उसे खोलती हूँ। इरा का तार था:

'नियुक्ति हो गयी है। बधाई!'

इतनी बड़ी खुशख़बरी पाकर भी जाने क्या है कि मैं खुश नहीं हो पाती! यह ख़बर तो निशीथ भेजनेवाला था। एकाएक ही एक विचार मन में आता है, क्या जो-कुछ मैं सोच गयी, वह निरा भ्रम ही था, मात्र मेरी कल्पना, मेरा अनुमान! नहीं-नहीं! उस स्पर्श को मैं भ्रम कैसे मान लूँ, जिसने मेरे तन-मन को डुबो दिया था? जिसके द्वारा उसके हृदय की एक-एक परत मेरे सामने खुल गयी थी?··· लेक पर बिताये उन मधुर क्षणों को कैसे भ्रम मान लूँ, जहाँ उसका मौन ही मुखरित होकर सब-कुछ कह गया था? आत्मीयता के वे अनकहे क्षण! तो फिर उसने पत्र क्यों नहीं लिखा? क्या कल उसका पत्र आयेगा? क्या आज भी उसे वही हिचक रोके हुए है?

तभी सामने की घड़ी टन-टन करके नौ बजाती है। मैं उसे देखती हूँ। यह संजय की लायी हुई है··· लगता है, जैसे यह घड़ी घंटे सुना-सुनाकर मुझे संजय की याद दिला रही है। फरफराते ये हरे परदे, यह बुक-रैक, यह टेबल, यह फूलदान, सभी तो संजय के लाये हुए हैं। मेज़ पर रखा यह पेन उसने मुझे सालगिरह पर लाकर दिया था।

अपनी चेतना के इन बिखरे सूत्रों को समेटकर मैं फिर पढ़ने का प्रयास करती हूँ, पर पढ़ नहीं पाती। हारकर मैं पलंग पर लेट जाती हूँ।

सामने के फूलदान का सूनापन मेरे मन के सूनेपन को और अधिक बढ़ा देता है। मैं कसकर आँखें मूँद लेती हूँ··· एक बार फिर मेरी आँखों के आगे लेक का स्वच्छ, नीला जल उभर आता है, जिसमें छोटी-छोटी लहरें उठ रही थीं। उस जल की ओर देखते हुए निशीथ की आकृति उभरकर आती है। वह लाख जल की ओर देखे, पर चेहरे पर अंकित उसके मन की हलचल को मैं आज भी, इतनी दूर रहकर भी महसूस करती हूँ। कुछ न कह पाने की मज़बूरी, उसकी विवशता, उसकी घुटन आज भी मेरे सामने साकार हो उठती है। धीरे-धीरे लेक के पानी का विस्तार सिमटता जाता है, और एक छोटी-सी राइटिंग टेबल में बदल जाता है, और मैं देखती हूँ कि एक हाथ में पेन लिये और दूसरे हाथ ही अँगुलियों को बालों में उलझाये निशीथ बैठा है··· वही मज़बूरी, वही विवशता, वही घुटन लिये··· वह चाहता है, पर जैसे लिख नहीं पाता। वह कोशिश करता है, पर उसका हाथ बस काँपकर रह जाता है··· ओह! लगता है, उसकी घुटन मेरा दम घोंटकर रख देगी—मैं एकाएक ही आँखें खोल देती हूँ। वही फूलदान, वही परदे, वही मेज, वही घड़ी··· !

कानपुर!

आख़िर आज निशीथ का पत्र आ गया। धड़कते दिल से मैंने उसे खोला। इतना छोटा-सा पत्र!

'प्रिय दीपा,

तुम्हें अपनी नियुक्ति का तार तो मिल ही गया होगा। मैंने कल ही इराजी को फ़ोन करके सूचना दे दी थी, और उन्होंने बताया था कि वह तार दे देंगी। ऑफ़िस की ओर से भी सूचना मिल जायेगी।

इस सफलता के लिए मेरी ओर से हार्दिक बधाई स्वीकार करना। सच मैं बहुत खुश हूँ कि तुम्हें यह काम मिल गया! मेहनत सफल हो गयी।

शेष फिर।

शुभेच्छु,
निशीथ।

बस? धीरे-धीरे पत्र के सारे शब्द आँखों के आगे लुप्त हो जाते हैं, रह जाता है केवल 'शेष फिर'!

तो अभी उसके पास 'कुछ' लिखने को शेष है! क्यों नहीं लिख दिया उसने अभी? क्या लिखेगा वह? ···

"दीप!"

मैं मुड़कर दरवाज़े की ओर देखती हूँ। रजनीगन्धा के ढेर-सारे फूल लिये मुस्कराता-सा संजय खड़ा है। एक क्षण मैं संज्ञाशून्य-सी उसे इस तरह देखती हूँ, मानो पहचानने की कोशिश कर रही होऊँ। वह आगे बढ़ता है, तो मेरी खोयी चेतना लौटती है, और विक्षिप्त-सी दौड़कर मैं उससे लिपट जाती हूँ।

"क्या हो गया तुम्हें? पागल हो गयी हो क्या?"

"तुम कहाँ चले गये थे, संजय?" और मेरा स्वर टूट जाता है। अनायास ही आँखों से आँसू बह चलते हैं।

"क्या हो गया? कलकत्ता का काम नहीं मिला क्या? ··· मारो भी गोली काम को! तुम इतनी परेशान क्यों हो रही हो उसके लिए!"

पर मुझसे कुछ नहीं बोला जाता। बस, मेरी बाँहों की जकड़ कसती जाती है, कसती जाती है। रजनीगन्धा की महक धीरे-धीरे तन-मन पर छा जाती है। तभी मैं अपने भाल पर संजय के अधरों का स्पर्श महसूस करती हूँ, और मुझे लगता है, यह स्पर्श, यह सुख, यह क्षण ही सत्य है, वह सब झूठ था, मिथ्या था, भ्रम था ···

और हम दोनों एक-दूसरे के आलिंगन में बँधे रहते हैं–चुम्बित, प्रति-चुम्बित! □

# वापसी

**उषा प्रियंवदा**
(जन्म : सन् 1931 ई.)

गजाधर बाबू ने कमरे में जमा सामान पर एक नज़र दौड़ायी–दो बक्स, डोलची, बाल्टी–"यह डिब्बा कैसा है गनेशी?" उन्होंने पूछा। गनेशी बिस्तर बाँधता हुआ, कुछ गर्व, कुछ दुख, कुछ लज्जा से बोला, "घरवाली ने साथ को कुछ बेसन के लड्डू रख दिये हैं। कहा, बाबूजी को पसन्द थे, अब कहाँ हम ग़रीब लोग आपकी कुछ ख़ातिर कर पायेंगे।" घर जाने की खुशी में भी गजाधर बाबू ने एक विषाद का अनुभव किया, जैसे एक परिचित, स्नेह, आदरमय, सहज संसार से उनका नाता टूट रहा था।

"कभी-कभी हम लोगों की भी ख़बर लेते रहिएगा।" गनेशी बिस्तर में रस्सी बाँधता हुआ बोला।

"कभी कुछ ज़रूरत हो तो लिखना गनेशी। इस अगहन तक बिटिया की शादी कर दो।"

गनेशी ने अँगोछे के छोर से आँखें पोछीं, "अब आप लोग सहारा न देंगे, तो कौन देगा। आप यहाँ रहते तो शादी में कुछ हौसला रहता।"

गजाधर बाबू चलने को तैयार बैठे थे। रेलवे क्वार्टर का वह कमरा, जिसमें उन्होंने कितने वर्ष बिताये थे, उनका सामान हट जाने से कुरूप और नग्न लग रहा था। आँगन में रोपे पौधे भी जान-पहचान के लोग ले गये थे, और जगह-जगह मिट्टी बिखरी थी। पर पत्नी, बाल-बच्चों के साथ रहने की कल्पना में यह बिछोह एक दुर्बल लहर की तरह उठकर विलीन हो गया।

गजाधर बाबू खुश थे, बहुत खुश। पैंतीस साल की नौकरी के बाद वह रिटायर होकर जा रहे थे। इन वर्षों में अधिकांश समय उन्होंने अकेले रहकर काटा था। उन अकेले क्षणों में उन्होंने इसी समय की कल्पना की थी, जब वह अपने परिवार के साथ रह सकेंगे। इसी आशा के सहारे वह अपने अभाव का बोझ ढो रहे थे। संसार की दृष्टि में उनका जीवन सफ़ल कहा जा सकता था। उन्होंने शहर में एक मकान बनवा लिया था,

बड़े लड़के अमर और लड़की कान्ति की शादियाँ कर दी थीं, दो बच्चे ऊँची कक्षाओं में पढ़ रहे थे। गजाधर बाबू नौकरी के कारण प्रायः छोटे स्टेशनों पर रहे, और उनके बच्चे और पत्नी शहर में, जिससे पढ़ाई में बाधा न हो। गजाधर बाबू स्वभाव से बहुत स्नेही व्यक्ति थे और स्नेह के आकांक्षी भी। जब परिवार साथ था, ड्यूटी से लौटकर बच्चों से हँसते-बोलते, पत्नी से कुछ मनोविनोद करते—उन सबके चले जाने से उनके जीवन में गहन सूनापन भर उठा। खाली क्षणों में उनसे घर में टिका न जाता। कवि प्रकृति के न होने पर भी, उन्हें पत्नी की स्नेहपूर्ण बातें याद रहतीं। दोपहर में, गरमी होने पर भी, दो बजे तक आग जलाये रहती और उनके स्टेशन से वापस आने पर गरम-गरम रोटियाँ सेंकती—उनके खा चुकने और मना करने पर भी थोड़ा-सा कुछ और थाली में परोस देती, और बड़े प्यार से आग्रह करती। जब वह थके हारे बाहर से आते, तो उनका आहट पा वह रसोई के द्वार पर निकल आती, और उनकी सलज्ज आँखें मुस्करा उठतीं। गजाधर बाबू को तब, हर छोटी बात भी याद आती और वह उदास हो उठते··· अब कितने वर्षों बाद वह अवसर आया था जब वह फिर उसी स्नेह और आदर के मध्य रहने जा रहे थे।

टोपी उतारकर गजाधर बाबू ने चारपाई पर रख दी, जूते खोलकर नीचे खिसका दिये, अन्दर से रह-रहकर क़हक़हों की आवाज़ आ रही थी, इतवार का दिन था और उनके सब बच्चे इकट्ठे होकर नाश्ता कर रहे थे। गजाधर बाबू के सूखे चेहरे पर स्निग्ध मुस्कान आ गयी, उसी तरह मुस्कराते हुए, वह बिना खाँसे अन्दर चले आये। उन्होंने देखा कि नरेन्द्र कमर पर हाथ रखे शायद गत रात्रि की फ़िल्म में देखे गये किसी नृत्य की नक़ल कर रहा था, और बसन्ती हँस-हँसकर दुहरी हो रही थी। अमर की बहू को अपने तन-बदन, आँचल या घूँघट का कोई होश न था और वह उन्मुक्त रूप से हँस रही थी। गजाधर बाबू को देखते ही नरेन्द्र धप से बैठ गया और चाय का प्याला उठाकर मुँह से लगा लिया। बहू को होश आया और उसने झट से माथा ढक लिया, केवल बसन्ती का शरीर रह-रहकर हँसी दबाने के प्रयत्न में हिलता रहा।

गजाधर बाबू ने मुस्कराते हुए उन लोगों को देखा। फिर कहा, "क्यों नरेन्द्र, क्या नक़ल हो रही थी?" "कुछ नहीं बाबूजी।" नरेन्द्र ने सिटपिटाकर कहा। गजाधर बाबू ने चाहा था कि वह भी इस मनोविनोद में भाग लेते, पर उनके आते ही जैसे सब कुण्ठित हो चुप हो गये, उससे उनके मन में थोड़ी-सी खिन्नता उपज आयी। बैठते हुए बोले, "बसन्ती, चाय मुझे भी देना। तुम्हारी अम्मा की पूजा अभी चल रही है क्या?"

बसन्ती ने माँ की कोठरी की ओर देखा, "अभी आर्ता ही होंगी," और प्याले में उनके लिए चाय छानने लगी। बहू चुपचाप पहले ही चली गयी थी, अब नरेन्द्र भी चाय का आख़िरी घूँट पीकर उठ खड़ा हुआ, केवल बसन्ती, पिता के लिहाज़ में, चौके में बैठी माँ की राह देखने लगी। गजाधर बाबू ने एक घूँट चाय पी, फिर कहा, "बिट्टी-चाय तो फीकी है।"

"लाइए, चीनी और डाल दूँ।" बसन्ती बोली।

"रहने दो, तुम्हारी अम्मा जब आयेंगी, तभी पी लूँगा।"

थोड़ी देर में उनकी पत्नी हाथ में अर्घ्य का लोटा लिये निकलीं और अशुद्ध स्तुति कहते हुए तुलसी में डाल दिया। उन्हें देखते ही बसन्ती भी उठ गयी। पत्नी ने आकर गजाधर बाबू को देखा और कहा, "अरे, आप अकेले बैठे हैं–यह सब कहाँ गये?" गजाधर बाबू के मन में फाँस-सी करक उठी, "अपने-अपने काम में लग गये हैं–आख़िर बच्चे ही हैं।"

पत्नी आकर चौके में बैठ गयीं–उन्होंने नाक-भौं चढ़ाकर चारों ओर जूठे बरतनों को देखा। फिर कहा, "सारे में जूठे बरतन पड़े हैं। इस घर में धरम-करम कुछ नहीं। पूजा करके सीधे चौके में घुसो।" फिर उन्होंने नौकर को पुकारा, जब उत्तर न मिला तो एक बार और उच्च स्वर में, फिर पति की ओर देखकर बोलीं, "बहू ने भेजा होगा बाज़ार।" और एक लम्बी साँस लेकर चुप हो रहीं।

गजाधर बाबू बैठकर चाय और नाश्ते का इन्तज़ाम करते रहे। उन्हें अचानक ही गनेशी की याद आ गयी। रोज़ सुबह, पैसेंजर आने से पहले वह गर्म-गर्म पूरियाँ और जलेबी बनाता था। गजाधर बाबू जब तक उठकर तैयार होते, उनके लिए जलेबियाँ और चाय लाकर रख देता था। चाय भी कितनी बढ़िया, काँच के ग्लास में ऊपर तक भरी लबालब, पूरे ढाई चम्मच चीनी, और गाढ़ी मलाई। पैसेंजर भले ही रानीपुर लेट पहुँचे, गनेशी ने चाय पहुँचाने में कभी देर नहीं की। क्या मज़ाल कि कभी उससे कुछ कहना पड़े।

पत्नी का शिकायत-भरा स्वर सुन उनके विचारों में व्याघात पहुँचा। वह कह रही थीं, "सारा दिन इसी खिच-खिच में निकल जाता है। इसी गृहस्थी का धन्धा पीटते-पीटते उमर बीत गयी। कोई ज़रा हाथ भी नहीं बँटाता।"

"बहू क्या किया करती हैं?" गजाधर बाबू ने पूछा।

"पड़ी रहती हैं। बसन्ती को तो फिर कहो कि कॉलेज जाना होता है।"

गजाधर बाबू ने जोश में आकर बसन्ती को आवाज़ दी। बसन्ती भाभी के कमरे से निकली तो गजाधर बाबू ने कहा, "बसन्ती, आज से शाम का खाना बनाने की ज़िम्मेवारी तुम पर है। सुबह का भोजन तुम्हारी भाभी बनायेंगी।"

बसन्ती मुँह लटकाकर बोली, "बाबूजी, पढ़ना भी तो होता है।"

गजाधर बा[illegible] ने बड़े प्यार से समझाया, "तुम सुबह पढ़ लिया करो। तुम्हारी माँ बूढ़ी हुई, उनके शरीर [illegible] अब वह शक्ति नहीं बची है। तुम हो, तुम्हारी भाभी हैं, दोनों को मिलकर काम में हाथ बँटाना चाहिए।"

बसन्ती चुप रह गयी। उसके जाने के बाद, उसकी माँ ने धीरे से कहा, "पढ़ने का तो बहाना है। कभी जी ही नहीं लगता, लगे कैसे? शीला से ही फ़ुरसत नहीं, बड़े-बड़े लड़के हैं उस घर में, हर वक़्त वहाँ घुसा रहना, मुझे नहीं सुहाता। मना करूँ तो सुनती नहीं।"

नाश्ता कर, गजाधर बाबू बैठक में चले गये। घर छोटा था और ऐसी व्यवस्था हो चुकी थी कि उसमें गजाधर बाबू के रहने के लिए कोई स्थान न बचा था। जैसे किसी मेहमान के लिए कुछ अस्थायी प्रबन्ध कर दिया जाता है, उसी प्रकार बैठक में कुरसियों को दीवार से सटाकर बीच में गजाधर बाबू के लिए पतली-सी चारपाई डाल दी गयी थी–गजाधर बाबू उस कमरे में पड़े-पड़े कभी-कभी अनायास ही, इस अस्थायित्व का अनुभव करने लगते। उन्हें याद हो आती उन रेलगाड़ियों की, जो आतीं और थोड़ी देर रुककर किसी और लक्ष्य की ओर चली जातीं।

घर छोटा होने के कारण बैठक में ही अब अपना प्रबन्ध किया था। उनकी पत्नी के पास अन्दर एक छोटा कमरा अवश्य था, पर उसमें एक ओर अचारों के मर्तबान, दाल, चावल के कनस्टर और घी के डिब्बों से घिरा था–दूसरी ओर पुरानी रज़ाइयाँ, दरियों में लिपटी और रस्सी से बँधी रखी थीं, उसके पास एक बड़े से टीन के बक्स में घर-भर के गरम कपड़े थे। बीच में एक अलगनी बँधी हुई थी, जिस पर प्रायः बसन्ती के कपड़े, लापरवाही से पड़े रहते थे। वह भरसक उस कमरे में नहीं जाते थे। घर का दूसरा कमरा अमर और उसकी बहू के पास था, तीसरा कमरा, जो सामने की ओर था, बैठक था। गजाधर बाबू के आने से पहले उसमें अमर की ससुराल से आया बेंत की तीन कुरसियों का सेट पड़ा था, कुरसियों पर नीली गद्दियाँ और बहू के हाथों के कढ़े कुशन थे।

जब कभी उनकी पत्नी को कोई लम्बी शिकायत करनी होती, तो अपनी चटाई बैठक में डाल पड़ जाती थीं। तो वह एक दिन चटाई लेकर आ गयीं। गजाधर बाबू ने घर-गृहस्थी की बातें छेड़ीं, वह घर का रवैया देख रहे थे। बहुत हलके से उन्होंने कहा कि अब हाथ में पैसा कम रहेगा, कुछ खर्च कम होना चाहिए।

"सभी खर्च तो वाजिब-वाजिब हैं, किसका पेट काटूँ? यही जोड़-गाँठ करते-करते बूढ़ी हो गयी, न मन का पहना, न ओढ़ा।"

गजाधर बाबू ने आहत, विस्मित दृष्टि से पत्नी को देखा। उनसे अपनी हैसियत छिपी न थी। उनकी पत्नी तंगी का अनुभव कर उसका उल्लेख करतीं, यह स्वाभाविक था, लेकिन उनमें सहानुभूति का पूर्ण अभाव गजाधर बाबू को बहुत खटका। उनसे यदि राय-बात की जाती कि प्रबन्ध कैसे हो, तो उन्हें चिन्ता कम, सन्तोष अधिक होता। लेकिन उनसे तो केवल शिकायत की जाती थी जैसे परिवार की सब परेशानियों के लिए वही ज़िम्मेदार थे।

"तुम्हें किस बात की कमी है अमर की माँ–घर में बहू है, लड़के-बच्चे हैं, सिर्फ़ रुपये से ही आदमी अमीर नहीं होता।" गजाधर बाबू ने कहा और कहने के साथ ही अनुभव किया। यह उनकी आन्तरिक अभिव्यक्ति थी ऐसी कि उनकी पत्नी नहीं समझ सकतीं। "हाँ, बड़ा सुख है न बहू से। आज रसोई करने गयी है, देखो क्या होता है।" कहकर पत्नी ने आखें मूँदी, और सो गयी। गजाधर बाबू बैठे हुए पत्नी को देखते रह

गये। यही थी क्या उनकी पत्नी, जिसके हाथों के कोमल स्पर्श, जिसकी मुस्कान की याद में उन्होंने सम्पूर्ण जीवन काट दिया था? उन्हें लगा कि वह लावण्यमयी युवती जीवन की राह में कहीं खो गयी और उसकी जगह आज जो स्त्री है, वह उनके मन और प्राणों के लिए नितान्त अपरिचिता है। गाढ़ी नींद में डूबी उनकी पत्नी का भारी-सा शरीर बहुत बेडौल और कुरूप लग रहा था, चेहरा श्रीहीन और रूखा था। गजाधर बाबू देर तक निस्संग दृष्टि से पत्नी को देखते रहे और फिर लेटकर छत की ओर ताकने लगे।

अन्दर कुछ गिरा और उनकी पत्नी हड़बड़ाकर उठ बैठीं, "लो बिल्ली ने कुछ गिरा दिया शायद," और वह अन्दर भागीं, थोड़ी देर में लौटकर आयीं, तो उनका मुँह फूला हुआ था, "देखा बहू को, चौका खुला छोड़ आयी, बिल्ली ने दाल की पतीली गिरा दी। सभी तो खाने को हैं, अब क्या खिलाऊँगी?" वह साँस लेने को रुकीं और बोलीं, "एक तरकारी और चार पराठे बनाने में सारा डिब्बा घी उँड़ेलकर रख दिया। ज़रा-सा दर्द नहीं है, कमानेवाला हाड़ तोड़े और चीज़े लुटें। मुझे तो मालूम था कि यह सब काम, किसी के बस का नहीं है?"

गजाधर बाबू को लगा कि पत्नी कुछ और बोलेंगी तो उनके कान झनझना उठेंगे। ओठ भींच, करवट लेकर उन्होंने पत्नी की ओर पीठ कर ली।

रात का भोजन बसन्ती ने जान-बूझकर ऐसा बनाया था कि कौर तक निगला न जा सके। गजाधर बाबू चुपचाप उठ गये, पर नरेन्द्र थाली सरकाकर उठ खड़ा हुआ और बोला, "मैं ऐसा खाना नहीं खा सकता।"

बसन्ती तुनककर बोली, "तो न खाओ, कौन तुम्हारी खुशामद करता है।"

"तुमसे खाना बनाने को कहा किसने था?" नरेन्द्र चिल्लाया।

"बाबूजी को बैठे-बैठे यही सूझता है।"

बसन्ती को उठाकर माँ ने नरेन्द्र को मनाया और अपने हाथ से कुछ बनाकर खिलाया। गजाधर बाबू ने बाद में पत्नी से कहा, "इतनी बड़ी लड़की हो गयी और उसे खाना बनाने तक का शऊर नहीं आया।" "अरे आता सब कुछ है, करना नहीं चाहती।" पत्नी ने उत्तर दिया। अगली शाम माँ को रसोई में देख, कपड़े बदलकर बसन्ती बाहर आयी तो बैठक से गजाधर बाबू ने टोक दिया, "कहाँ जा रही हो?"

"पड़ोस में, शीला के घर।" बसन्ती ने कहा।

"कोई ज़रूरत नहीं है, अन्दर जाकर पढ़ो।" गजाधर बाबू ने कड़े स्वर में कहा। कुछ देर अनिश्चित खड़े रहकर बसन्ती अन्दर चली गयी। गजाधर बाबू शाम को रोज़ टहलने चले जाते थे, लौटकर आये तो पत्नी ने कहा, "क्या कह दिया बसन्ती से। शाम से मुँह लपेटे पड़ी है। खाना भी नहीं खाया।"

गजाधर बाबू खिन्न हो आये। पत्नी की बात का उन्होंने कुछ उत्तर नहीं दिया। उन्होंने मन में निश्चय कर लिया कि बसन्ती की शादी जल्दी ही कर देनी है। उस दिन बाद बसन्ती पिता से बची-बची रहने लगी। जाना होता तो पिछवाड़े से जाती। गजाधर बाबू

ने दो-एक बार पत्नी से पूछा तो उत्तर मिला, "रूठी हुई है।" गजाधर बाबू को और रोष हुआ। लड़की के इतने मिजाज़, जाने को रोक दिया तो पिता से बोलेगी नहीं। फिर उनकी पत्नी ने ही सूचना दी की अमर अलग रहने की सोच रहा है।

"क्यों?" गजाधर बाबू ने चकित हो र पूछा।

पत्नी ने साफ़-साफ़ उत्तर नहीं दिया। मर और उसकी बहू की शिकायतें बहुत थीं। उनका कहना था कि गजाधर बाबू हमेशा ठक में ही पड़े रहते हैं, कोई आने-जानेवाला हो तो कहीं बैठाने की जगह नहीं। अम को अब भी वह छोटा-सा समझते थे, और मौक़े-बेमौक़े टोक देते थे। बहू को काम करना पड़ता था और सास जब-तब फूहड़पन पर ताने देती रहती थीं। "हमारे आने के पहले भी कभी ऐसी बात हुई थी?" गजाधर बाबू ने पूछा। पत्नी ने सिर हिलाकर ताया कि नहीं। पहले अमर घर का मालिक बनकर रहता था-बहू को कोई रोक-टोक न थी, अमर के दोस्तों का प्रायः यहीं अड्डा जमा रहता था और अन्दर से नाश्ता-चाय तैयार होकर जाता रहता था। बसन्ती को भी वही अच्छा लगता था।

गजाधर बाबू ने बहुत धीरे से कहा, "अमर से कहो, जल्दबाजी की कोई ज़रूरत नहीं है।"

अगले दिन वह सुबह घूमकर लौटे तो उन्होंने पाया कि बैठक में उनकी चारपाई नहीं है। अन्दर आकर पूछनेवाले ही थे कि उ की दृष्टि रसोई के अन्दर बैठी पत्नी पर पड़ी। उन्होंने यह कहने को मुँह खोला कि बह कहाँ है; पर कुछ याद कर चुप हो गये। पत्नी की कोठरी में झाँका तो अचार, रज़ाइय और कनस्टरों के मध्य अपनी चारपाई लगी पायी। गजाधर बाबू ने कोट उतारा और कहीं टाँगने को दीवार पर नज़र दौड़ायी। फिर उसे मोड़कर अलगनी के कुछ कपड़े सकाकर, एक किनारे टाँग दिया। कुछ खाये बिना ही अपनी चारपाई पर लेट गये। कुछ भी हो, तन आख़िरकार बूढ़ा ही था। सुबह-शाम कुछ दूर टहलने अवश्य चले जाते, पर आते-आते थक उठते थे। गजाधर बाबू का अपना बड़ा-सा, खुला हुआ क्वार्टर याद आ गया। निश्चिन्त जीवन, सुबह पैसेंजर ट्रेन आने पर स्टेशन की चहल-पहल, चिरपरिचित चेहरे और पटरी पर रेल के पहियों की खट-खट जो उनके लिए मधुर संगीत की तरह था। तूफ़ान और डाक गाड़ी के इंजनों की चिग्घाड़ उनकी अकेली रातों की साथी थी। सेठ रामजीमल के मिल के कुछ लोग कभी-कभी पास आ बैठते, वही उनका दायरा था, वही उनके साथी। वह जीवन अब उन्हें एक खोयी निधि-सा प्रतीत हुआ। उन्हें लगा कि वह ज़िन्दगी द्वारा ठगे गये हैं। उन्होंने जो कुछ चाहा, उसमें से उन्हें एक बूँद भी न मिली।

लेटे हुए वह घर के अन्दर से आते विविध स्वरों को सुनते रहे। बहू और सास की छोटी-सी झड़प, बाल्टी पर खुले नल की आवाज़, रसोई के बरतनों की खटपट और उसी में दो गौरेयों का वार्तालाप-और अचानक ही उन्होंने निश्चय कर लिया कि अब घर की किसी बात में दखल न देंगे। यदि गृहस्वामी के लिए पूरे घर में एक चारपाई

की जगह यहीं है, तो यहीं पड़े रहेंगे, अगर कहीं और डाल दी गयी, तो वहाँ चले जायेंगे। यदि बच्चों के जीवन में उनके लिए कहीं स्थान नहीं, तो अपने ही घर में परदेशी की तरह पड़े रहेंगे ··· और उस दिन के बाद सचमुच गजाधर बाबू कुछ नहीं बोले। नरेन्द्र माँगने आया तो बिना कारण पूछे उसे रुपये दे दिये—बसन्ती काफ़ी अँधेरा हो जाने के बाद भी पड़ोस में रही तो भी उन्होंने कुछ नहीं कहा—पर उन्हें सबसे बड़ा ग़म यह था कि उनकी पत्नी ने भी उनमें कुछ परिवर्तन लक्ष्य नहीं किया। वह मन ही मन कितना भार ढो रहे है इससे वह अनजान ही बनी रहीं। बल्कि उन्हें पति के घर के मामले में हस्तक्षेप न करने के कारण शान्ति ही थी। कभी-कभी कह भी उठतीं, "ठीक ही है, आप बीच में न पड़ा कीजिए, बच्चे बड़े हो गये हैं, हमारा जो कर्तव्य था, कर रहे हैं। पढ़ा रहे हैं, शादी कर देंगे।"

गजाधर बाबू नं आहत दृष्टि से पत्नी को देखा। उन्होंने अनुभव किया कि वह पत्नी व बच्चों के लिए केवल धनोपार्जन के निमित्त मात्र है। जिस व्यक्ति के अस्तित्व से पत्नी माँग में सिन्दूर डालने की अधिकारिणी है, समाज में उसकी प्रतिष्ठा है। उसके सामने वह दो वक्त भोजन की थाली रख देने से सारे कर्तव्यों से छुट्टी पा जाती हैं। वह घी और चीनी के डिब्बों में इतनी रमी हुई हैं कि अब वही उनकी सम्पूर्ण दुनिया बन गयी है। गजाधर बाबू उनके जीवन के केन्द्र नहीं हो सकते, उन्हें तो अब उसकी शादी के लिए भी उत्साह बुझ गया। किसी बात में हस्तक्षेप न करने के लिए निश्चय के बाद भी उनका अस्तित्व उस वातावरण का एक भाग न बन सका। उनकी उपस्थिति उस घर में ऐसी असंगत लगने लगी थी, जैसे सजी हुई बैठक में उनकी चारपाई थी। उनकी सारी खुशी एक गहरी उदासीनता में डूब गयी।

इतने सब निश्चयों के बावजूद भी गजाधर बाबू एक दिन बीच में दखल दे बैठे। पत्नी स्वभावनुसार नौकर की शिकायत कर रही थीं, "कितना कामचोर है, बाज़ार की हर चीज़ में पैसा बनाता है, खाने बैठता है, तो खाता ही चला जाता है।" गजाधर बाबू को बराबर महसूस होता रहता था कि उनके घर का रहन-सहन और खर्च उनकी हैसियत से कहीं ज़्यादा है। पत्नी की बात सुनकर लगा कि नौकर का खर्च बिल्कुल बेकार है। छोटा-मोटा काम है, घर में तीन मर्द है, कोई न कोई कर ही देगा। उन्होंने उसी दिन नौकर का हिसाब कर दिया। अमर दफ़्तर से आया तो नौकर को पुकारने लगा। अमर की बहू बोली, "बाबूजी ने नौकर को छुड़ा दिया है।"

"क्यों?"

"कहते हैं ख्रर्च बहुत है।"

यह वार्तालाप बहुत सीधा-सा था, पर जिस टौन में बहू बोली, गजाधर बाबू को खटक गया। उस दिन जी भारी होने के कारण गजाधर बाबू टहलने नहीं गये थे। आलस्य में उठकर बत्ती भी नहीं जलायी—इस बात से बेख़बर नरेन्द्र माँ से कहने लगा, "अम्मा, तुम बाबूजी से कहती क्यों नहीं। बैठे-बिठाये कुछ नहीं तो नौकर ही छुड़ा दिया। अगर

बाबूजी यह समझें कि मैं साइकिल पर गेहूँ रख आटा पिसाने जाऊँगा तो मुझसे यह नहीं होगा।" "हाँ अम्मा"– बसन्ती का स्वर था, "मैं कॉलेज भी जाऊँ और लौटकर घर में झाड़ू भी लगाऊँ, यह मेरे बस की बात नहीं है।"

"बूढ़े आदमी हैं" अमर मुनमुनाया, "चुपचाप पड़े रहें। हर चीज़ में दख़ल क्यों देते हैं।" पत्नी ने बड़े व्यंग्य से कहा, "और कुछ नहीं सूझा तो तुम्हारी बहू को ही चौके में भेज दिया। वह गयी तो पन्द्रह दिन का राशन पाँच दिन में बनाकर रख दिया।" बहू कुछ कहे, इससे पहले वह चौके में घुस गयीं। कुछ देर में अपनी कोठरी में आयीं और बिजली जलायीं तो गजाधर बाबू को लेटे देख बड़ी सिटपिटायीं। गजाधर बाबू की मुखमुद्रा से वह उनके भावों का अनुमान न लगा सकीं। वह चुप, आँखें बन्द किये लेटे रहे।

गजाधर बाबू चिट्ठी हाथ में लिये अन्दर आये और पत्नी को पुकारा। वह भीगे हाथ लिये निकलीं और आँचल से पोंछती हुई आ खड़ी हुई। गजाधर बाबू ने बिना किसी भूमिका के कहा, "मुझे सेठ रामजीमल की चीनी-मिल में नौकरी मिल गयी है। खाली बैठे रहने से तो चार पैसे घर में आयें, वही अच्छा है। उन्होंने तो पहले ही कहा था, मैंने ही मना कर दिया था।" फिर कुछ रुककर, जैसे बुझी हुई आग में एक चिनगारी चमक उठे। उन्होंने धीमे स्वर में कहा, "मैंने सोचा था कि बरसों तुम सबसे अलग रहने के बाद, अवकाश पाकर परिवार के साथ रहूँगा। खैर, परसों जाना है। तुम भी चलोगी?"

"मैं?" पत्नी ने सकपकाकर कहा, "मैं चलूँगी तो यहाँ का क्या होगा? इतनी बड़ी गृहस्थी, फिर सयानी लड़की–"

बात बीच में काट गजाधर बाबू ने, हताश स्वर में कहा, "ठीक है, तुम यहीं रहो। मैंने तो ऐसे ही कहा था" और गहरे मौन में डूब गये।

नरेन्द्र ने बड़ी तत्परता से बिस्तर बाँधा और रिक्शा बुला लाया। गजाधर बाबू का टिन का बक्स और पतला-सा बिस्तर उसपर रख दिया गया। नाश्ते के लिए लड्डू और मठरी की डलिया हाथ में लिये गजाधर बाबू रिक्शे पर बैठ गये। एक दृष्टि उन्होंने अपने परिवार पर डाली और फिर दूसरी ओर देखने लगे और रिक्शा चल पड़ा। उनके जाने के बाद सब अन्दर लौट आये। बहू ने अमर से पूछा, "सिनेमा ले चलिएगा न?" बसन्ती ने उछलकर कहा, "भइया, हमें भी।"

गजाधर बाबू की पत्नी सीधे चौके में चली गयीं। बची हुई मठरियों को कटोरदान में रखकर अपने कमरे में लायीं और कनस्टरों के पास रख दिया, फिर बाहर आकर कहा, "अरे नरेन्द्र, बाबूजी की चारपाई कमरे से निकाल दे। उसमें चलने तक की जगह नहीं है।" □

# राजा निरबंसिया

## कमलेश्वर

(जन्म : सन् 1932 ई.)

"एक राजा निरबंसिया थे," माँ कहानी सुनाया करती थीं। उनके आसपास ही चार-पाँच बच्चे अपनी मुट्ठियों में फूल दबाए कहानी समाप्त होने पर गौरों पर चढ़ाने के लिए उत्सुक-से बैठ जाते थे। आटे का सुन्दर-सा चौक पुरा होता, उसी चौक पर मिट्टी का छह गौरें रखी जातीं, जिनमें से ऊपर वाली के बिंदिया और सिन्दूर लगता, बाकी पाँचों नीचे दबी पूजा ग्रहण करती रहतीं। एक ओर दीपक की बाती स्थिर-सी जलती रहती और मंगल-घट रखा रहता, जिस पर रोली से सथिया बनाया जाता। सभी बैठे बच्चों के मुख पर फूल चढ़ाने की उतावली की जगह कहानी सुनने की सहज स्थिरता उभर आती।

"एक राजा निरबंसिया थे," माँ सुनाया करती थीं, "उनके राज में बड़ी खुशहाली थी। सब वरण के लोग अपना-अपना काम-काज देखते थे। कोई दु:खी नहीं दिखाई पड़ता था। राजा के एक लक्ष्मी-सी रानी थी, चन्द्रमा-सी सुन्दर और ··· और राजा को बहुत प्यारी। राजा राज-काज देखते और सुख से रानी के साथ महल में रहते ··· "

मेरे सामने मेरे ख्यालों का राजा था, राजा जगपती। तब जगपती से मेरी दाँतकाटी दोस्ती थी, दोनों मिडिल स्कूल में पढ़ने जाते। दोनों एक-से घर के थे, इसलिए बराबरी की निभती थी। मैं मैट्रिक पास करके एक स्कूल में नौकर हो गया और जगपती क़स्बे के ही वकील के यहाँ मुहर्रिर। जिस साल जगपती मुहर्रिर हुआ, उसी वर्ष पास के गाँव में उसकी शादी हुई, पर ऐसी हुई कि लोगों ने तमाशा बना देना चाहा। लड़की वालों का कुछ विश्वास था कि शादी के बाद लड़की की बिदा नहीं होगी। ब्याहा हो जाएगा और सातवीं भाँवर तब पड़ेगी, जब पहली बिदा की सायत होगी और तभी लड़की अपनी ससुराल जाएगी। जगपती की पत्नी थोड़ी-बहुत पढ़ी-लिखी थी, पर घर की लीक को कौन मेटे! बारात बिना बहू के वापस आ गई और लड़के वालों ने तै कर लिया कि अब जगपती की शादी कहीं और कर दी जाएगी, चाहे कानी-लूली से हो, पर वह

लड़की अब घर में नहीं आएगी। लेकिन साल खत्म होते-होते सब ठीक-ठीक हो गया। लड़की वालों ने माफ़ी माँग ली और जगपती की पत्नी अपनी ससुराल आ ही गई।

जगपती को जैसे सब-कुछ मिल गया और सास ने बहू की बलइयाँ लेकर घर की चाभियाँ सौंप दीं, गृहस्थी का ढंग-चार समझा दिया। जगपती की माँ ने जाने कब से आस लगाए बैठी थीं। उन्होंने आराम की साँस ली। पूजा-पाठ में समय कटने लगा, दोपहरियाँ दूसरे घरों के आँगन में बीतने लगीं। पर साँस का रोग था उन्हें, सो एक दिन उन्होंने अपनी अन्तिम घड़ियाँ गिनते हुए चन्दा को पास बुलाकर समझाया था–"बेटा, जगपती बड़े लाड़-प्यार से पाला है। जब से तुम्हारे ससुर नहीं रहे, तब से इसके छोटे-छोटे हठ को पूरा करती रही हूँ··· अब तुम ध्यान रखना।" फिर रुककर उन्होंने कहा था, "जगपती किसी लायक हुआ है, तो रिश्तेदारों की आँखों में करकने लगा है। तुम्हारे बाप ने ब्याह के वक्त नादानी की, तुम्हें बिदा नहीं किया। मेरे दुश्मन देवर-जेठों को मौका मिल गया। तूमार खड़ा कर दिया कि अब बिदा करवाना नाक कटवाना है। ··· जगपती का ब्याह क्या हुआ, उन लोगों की छाती पर साँप लोट गया। सोचा, घर की इज्जत रखने की आड़ लेकर रंग में भंग कर दें। ··· अब बेटा, इस घर की लाज तुम्हारी लाज है। आज को तुम्हारे ससुर होते, तो भला··· " कहते-कहते माँ की आँखों में आँसू आ गए, और वह जगपती की देखभाल उसे सौंपकर सदा के लिए मौन हो गई थीं।

एक अरमान उनके साथ ही चला गया कि जगपती की सन्तान को, चार बरस इन्तज़ार करने के बाद भी वह गोद में न खिला पाईं। और चन्दा ने मन में सब्र कर लिया था, यही सोचकर कि कुल-देत्रता का अंश तो उसे जीवन-भर पूजने को मिल गया था। घर में चारों तरफ जैसे उदारता बिखरी रहती, अपनापा बरसता रहता। उसे लगता, जैसे घर की अँधेरी, एकान्त कोठरियों में वह शान्त शीतलता है जो उसे भरमा लेती है। घर की सब कुण्डियों की खनक उनके कानों में बस गई थी, हर दरवाजे की चरमराहट पहचान बन गई थी। ···

"एक रोज राजा आखेट को गए," माँ सुनाती थी, "राजा आखेट को जाते थे, तो सातवें रोज जरूर महल में लौट आते थे। पर उस दफा जब गये, तो सातवाँ दिन निकल गया, पर राजा नहीं लौटे। रानी को बड़ी चिन्ता हुई। रानी एक मन्त्री को साथ लेकर खोज में निकलीं ···"

और इसी बीच जगपती को रिश्तेदारों की एक शादी में जाना पड़ा। उसके दूर के रिश्ते के भाई दयाराम की शादी थी। कह गया था कि दसवें दिन जरूर वापस आ जाएगा। पर छठे दिन ही खबर मिली कि बारात घर लौटने पर दयाराम के घर डाका पड़ गया। किसी मुखबिर ने सारी खबरें पहुँचा दी थीं कि लड़की वालों ने दयाराम का घर सोने-चाँदी से पाट दिया है ··· आखिर पुश्तैनी जमींदार की इकलौती लड़की थी। घर आये मेहमान लगभग बिदा हो चुके थे। दूसरे रोज जगपती भी चलने वाला था। पर उसी

रात डाका पड़ा। जवान आदमी, भला खून मानता है। डाकेवालों ने जब बन्दूकें चलाईं, तो सबकी घिग्घी बँध गई। पर जगपती और दयाराम ने छाती ठोंककर लाठियाँ उठा लीं। घर में कुहराम मच गया। ··· फिर सन्नाटा छा गया। डाके वाले बराबर गोलियाँ दाग रहे थे। बाहर का दरवाजा टूट चुका था। पर जगपती ने हिम्मत बढ़ाते हुए हाँक लगाई, "ये हवाई बन्दूकें इन तेल पिलाई लाठियों का मुकाबला नहीं कर पाएँगी, जवानो!"

पर दरवाजे तड़-तड़ टूटते रहे और अन्त में एक गोली जगपती की जाँघ को पार करती निकल गई और दूसरी उसकी जाँघ के ऊपर कूल्हे में समाकर रह गई।

चन्दा रोती-कलपती और मनौतियाँ मानती जब वहाँ पहुँची, तो जगपती अस्पताल में था। दयाराम के थोड़ी चोट आई थी। उसे अस्पताल से छुट्टी मिल गई थी। जगपती की देखभाल के लिए वहीं अस्पताल में मरीजों के रिश्तेदारों के लिए जो कोठरियाँ बनी थीं, उन्हीं में चन्दा को रुकना पड़ा। कस्बे के अस्पताल से दयाराम का गाँव चार कोस पड़ता था। दूसरे-तीसरे दिन वहाँ से आदमी आते-जाते रहते, जिस सामान की जरूरत होती, पहुँचा जाते।

पर धीरे-धीरे उन लोगों ने भी खबर लेना छोड़ दिया। एक दिन में ठीक होने वाला घाव तो था नहीं। जाँघ की हड्डी चटख गई थी और कूल्हें में आपरेशन से छह इंच गहरा घाव हो गया था।

कस्बे का अस्पताल था। कम्पाउण्डर ही मरीजों की देखभाल रखते। बड़ा डॉक्टर तो नाम के लिए था या कस्बे के बड़े आदमियों के लिए। छोटे लोगों के लिए तो कम्पाउण्डर साहब ही ईश्वर के अवतार थे। मरीजों की देखभाल करनेवाले रिश्तेदारों की खाने-पीने की मुश्किलों से लेकर मरीज की नब्ज तक सँभालते थे। छोटी-सी इमारत में अस्पताल आबाद था। रोगियों के लिए सिर्फ छह-सात खाटें थीं। मरीजों के कमरे से लगा दवा बनाने का कमरा था, उसी में एक ओर एक आराम-कुरसी थी और एक नीची-सी मेज। उसी कुरसी पर बड़ा डॉक्टर आकर कभी-कभार बैठता, नहीं तो बचनसिंह कम्पाउण्डर ही जमे रहते। अस्पताल में या तो फौजदारी के शहीद आते या गिर-गिरा के हाथ-पैर तोड़ लेनेवाले एक-आध लोग। छटे-छमासे कोई औरत दिख गई, तो दिख गई, जैसे उन्हें कभी रोग घेरता ही नहीं था। कभी कोई बीमार पड़ती, तो घर वाले हाल बता के आठ-दस रोज की दवा एक साथ ले जाते और फिर उसके जीने-मरने की खबर तक न मिलती।

उस दिन बचनसिंह जगपती के घाव की पट्टी बदलने आया। उसके आने में और पट्टी खोलने में कुछ ऐसी लापरवाही थी, जैसे गलत बँधी पगड़ी को ठीक से बाँधने के लिए खोल रहा हो। चन्दा उसकी कुरसी के पास ही साँस रोके खड़ी थी। वह और रोगियों से बात भी करता जा रहा था। इधर मिनिट-भर को देखता, फिर जैसे अभ्यस्त-से उसके हाथ अपना काम करने लगते। पट्टी एक जगह खून से चिपक गई थी, जगपती बुरी तरह कराह उठा। चन्दा के मुँह से चीख निकल गई। बचनसिंह ने सतर्क होकर

देखा तो चन्दा मुँह में धोती का पल्ला खोंसे अपनी भयातुर आवाज दबाने की चेष्टा कर रही थी, जगपती एकबारगी मछली-सा तड़पकर रह गया। बचनसिंह की उँगलियाँ थोड़ी-सी थरथराईं कि उसकी बाँह पर टप से चन्दा का आसूँ चू पड़ा।

बचनसिंह सिहर-सा गया और उसके हाथों की अभ्यस्त निठुराई को जैसे किसी मानवीय कोमलता ने धीरे से छू दिया। आहों, कराहों, दर्द-भरी चीखों और चटखते शरीर के जिस वातावरण में रहते हुए भी वह बिल्कुल अलग रहता था, फोड़ों को पके आम-सा दाब देता था, खाल को आलू-सा छील देता था ··· उसके मन से जिस दर्द का अहसास उठ गया था, वह उसे आज फिर हुआ और बच्चे की तरह फूँक-फूँककर पट्टी को नम करके खोलने लगा। चन्दा की ओर धीरे से निगाह उठाकर देखते हुए फुसफुसाया, "च् ··· च् ··· रोगी की हिम्मत टूट जाती है ऐसे।"

पर जैसे यह कहते-कहते उसका मन खुद अपनी बात से उचट गया। यह बेपरवाही तो चीख और कराहों की एकरसता से उसे मिली थी, रोगी की हिम्मत बढ़ाने की कर्त्तव्य-निष्ठा से नहीं। जब तक वह घाव की मरहम-पट्टी करता रहा, तब तक किन्हीं दो आँखों की करुणा उसे घेरे रही।

और हाथ धोते समय वह चन्दा की उन चूड़ियों से भरी कलाइयों को बेझिझक देखता रहा, जो अपनी खुशी उससे माँग रही थीं। चन्दा पानी डालती जा रही थी और बचनसिंह हाथ धोते-धोते उसकी कलाइयों, हथेलियों और पैरों को देखता जा रहा था। दवाखाने की ओर जाते हुए उसने चन्दा को हाथ के इशारे से बुलाकर कहा, "दिल छोटा मत करना ··· जाँघ का घाव तो दस रोज में भर जाएगा। कूल्हे का घाव कुछ दिन जरूर लेगा। अच्छी-से-अच्छी दवाई दूँगा। दवाइयाँ तो ऐसी हैं कि मुरदे को चंगा कर दें, पर हमारे अस्पताल में नहीं आतीं, फिर भी ···"

"तो किसी दूसरे अस्पताल से नहीं आ सकतीं वो दवाइयाँ?" चन्दा ने पूछा।

"आ तो सकती हैं पर मरीज को अपना पैसा खर्च करना पड़ता है, उनमें ···" बचनसिंह ने कहा।

चन्दा चुप रह गई तो बचनसिंह के मुँह से अनायास ही निकल पड़ा, "किसी चीज की जरूरत हो तो मुझ से बताना। ··· रही दवाइयां, सो कहीं-न-कहीं इन्तजाम करके ला दूँगा। महकमे से मँगाएँगे, तो आते-अवाते महीनों लग जाएँगे। शहर के डॉक्टर से मँगवा दूँगा। ताकत की दवाइयों की बड़ी ज़रूरत है उन्हें। अच्छा, देखा जाएगा ··· " कहते-कहते वह रुक गया।

चन्दा ने कृतज्ञता-भरी नजरों से उसे देखा और उसे लगा आँधी में उड़ते पत्ते को कोई अटकाव मिल गया हो। आकर वह जगपती की खाट से लगकर बैठ गई। उसकी हथेली लेकर वह सहलाती रही। नाखूनों को अपने पोरों से दबाती रही।

धीरे-धीरे बाहर अँधेरा बढ़ चला। बचनसिंह तेल की एक लालटेन लाकर मरीजों के कमरे के एक कोने में रख गया। चन्दा ने जगपती की कलाई दाबते-दाबते धीरे से कहा,

"कम्पाउण्डर साहब कह रहे थे··· " और इतना कहकर वह जगपती का आकृष्ट करने के लिए चुप हो गई।

"क्या कह रहे थे?" जगपती अनमने स्वर में बोला।

"कुछ ताकत की दवाइयाँ तुम्हारे लिए जरूरी हैं!"

"मैं जानता हूँ।"

"पर···"

"देखो चन्दा, चादर के बराबर ही पैर फैलाए जा सकते हैं। हमारी औकात इन दवाइयों की नहीं है।"

"औकात आदमी की देखी जाती है कि पैसे की, तुम तो··"

"देखा जाएगा।"

"कम्पाउण्डर साहब इन्तजाम कर देंगे, उनसे कहूँगी मैं।"

"नहीं चन्दा, उधारखाते से मेरा इलाज नहीं होगा··· चाहे एक के चार दिन लग जाएँ।"

"इसमें तो···"

"तुम नहीं जानती, कर्ज कोढ़ का रोग होता है, एक बार लगने से तन तो गलता ही है, मन भी रोगी हो जाता है।"

"लेकिन··· " कहते-कहते वह रुक गई।

जगपती अपनी बात की टेक रखने के लिए दूसरी ओर मुँह घुमाकर लेट रहा।

और तीसरे रोज जगपती के सिरहाने कई ताकत की दवाइयाँ रखी थीं, और चन्दा की ठहरने वाली कोठरी में उसके लेटने के लिए एक खाट भी पहुँच गई थी। चन्दा जब आई, तो जगपती के चेहरे पर मानसिक पीड़ा की असंख्य रेखाएँ उभरी थीं, जैसे वह अपनी बीमारी से लड़ने के अलावा स्वयं अपनी आत्मा से भी लड़ रहा हो··· चन्दा की नादानी और स्नेह से भी उलझ रहा हो और सबसे ऊपर सहायता करनेवाले की दया से जूझ रहा हो।

चन्दा ने देखा तो जैसे वह यह सब सह न पाई। उसके जी मैं आया कि कह दे, क्या आज तक तुमने कभी किसी से उधार पैसे नहीं लिए? पर वह तो खुद तुमने लिए थे और तुम्हें मेरे सामने स्वीकार नहीं करना पड़ा था। इसीलिए लेते झिझक नहीं लगी, पर आज मेरे सामने उसे स्वीकार करते तुम्हारा झूठा पौरुष तिलमिलाकर जाग पड़ा है। पर जगपती के मुख पर बिखरी हुई पीड़ा में जिस आदर्श की गहराई थी, वह चन्दा के मन में चोर की तरह घुस गई, और बड़ी स्वाभाविकता से उसने उसके माथे पर हाथ फेरते हुए कहा, "ये दवाइयाँ किसी की मेहरबानी नहीं है, मैंने हाथ का कड़ा बेचने को दे दिया था। उसी से आई हैं।"

"मुझसे पूछा तक नहीं और···" जगपती ने कहा और जैसे खुद मन की कमजोरी को दाब गया–कड़ा बेचने से तो अच्छा था कि बचनसिंह की दया ही ओढ़ ली जाती।

और उसे हलका-सा पछतावा भी था कि नाहक वह रौ में बड़ी-बड़ी बातें कह जाता है, ज्ञानियों की तरह सीख दे देता है।

और जब चन्दा अँधेरा होते उठकर अपनी कोठरी में सोने के लिए जाने को हुई, तो कहते-कहते यह बात दबा गई कि बचनसिंह ने उसके लिए एक खाट का इन्तजाम भी करा दिया है। कमरे से निकली, तो सीधी कोठरी में गई और हाथ का कड़ा लेकर सीधे दवाखाने की ओर चली गई, जहाँ बचनसिंह डॉक्टर की कुरसी पर आराम से टाँगे फैलाए लैम्प की पीली रोशनी में लेटा था। जगपती का व्यवहार चन्दा को लग गया था, और यह भी कि वह क्यों बचनसिंह का एहसान अभी से लाद ले, पति के लिए जेबर की कितनी औकात है। वह बेधड़क-सी दवाखाने में घुस गई। दिन को पहचान के कारण उसे कमरे की मेज-कुरसी और दवाओं की अलमारी की स्थिति का अनुमान था, वैसे कमरा अँधेरा ही पड़ा था, क्योंकि लैम्प की रोशनी केवल अपने वृत्त में अधिक प्रकाशवान् होकर कोनों के अँधेरे को और घनीभूत कर रही थी। बचनसिंह न चन्दा को घुसते ही पहचान लिया। वह उठकर खड़ा हो गया। चन्दा ने भीतर कदम तो रख दिया, पर सहसा सहम गई, जैसे वह किसी अँधेरे कुएँ में अपने आप कूद पड़ी हो, ऐसा कुआँ, जो निरन्तर पतला होता गया है ··· और जिसमें पानी की गहराई पाताल की परतों तक चली गई हो, जिसमें पड़कर वह नीचे धँसती चली जा रही हो, नीचे ··· अँधेरा ··· एकान्त घुटन ··· पाप।

बचनसिंह अवाक् ताकता रह गया और चन्दा ऐसे वापस लौट पड़ी, जैसे किसी काले पिशाच के पंजों से मुक्ति मिली हो। बचनसिंह के सामने क्षण-भर में सारी परिस्थिति कौंध गई और उसने वहीं से बहुत संयत आवाज में जबान को दाबते हुए जैसे वायु में स्पष्ट ध्वनित करा दिया–'चन्दा।' वह आवाज इतनी बेआवाज थी और निर्रथक होते हुए भी इतनी सार्थक थी कि उस खामोशी में अर्थ भर गया।

चन्दा रुक गई।

बचनसिंह उसके पास जाकर रुक गया।

सामने का घना पेड़ स्तब्ध खड़ा था, उसकी काली परछाई की परिधि जैसे एक बार फैलकर उन्हें अपने वृत्त में समेट लेती और दूसरे ही क्षण मुक्त कर देती। दवाखाने का लैम्प सहसा भभककर रुक गया और मरीजों के कमरे में से एक कराह की आवाज दूर मैदान के छोर तक जाकर डूब गई।

चन्दा ने वैसे ही नीचे ताकते हुए अपने को संयत करते हुए कहा, "ये कड़ा तुम्हें देने आई थी।"

"तो वापस क्यों चली जा रही थीं?"

चन्दा चुप। और दो क्षण रुककर उसने अपने हाथ का सोने का कड़ा धीरे से उसकी ओर बढ़ा दिया, जैसे देने का साहस न होते हुए भी यह काम आवश्यक था।

बचनसिंह ने उसकी सारी काया को एक बार देखते हुए अपनी आँखें उसके सिर

पर जमा दीं, जिसके ऊपर पड़े कपड़े के पार नरम चिकनाई से भरे लम्बे-लम्बे बाल थे, जिनकी भाप-सी महक फैलती जा रही थी। वह धीरे से बोला, "लाओ।"

चन्दा ने कड़ा उसकी ओर बढ़ा दिया। कड़ा हाथ में लेकर वह बोला, "सुनो।"

चन्दा ने प्रश्न-भरी नजरें उसकी ओर उठा दीं।

उनमें झाँकते हुए, पर अपने हाथ से उसकी कलाई पकड़ते हुए उसने वह कड़ा उसकी कलाई में पहना दिया।

चन्दा चुपचाप कोठरी की ओर चल दी और बचनसिंह दवाखाने की ओर। कालिख बुरी तरह बढ़ गई थी और सामने खड़े पेड़ की काली परछाई गहरी पड़ गई थी। दोनों लौट गए थे। पर जैसे उस कालिख में कुछ रह गया था, छूट गया था। दवाखाने का लैम्प जो जलते-जलते एक बार भभका था, उसमें तेल न रह जाने के कारण बत्ती की लौ बीच से फट गई थी, उसके ऊपर धुएँ की लकीरें बल खातीं, साँप की तरह अँधेरे में विलीन हो जाती थीं।

सुबह जब चन्दा जगपती के पास पहुँची और बिस्तर ठीक करने लगी, तो जगपती को लगा कि चन्दा बहुत उदास थी। क्षण-क्षण में चन्दा के मुख पर अनगिनत भाव आ-जा रहे थे, जिनमें असमंजस था, पीड़ा थी और निरीहता। कोई अदृश्य पाप कर चुकने के बाद हृदय की गहराई से किए गए पश्चाताप-जैसी धूमिल चमक।···

"रानी मन्त्री के साथ जब निराश होकर लौटी, तो देखा, राजा महल में उपस्थित थे। उनकी खुशी का ठिकाना न रहा।" माँ सुनाया करती थीं, पर राजा को रानी का इस तरह मंत्री के साथ जाना अच्छा नहीं लगा। रानी ने राजा को समझाया कि वह तो केवल राजा के प्रति अटूट प्रेम के कारण अपने को न रोक सही। राजा-रानी एक-दूसरे को बहुत चाहते थे। पर दोनों के दिलों में एक बात शूल-सी गड़ती रहती कि उनके कोई सन्तान न थी··· राजवंश का दीपक बुझने जा रहा था। सन्तान के अभाव में उनका लोक-परलोक बिगड़ा जा रहा था और कुल की मर्यादा नष्ट होने की शंका बढ़ती जा रही थी।··· "

दूसरे दिन बचनसिंह ने मरीजों की मरहम-पट्टी करते वक्त बताया था कि उसका तबादला मैनपुरी के सदर अस्पताल में हो गया है और वह परसों यहाँ से चला जाएगा। जगपती ने सुना, तो उसे भला ही लगा।··· आए दिन रोग घेरे रहते हैं, बचनसिंह उसके शहर के अस्पताल में पहुँचा जा रहा है, तो कुछ मदद मिलती ही रहेगी। आखिर वह ठीक तो होगा ही और फिर मैनपुरी के सिवा कहाँ जाएगा? पर दूसरे ही क्षण उसका दिल अथक भारीपन से भर गया। पता नहीं, क्यों चन्दा के अस्तित्व का ध्यान आते ही उसे इस सूचना में कुछ ऐसे नुकीले काँटे दिखाई देने लगे, जो उसके शरीर में किसी भी समय चुभ सकते थे, जरा-सा बेखबर होने पर बींध सकते थे। और तब उसके सामने आदमी के अधिकार की लक्ष्मण-रेखाएँ धुएँ की लकीर की तरह काँपकर मिटने लगीं और मन में छिपे सन्देह के राक्षस बाना योगी के रूप में घूमने लगे।

और पन्द्रह-बीस रोज बाद जब जगपती की हालत सुधर गई, तो चन्दा उसे लेकर घर लौट आई। जगपती चलने-फिरने लायक हो गया। घर का ताला जब खोला, तब रात झुक आई थी। और फिर उनकी गली में तो शाम से ही अँधोरा भरना शुरू हो जाता था। पर गली में आते उन्हें लगा, जैसे कि बनवास काटकर राजधानी लौटे हों। नुक्कड़ पर ही जमना सुनार की कोठरी में सुरही फिंक रही थी, जिसके दराजदार दरवाजों से लालटेन की रोशनी की लकीर झाँक रही थी और कच्ची तम्बाकू का धुआँ रुँधी गली के मुहाने पर बुरी तरह भर गया था। सामने ही मुंशीजी अपनी ज़िंगला खटिया के गड्ढे में, कुप्पी के मद्धिम प्रकाश में खसरा-खतौनी बिछाए मीजान लगाने में मशगूल थे। जब जगपती के घर का दरवाजा खड़का, तो अँधेरे में उसकी चाची ने अपने जँगले से देखा और वहीं से बैठे-बैठे अपने घर के भीतर एलान कर दिया-"राजा निरबंसिया अस्पताल से लौट आए ··· कुलमा भी आई हैं।"

ये शब्द सुनकर घर के अंधेरे बरोठे में घुसते ही जगपती हाँफकर बैठ गया, झुँझलाकर चन्दा से बोला, "अँधेरे में क्या मेरे हाथ-पैर तुड़वाओगी, भीतर जाकर लालटेन जला लाओ न।"

"तेल नहीं होगा, इस वक्त जरा ऐसे ही काम ··· "

"तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा ··· न तेल न ··· " कहते-कहते जगपती एकदम चुप रह गया। और चन्दा को लगा कि आज पहली बार जगपती ने उसके व्यर्थ मातृत्व पर इतनी गहरी चोट कर दी, जिसकी गहराई की उसने कभी कल्पना भी नहीं की थी। दोनों खामोश, बिना एक बात किए अन्दर चले गए।

रात के बढ़ते सन्नाटे में दोनों के सामने दो बातें थीं ···

जगपती के कान में जैसे कोई व्यंग्य से कह रहा था-राजा निरबंसिया अस्पताल से आ गए।

और चन्दा के दिल से वह बात चुभ रही थी-तुम्हारे कभी कुछ नहीं होगा ···

और सिसकती-सिसकती चन्दा न जाने कब सो गई। पर जगपती की आँखों में नींद न आई। खाट पर पड़े-पड़े उसके चारों ओर एक मोहक, भयावना-सा जाल फैल गया। लेटे-लेटे उसे लगा, जैसे उसका स्वयं का आकार बहुत क्षीण होता-होता बिन्दु-सा रह गया, पर बिन्दु के हाथ थे, पैर थे और दिल की धड़कन भी। कोठरी का घुटा-घुटा-सा अँधियारा, मटमैली दीवारें और गहन गुफाओं-सी अलमारियाँ, जिनमें से बार-बार कोई झाँककर देखता था ··· और वह सिहर उठता था ··· फिर जैसे सब कुछ तबदील हो गया हो। ··· उसे लगा कि उसका आकार बढ़ता जा रहा है, बढ़ता जा रहा है। वह मनुष्य हुआ, लम्बा-तगड़ा तन्दुरुस्त पुरुष हुआ, उसकी शिराओं में कुछ फूट पड़ने के लिए व्याकुलता से खौल उठा। उसके हाथ शरीर के अनुपात से बहुत बड़े, डरावने और भयानक हो गए, उनमें लम्बे-लम्बे नाखून निकल आए ··· वह राक्षस हुआ, दैत्य ··· आदिम बर्बर।

और बड़ी तेजी से सारा कमरा एकबारगी चक्कर काट गया··· । फिर सब धीरे-धीरे स्थिर होने लगा और उसकी साँसें ठीक होती जान पड़ीं। फिर जैसे बहुत कोशिश करने पर घिग्घी बँध जाने के बाद उसकी आवाज फूटी, "चन्दा।"

चन्दा की नरम साँसों की हलकी सरसराहट कमरे में जान डालने लगी। जगपती अपनी पाटी का सहारा लेकर झुका। काँपते पैर उसने जमीन पर रखे और चन्दा की खाट के पाए से सिर टिकाकर बैठ गया। उसे लगा, जैसे चन्दा की इन साँसों की आवाज ··· में जीवन का संगीत गूँज रहा है। वह उठा और चन्दा के मुख पर झुक गया। ··· उस अँधेरे में आँखे गड़ाए-गड़ाए जैसे बहुत देर बाद स्वयं चन्दा के मुख पर आभा फूटकर अपने-आप बिखरने लगी ··· उसके नक्श उज्ज्वल हो उठे और जगपती की आँखों को ज्योति मिल गई। वह मुग्ध-सा ताकता रहा।

चन्दा के बिखरे बाल, जिनमें हाल के जनमे बच्चे के गबुआरे बालों की-सी महक ·· दूध की कचआइंध ··· शरीर के रस की-सी मिठास और स्नेह-सी चिकनाहट और वह माथा जिस पर बालों के पास तमाम छोटे-छोटे, नरम-नरम-से रोएँ ··· रेशम से ··· और उस पर कभी लगाई गई सेंदुर की बिन्दी का हलका मिटा हुआ-सा आभास ··· नन्हें-नन्हें निर्द्वन्द्व सोए पलक। और उनकी मासूम-सी काँटों की तरह बरौनियाँ और साँस में घुलकर आती हुई वह आत्मा की निष्कपट आवाज की लय ··· फूल की पंखुरी-से पतले-पतले होंठ, उन पर पड़ी रेखाएँ, जिनमें दूध-सी महक।

उसकी आँखों के सामने ममता-सी छा गई, केवल ममता, और उसके मुख से अस्फुट शब्द निकल गया, "बच्ची।"

डरते-डरते उसके बालों की एक लट को बड़े जतन से उसने हथेली पर रखा और उँगली से उस पर लकीरें खींचने लगा। उसे लगा, जैसे कोई शिशु उसके अंक में आने के लिए छटपटाकर निराश होकर सो गया हो। उसने दोनों हथेलियों को पसारकर उसके सिर को अपनी सीमा में भर लेना चाहा कि कोई कठोर चीज उसकी उँगलियों से टकराई।

वह जैसे होश में आया हो।

बड़े सहारे से उसने चन्दा के सिर के नीचे टटोला। एक रूमाल में बँधा कुछ उसके हाथ में आ गया। अपने को संयत करता वहीं जमीन पर बैठ गया, उसी अँधेरे में उस रूमाल को खोला, तो जैसे साँप सूँघ गया, चन्दा के हाथ के दोनों सोने के कड़े उसमें लिपटे थे।

और तब उसके सामने सब सृष्टि धीरे-धीरे टुकड़े होकर बिखरने लगी। 'ये कड़े तो चन्दा बेचकर उसका इलाज कर रही थी। वे सब दवाइयाँ और ताकत के टॉनिक ··· उसने तो कहा था, ये दवाइयाँ किसी की मेहरबानी नहीं हैं, मैंने हाथ के कड़े बेचने को दिए थे ··· पर ··· । उसका गला बुरी तरह सूख गया। जबान जैसे तालू से चिपककर रह गई। उसने चाहा कि चन्दा को झकझोर कर उठाए, पर शरीर की शक्ति बह-सी गई थी, रक्त पानी हो गया था।

थोड़ा संयत हुआ, उसने वह कड़े उसी रूमाल में लपेटकर उसकी खाट के कोने पर रख दिए और बड़ी मुश्किल से अपनी खाट की पाटी पकड़कर लुढ़क गया।

'चन्दा झूठ बोली। पर क्यों? कड़े आज तक छिपाए रही। उसने इतना बड़ा दुराव क्यों किया? आखिर क्यों? किसलिए?' और जगपती का दिल भारी हो आया। उसे फिर लगा कि उसका शरीर सिमटता जा रहा है और वह एक सींक का बना ढाँचा रह गया ··· नितान्त हलका, हवा में उड़कर भटकने वाले तिनके-सा।

उस रात के बाद रोज जगपती सोचता रहा कि चन्दा से कड़े माँगकर बेच ले और कोई छोटा-मोटा कारोबार ही शुरू कर दे, क्योंकि नौकरी छूट चुकी थी। इतने दिन की गैरहाजिरी के बाद वकील साहब ने दूसरा मुहर्रिर रख लिया था। वह रोज यही सोचता। पर जब चन्दा सामने आती, तो न जाने कैसी असहाय-सी उसकी अवस्था हो जाती। उसे लगता, जैसे कड़े माँगकर वह चन्दा से पत्नीत्व का पद भी छीन लेगा। मातृत्व तो भगवान् ने छीन ही लिया ··· वह सोचता, आखिर चन्दा क्या रह जाएगी? एक स्त्री से यदि पत्नीत्व और मातृत्व छीन लिया गया, तो उसके जीवन की सार्थकता ही क्या? चन्दा के साथ वह यह अन्याय कैसे करे? उससे दूसरी आँख की रोशनी कैसे माँग ले? फिर तो वह नितान्त अन्धी हो जाएगी। और उन कड़ों को माँगने के पीछे जिस इतिहास की आत्मा नंगी हो जाएगी, कैसे वह उस लज्जा को स्वयं ही उघार कर ढाँपेगा?

और वह इन्हीं ख्यालों में डूबा सुबह से शाम तक इधर-उधर काम की टोह में घूमता रहता। किसी से उधार ले ले? पर किस सम्पत्ति पर? क्या है उसके पास, जिसके आधार पर कोई उसे कुछ देगा? और मुहल्ले के लोग ··· जो एक-एक पाई पर जान देते हैं, कोई चीज खरीदते वक्त भाव में एक पैसा कम मिलने पर मीलों पैदल जाकर एक पैसा बचाते हैं। एक-एक पैसे की मसाले की पुड़िया बँधवा कर ग्यारह बार पैसों का हिसाब जोड़कर एक-आध पैसा उधारकर, मिन्नतें करते सौदा घर लाते हैं। गली में कोई खोंचनेवाला फंस गया, तो दो पैसे की चीज को लड़-झगड़कर–चार दाने ज्यादा पाने की नीयत से–दो जगह बँधवाते हैं। भाव के जरा से फर्क पर घंटों बहस करते हैं। शाम को सड़ी-गली तरकारियों को किफायत के कारण लाते हैं, ऐसे लोगों से किस मुँह से माँग कर वह उनकी गरीबी के अहसास पर ठोकर लगाए।

पर उस दिन शाम को जब वह घर पहुँचा, तो बरोठे में ही एक साइकल रखी नजर आई। दिमाग पर जोर डालने के बाद भी वह आगन्तुक की कल्पना न कर पाया। पर जब भीतर वाले दरवाजे पर पहुँचा, तो सहसा हँसी की आवाज सुनकर ठिठक गया। उस हँसी में एक अजीब-सा उन्माद था। और उसके बाद चन्दा का स्वर–

"अब आते ही होंगे, बैठिए न दो मिनट और। ··· अपनी आँख से देख लीजिए और उन्हें समझाते जाइए कि अभी तन्दुरुस्ती इस लायक नहीं, जो दिन-दिन-भर घूमना बरदाश्त कर सके।"

"हाँ ··· भई, कमजोरी इतनी जल्दी नहीं मिट सकती, ख्याल नहीं करेंगे, तो नुकसान

उठाएँगे।" कोई पुरुष स्वर था यह।

जगपती असमंजस में पड़ गया। वह एकदम भीतर घुस जाए? इसमें क्या हर्ज है? पर जब उसने पैर उठाए, तो वे बाहर को जा रहे थे। बाहर बरोठे में साइकिल को पकड़ते ही उसे सूझ आई, वहीं से जैसे अनजान बनता बड़े प्रयत्न से आवाज को खोलता चिल्लाया, "अरे चन्दा। यह साइकिल किसकी है? कौन मेहरबान ··· "

चन्दा उसकी आवाज सुनकर कमरे से बाहर निकलकर जैसे खुशखबरी सुना रही थी, "अपने कम्पाउण्डर साहब आए हैं, खोजते-खोजते आज घर का पता पाए हैं, तुम्हारे इन्तजार में बैठे हैं।"

"कौन बचनसिंह?··· अच्छा, अच्छा··· । वही तो मैं कहूँ भला कौन··· "–कहता जगपती पास पहुँचा। और बातों में इस तरह उलझ गया, जैसे सारी परिस्थिति उसने स्वीकार कर ली हो।

बचनसिंह जब फिर आने की बात कहकर चला गया, तो चन्दा ने बहुत अपनेपन से जगपती के सामने बात शुरू की, "जाने कैसे-कैसे आदमी होते हैं···"

"क्यों, क्या हुआ? कैसे होते हैं आदमी?"–जगपती ने पूछा।

"इतनी छोटी जान-पहचान में तुम मरदों के घर में न रहते घुसकर बैठ सकते हो? तुम तो उलटे पैरों लोट आओगे।"–चन्दा कहकर जगपती के मुख पर कुछ इच्छित प्रतिक्रिया देख सकने के लिए गहरी निगाहों से ताकने लगी।

जगपती ने चन्दा की ओर ऐसे देखा, जैसे यह बात भी कहने की या पूछने की है। फिर बोला, "बचनसिंह अपनी तरह का आदमी है, अपनी तरह का अकेला··· "

"होगा··· पर" कहते-कहते चन्दा रुक गई।

"आड़े वक्त काम आने वाला आदमी है, लेकिन उससे फायदा उठा सकना जितना आसान है··· उतना··· मेरा मतलब है कि··· जिससे कुछ लिया जाएगा, उसे दिया भी तो जाएगा।" जगपती ने आँखें दीवार पर गड़ाते हुए कहा।

और चन्दा उठकर चली गई।

उस दिन के बाद बचनसिंह लगभग रोज ही आने-जाने लगा। जगपती उसके साथ इधर-उधर घूमता भी रहता। बचनसिंह के साथ वह जब तक रहता, अजीब-सी घुटन उसके दिल को बाँध लेती, और तभी जीवन की तमाम विषमताएँ भी उसकी निगाहों के सामने उभरने लगतीं, आखिर वह स्वयं एक आदमी है··· बेकार··· यह माना कि उसके सामने पेट पालने की कोई इतनी विकराल समस्या नहीं, वह भूखों नहीं मर रहा है, जाड़े में काँप नहीं रहा है, पर उसके दो-हाथ पैर हैं··· शरीर का पिंजरा है जो कुछ माँगता है··· कुछ। और वह सोचता, यह कुछ क्या है? सुख? शायद हाँ, शायद नहीं। वह तो दुःख में भी जी सकने का आदी है, अभावों में जीवित रह सकने वाला आश्चर्यजनक कीड़ा है। तो फिर··· वासना? शायद हाँ, शायद नहीं। चन्दा का शरीर लेकर उसने उस क्षणिकता को भी देखा है। तो फिर धन?··· शायद हाँ, शायद नहीं।

उसने धन के लिए अपने को खपाया है। पर वह भी तो उस अदृश्य प्यास को बुझा नहीं पाया। तो फिर? ··· तो फिर क्या? ··· वह कुछ क्या है, जो उसकी आत्मा में नासूर-सा रिसता रहता है, अपना उपचार माँगता है? शायद काम। हाँ, यही, बिल्कुल यही, जो उसके जीवन की घड़ियों को निपट सूना न छोड़े, जिसमें वह अपनी शक्ति लगा सके, अपना मन डुबो सके, अपने को सार्थक अनुभव कर सके, चाहे उसमें सुख हो या दुःख, अरक्षा हो या सुरक्षा, शोषण हो या पोषण ··· उसे सिर्फ काम चाहिए। करने के लिए कुछ चाहिए। यही तो उसकी प्रकृत आवश्यकता है, पहली और आखिरी माँग है, क्योंकि वह उस घर में नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ जबान हिलाकर शासन करने वाले होते हैं। वह उस घर में भी नहीं पैदा हुआ, जहाँ सिर्फ माँगकर जीनेवाले होते हैं। वह उस घर का है, जो सिर्फ काम करना जानता है, काम ही जिसकी आस है। वह सिर्फ काम चाहता है, काम। ···

और एक दिन उसकी काम-धाम की समस्या भी हल हो गई। तालाब वाले ऊँचे मैदान के दक्षिण ओर जगपती की लकड़ी की टाल खुल गई। नामपट तक टँग गया। टाल की जमीन पर लक्ष्मी-पूजन भी हो गया और हवन भी हुआ। लकड़ी की कोई कमी नहीं थी। गाँवों से आने वाली गाड़ियों का, इस कारोबार में पैरे हुए आदमियों की मदद से मोल-तोल करवा के वहाँ गिरवा दिया गया। गाँठें एक ओर रखी गईं, चैलों का चट्टा करीने से लग गया और गुद्दे चीरने के लिए डाल दिए गए। दो-तीन गाड़ियों का सौदा करके टाल चालू कर दी गई। भविष्य में स्वयं पेड़ खरीदकर कटाने का तय किया गया। बड़ी-बड़ी स्कीमें बनीं कि किस तरह जलाने की लकड़ी से बढ़ाते-बढ़ाते एक दिन इमारती लकड़ी की कोठी बनेगी। चीरने की नई मशीन लगेगी। कारोबार बढ़ जाने पर बचनसिंह भी नौकरी छोड़कर उसी में लग जाएगा। और उसने महसूस किया कि वह काम में लग गया है, अब चौबीसों घण्टे उसके सामने काम है ··· उसके समय का उपयोग है। दिन-भर में वह एक घण्टे के लिए किसी का मित्र हो सकता है, कुछ देर के लिए वह पति हो सकता है, पर बाकी समय? दिन और रात के बाकी घण्टे ··· उन घण्टों के अभाव को सिर्फ उसका अपना काम ही भर सकता है ··· और अब वह कामदार था ···

वह कामदार तो था, लेकिन जब टाल की उस ऊँची जमीन पर पड़े छप्पर के नीचे तख़्त पर वह गल्ला रखकर बैठता, सामने लगे लकड़ियों के ढेर, कटे हुए पेड़ों के तने, जड़ों को लुढ़का हुआ देखता, तो एक निरीहता बरबस उसके दिल को बाँधने लगती। उसे लगता, एक ब्रह्म पिशाच का शरीर टुकड़े-टुकड़े करके उसके सामने डाल दिया गया है। ··· फिर इन पर और कुल्हाड़ी चलेगी और इनके रेशे-रेशे अलग हो जाएँगे और तब इनकी ठठरियों को सुखाकर किसी पैसेवाले के हाथ तौलकर बेच दिया जाएगा।

और तब उसकी निगाहें सामने खड़े ताड़ पर अटक जातीं, जिसके बड़े-बड़े पत्तों पर सुर्ख गरदन वाले गिद्ध पर फड़फड़ाकर देर तक खामोश बैठे रहते। ताड़ का काला

गड़रेदार तना और उसके सामने ठहरी हुई वायु में निस्सहाय काँपती, भारहीन नीम की पत्तियाँ चकराती झड़ती रहती ··· धूल-भरी धरती पर लकड़ी की गाड़ियों के पहियों की पड़ी हुई लीक धुँधली-सी चमक उठती और बगलवाले मूँगफली के पेंच की एकरस खरखराती आवाज कानों में भरने लगती। बगलवाली कच्ची पगडण्डी से कोई गुजरकर, टीले के ढलान से तालाब की नीचाई में उतर जाता, जिसके गँदले पानी में कूड़ा तैरता रहता और सुअर कीचड़ में मुँह डालकर उस कूड़े को रौंदते रहते ···

दोपहर सिमटती और शाम की धुन्ध छाने लगती, तो वह लालटेन जलाकर छप्पर के खम्बे की कील में टाँग देता और उसके थोड़ी ही देर बाद अस्पताल वाली सड़क से बचनसिंह एक काले धब्बे की तरह आता दिखाई पड़ता।

गहरे पड़ते अँधेरे में उसका आकार धीरे-धीरे बढ़ता जाता और जगपती के सामने जब वह आकर खड़ा होता, तो वह उसे बहुत विशाल-सा लगने लगता, जिसके सामने उसे अपना अस्तित्व डूबता महसूस होता।

एक-आध बिक्री की बातें होतीं और तब दोनों घर की ओर चल देते। घर पहुँचकर बचनसिंह कुछ देर जरूर रुकता, बैठता, इधर-उधर की बातें करता। कभी मौका पड़ जाता, तो जगपती और बचनसिंह की थाली भी साथ लग जाती। चन्दा सामने बैठकर दोनों को खिलाती।

बचनसिंह बोलता जाता, "क्या तरकारी बनी है। मसाला ऐसा पड़ा है कि उसकी भी बहार है और तरकारी का स्वाद भी नहीं मरा। होटलों में या तो मसाला ही मसाला रहेगा या सिर्फ तरकारी ही तरकारी। वाह! वाह! क्या बात है अन्दाज की।"

और चन्दा बीच-बीच में टोककर बोलती जाती, "इन्हें तो जब तक दाल में प्याज का भुना घी न मिले, तब तक पेट ही नहीं भरता।"

या-"सिरका अगर इन्हें मिल जाए, तो समझो, सब-कुछ मिल गया। पहले मुझे सिरका न जाने कैसा लगता था, पर अब ऐसा जबान पर चढ़ा है कि ··· "

या-"इन्हें कागज-सी पतली रोटी पसन्द ही नहीं आतीं अब मुझसे कोई पतली रोटी बनाने को कहे, तो बनती ही नहीं, आदत पड़ गई है, और फिर मन ही नहीं करता ··· "

पर चन्दा की आँखें बचनसिंह की थाली पर ही जमी रहतीं। रोटी निबटी, तो रोटी परोस दी। दाल खत्म नहीं हुई, तो भी एक चमचा और परोस दी।

और जगपती सिर झुकाए खाता रहता। सिर्फ एक गिलास पानी माँगता और चन्दा चौंककर पानी देने के पहले कहती, "अरे, तुमने तो कुछ लिया भी नहीं।"-कहते-कहते वह पानी दे देती और तब उसके दिल पर गहरी-सी चोट लगती, न जाने क्यों वह खामोशी की चोट उसे बड़ी पीड़ा दे जाती ··· पर वह अपने को समझा लेती, कोई मेहमान तो नहीं हैं ··· माँग सकते थे। भूख नहीं होगी।

जगपती खाना खाकर टाल पर लेटने चला जाता, क्योंकि अभी तक कोई चौकीदार नहीं मिला था। छप्पर के नीचे तख्त पर जब वह लेटता, तो अनायास ही उसका दिल

भर-भर आता। पता नहीं, कौन-कौन से दर्द एक-दूसरे से मिलकर तरह-तरह की टीस, चटख और ऐंठन पैदा करने लगते। कोई एक रग दुखती तो वह सहलाता भी, जब सभी नसें चटखतीं हों तो कहाँ-कहाँ राहत का अकेला हाथ सहलाए।

लेटे-लेटे उसकी निगाह ताड़ के उस ओर बनी पुख्ता कब्र पर जम जाती, जिसके सिरहाने कँटीला बबूल का एकाकी पेड़ सुन्न-सा खड़ा रहता। जिस कब्र पर एक परदानशीन औरत बड़े लिहाज से आकर सवेरे-सवेरे बेला और चमेली के फूल चढ़ा जाती ··· घूम-घूमकर उसके फेरे लेती और माथा टेककर कुछ कदम उदास-उदास-सी चलकर एकदम तेजी से मुड़कर बिसातियों के मुहल्ले में खो जाती। शाम होते फिर आती। एक दिया बारती और अगरु की बत्तियाँ जलाती। फिर मुड़ते हुए ओढ़नी का पल्ला कन्धों पर डालती, तो दिए की लौ काँपती, कभी काँपकर बुझ जाती, पर उसके कदम बढ़ चुके होते, पहले धीमे, थके, उदास-से और फिर तेज, सधे, सामान्य-से। और वह फिर उसी मुहल्ले में खो जाती और तब रात की तनहाइयों में ··· बबूल के काँटों के बीच, उस साँय-साँय करते ऊँचे-नीचे मैदान में जैसे उस कब्र से कोई रूह निकलकर निपट अकेली भटकती रहती। ···

तभी ताड़ पर बैठे सुर्ख गरदन वाले गिद्ध मनहूस-सी आवाज में किलबिला उठते और ताड़ के पत्ते भयानकता से खड़बड़ा उठते। जगपती का बदन काँप जाता और वह भटकती रूह जिन्दा रह सकने के लिए जैसे कब्र की ईंटों में, बबूल के साये-तले दुबक जाती। जगपती अपनी टाँगों को पेट से भींचकर, कम्बल में मुँह छिपा औंधा लेट जाता।

तड़के ही ठेके पर लगे लकड़हारे लकड़ी चीरने आ जाते तब जगपती कम्बल लपेट, घर की ओर चला जाता ···

"राजा रोज सवेरे टहलने जाते थे, "माँ सुनाया करती थीं, "एक दिन जैसे ही महल के बाहर निकलकर आए कि सड़क पर झाड़ू लगाने वाली मेहतरानी उन्हें देखते ही अपना झाड़ू-पंजा पटककर माथा पीटने लगी, और कहने गली, "हाय राम! आज राजा निरबंसिया का मुँह देखा है, न जाने रोटी भी नसीब होगी कि नहीं ··· न जाने कौन-सी बिपत टूट पड़े।" राजा को इतना दुःख हुआ कि उलटे पैरों महल को लौट गए। मन्त्री को हुकुम दिया कि मेहतरानी का घर नाज से भर दें। और सब राजसी वस्त्र उतार, राजा उसी क्षण जंगल की ओर चले गए। उसी रात रानी को सपना हुआ कि कल की रात तेरी मनोकामना पूरी करने वाली है। रानी बहुत पछता रही थी। पर फौरन ही रानी राजा को खोजती-खोजती उस सराय में पहुँच गई, जहाँ वह टिके हुए थे। रानी भेष बदलकर सेवा करने वाली भटियारिन बनकर राजा के पास रात में पहुँची। रात-भर उनके साथ रही और सुबह राजा के जागने से पहले सराय छोड़ महल में लौट गई। राजा सुबह उठकर दूसरे देश की ओर चले गए। दो ही दिनों में राजा के निकल जाने की खबर राज-भर में फैल गई, राजा निकल गए, चारों तरफ यही खबर थी ···"

और उस दिन टोले-मुहल्ले के हर आँगन में बरसात के मेंह की तरह यह खबर

बरसकर फैल गई कि चन्दा के बाल-बच्चा होने वाला है।

नुक्कड़ पर जमुना सुनार की कोठरी में फिकती सुरही रुक गई। मुंशीजी ने अपना मीजान लगाना छोड़ विस्फारित नेत्रों से ताककर खबर सुनी। बंसी किराने वाले ने कुएँ में आधी गई रस्सी खींच, डोल मन पर पटककर सुना। सुदर्शन दरजी ने मशीन के पहिए को हथेली से रगड़कर रोककर सुना। हंसराज पंजाबी ने अपनी नील लगी मलगुजी कमीज की आस्तीनें चढ़ाते हुए सुना। और जगपती की बेवा चाची ने औरतों को जमघट में बड़े विश्वास, पर भेद-भरे स्वर में सुनाया–"आज छह साल हो गए शादी को ··· न बाल, न बच्चा ··· न जाने किसका पाप है उसके पेट में। ··· और किसका होगा सिवा उस मुस्टण्डे कम्पोटर के। न जाने कहाँ से कुलच्छनी इस मुहल्ले में आ गई। ··· इस गली की तो पुश्तों से ऐसी मरजाद रही है कि गैर मरद औरत की परछाई तक नहीं देख पाए। यहाँ के मरद तो बस अपने घर की औरतों को जानते हैं। उन्हें तो पड़ोसी के घर की जनानों की गिनती तक नहीं मालूम।" यह कहते-कहते उनका चेहरा तमतमा आया और सब औरतें देवलोक की देवियों की तरह गम्भीर बनीं, अपनी पवित्रता की महानता के बोझ से दबी धीरे-धीरे खिसक गईं।

सुबह यह खबर फैलने से पहले जगपती टाल पर चला गया था। पर सुनी उसने भी आज ही थी। दिन-भर वह तख्त पर कोने की ओर मुँह किए पड़ा रहा। न ठेके की लकड़ियाँ चिरवाई न बिक्री की ओर ध्यान दिया, न दोपहर का खाना खाने ही घर गया। जब रात अच्छी तरह फैल गई तो वह एक हिंसक पशु की भाँति उठा। उसने अपनी उँगलियाँ चटकाई, मुट्ठी बाँधकर बाँह का जोर देखा, तो नसें तनीं और बाँह में कठोर कम्पन्न-सा हुआ। उसने तीन-चार पूरी साँसे खींचीं और मजबूत कदमों से घर की ओर चल पड़ा। मैदान खत्म हुआ ··· कंकड़ की सड़क आई ··· सड़क खत्म हुई, गली आई। पर गली के अँधेरे में घुसते ही वह सहम गया, जैसे किसी ने अदृश्य हाथों से उसे पकड़कर सारा रक्त निचोड़ लिया, उसकी फटी हुई शक्ति की नस पर हिम-शीतल होंठ रखकर सारा रस चूस लिया। और गली के अँधेरे की हिकारत-भरी कालिख और भी भारी हो गई। जिसमें घुसने से उसकी साँस रुक जाएगी ··· घुट जाएगी।

वह पीछे मुड़ा, पर रुक गया। फिर कुछ संयत होकर वह चोरों की तरह निःशब्द कदमों से किसी तरह घर की भीतरी देहरी तक पहुँच गया।

दाईं ओर की रसोई वाली दहलीज में कुप्पी टिमटिमा रही थी और चन्दा अस्तव्यस्त-सी दीवार से सिर टेके शायद आसमान निहारते-निहारते सो गई थी। कुप्पी का प्रकाश उसके आधे चेहरे को उजागर किए था और आधा चेहरा गहन कालिमा में डूबा अदृश्य था।

वह खामोशी से खड़ा ताकता रहा। चन्दा के चेहरे पर नारीत्व की प्रौढ़ता आज उसे दिखाई दी। चेहरे की सारी कमनीयता न जाने कहाँ खो गई थी, उसका अछूतापन न जाने कहाँ लुप्त हो गया था। फूला-फूला मुख। जैसे टहनी से तोड़े फूल को पानी में डालकर ताजा किया गया हो, जिसकी पंखुरियों में टूटन की सुरमई रेखाएँ पड़ गई हों,

पर भीगने से भारीपन आ गया हो।

उसके खुले पैर पर उसकी निगाह पड़ी, तो सूजा-सा लगा। एड़ियाँ भरी, सूजी-सी और नाखूनों के पास अजब-सा सूखापन। जगपती का दिल एक बार मसोस उठा। उसने चाहा कि बढ़कर उसे उठा ले। अपने हाथों से उसका पूरा शरीर छू-छूकर सारा कलुष पोंछ दे, अपनी साँसों की अग्नि में तपाकर एक बार फिर उसे पवित्र कर ले। और उसकी आँखों की गहराई में झाँककर कहे—देवलोक से किस शापवश निर्वासित हो तुम इधर आ गई, चन्दा? यह शाप तो अमिट था।

तभी चन्दा ने हड़बड़ाकर आँखें खोलीं। जगपती को सामने देख उसे लगा कि वह एकदमी नंगी हो गई हो। अतिशय लज्जित हो उसने अपने पैर समेट लिए। घुटनों से धोती नीचे सरकाई और बहुत संयत-सी उठकर रसोई के अँधेरे में खो गई।

जगपती एकदम हताश हो, वहीं कमरे की देहरी पर चौखट से सिर टिका बैठ गया। नजर कमरे में गई, तो लगा कि पराए स्वर वहाँ गूँज रहे हैं, जिनमें चन्दा का भी एक है। हर तरफ, घर के हर कोने से, अँधेरा सैलाब की तरह बढ़ता आ रहा था ··· एक अजीब निस्तब्धता ··· असमंजस! गति, पर पथभ्रष्ट! शक्लें पर आकारहीन।

"खाना खा लेते,"—चन्दा का स्वर कानों में पड़ा। वह अनजाने ऐसे उठ बैठा, जैसे तैयार बैठा हो। उसकी बात की आज तक उसने अवज्ञा न की थी। खाने तो बैठ गया, पर कौर नीचे नहीं सरक रहा था। तभी चन्दा ने बड़े सधे शब्दों में कहा, "कल मैं गाँव जाना चाहती हूँ।"

जैसे वह इस सूचना से परिचित था, बोला, "अच्छा।"

चन्दा फिर बोली, "मैंने बहुत पहले घर चिट्ठी डाल दी थी, भैया कल लेने आ रहे हैं।"

"तो ठीक है,"—जगपती वैसे ही डूबा-डूबा बोला।

चन्दा का बाँध टूट गया और वह वहीं घुटनों में मुँह दबाकर कातर-सी फफक-फफककर रो पड़ी। न उठ सकी, न हिल सकी।

जगपती क्षण-भर को विचलित हुआ, पर जैसे जम जाने के लिए। उसके होंठ फड़के और क्रोध के ज्वालामुखी को जबरन दबाते हुए भी वह फूट पड़ा, "यह सब मुझे क्या दिखा रही है? बेशर्म। बेगैरत। ··· उस वक्त नहीं सोचा था, जब ··· जब मेरी लाश तले ···"

"तब ··· तब की बात झूठ है ··· ", सिसकियों के बीच चन्दा का स्वर फूटा, "लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया ··· "

आग सुलगाता-सा भरपूर हाथ चन्दा की कनपटी पर पड़ा। और जगपती अपनी हथेली को दूसरी से दबाता, खाना छोड़कर कोठरी में घुस गया। और रात-भर कुण्डी चढ़ाए उसी कालिख में घुटता रहा।

दूसरे दिन चन्दा घर छोड़कर अपने गाँव चली गई।

जगपती पूरा दिन और रात टाल पर ही काट देता, उसी वीराने में, तालाब के बगल, कब्र, बबूल और ताड़ के पड़ोस में।··· उसका दिल होता, कहीं निकल जाए। पर ऐसी कमजोरी उसके त‌ा और मन को खोखला कर गई थी कि चाहने पर भी वह जा न पाता। हिकारत-भरी नजरें सहता, पर वहीं पड़ा रहता। काफी दिनों बाद जब नहीं रहा गया, तो एक दिन जगपती घर पर ताला लगा, नजदीक के गाँव में लकड़ी कटाने चला गया। उसे लग रहा था कि अब वह पंगु हो गया है, बिल्कुल लँगड़ा, एक रेंगता कीड़ा, जिसके न आँख है, न कान, न मन, न इच्छा।

वह उस बाग में पहुँच गया, जहाँ खरीदे पेड़ कटने थे। दो आरेवालों ने पतले पेड़ के तने पर आरा रखा और कर्र-कर्र का अबाध शोर शुरू हो गया। दूसरे पेड़ पर बन्ने और शकूरे की कुल्हाड़ी बज उठी। और गाँव से दूर उस बाग में एक लयपूर्ण शोर शुरू हो गया। जड़ पर कुल्हाड़ी पड़ती तो पूरा पेड़ थर्रा जाता।

करीब के खेत की मेड़ पर बैठे जगपती का शरीर भी जैसे काँप-काँप उठता। चन्दा ने कहा था, "लेकिन जब तुमने मुझे बेच दिया···" क्या वह ठीक कहती थी? क्या बचनसिंह ने टाल के लिए जो रुपए दिए थे, उसका ब्याज इधर चुकता हुआ? क्या सिर्फ वहीं रुपए आग बन गए, जिसकी आँच में उसकी सहनशीलता, विश्वास और आदर्श मोम से पिघल गए।

"श··· कूरे।"–बाग से लगे दड़े पर से किसी ने आवाज लगाई। शकूरे ने कुल्हाड़ी रोककर वहीं से हाँक लगाई, "कोने के खेत से लीक बनी है, जरा मेड़ मारकर नँघा ला गाड़ी।"

जगपती का ध्यान भंग हुआ। उसने मुड़कर दड़े पर आँखे गड़ाई। दो भैंसा गाड़ियाँ लकड़ी भरने के लिए आ पहुँची थीं। शकूरे ने जगपती के पास आकर कहा, "एक गाड़ी का भर्त तो हो गया, बल्कि डेढ़ का··· अब इस पतरिया पेड़ को न छाँट दें?"

जगपती ने उस पेड़ की ओर देखा, जिसे काटने के लिए शकूरे ने इशारा किया था, पेड़ की शाखें हरी पत्तियों से भरी थी। वह बोला, "अरे यह तो हरा है अभी ··· इसे छोड़ दो।"

"हरा होने से क्या, उखट तो गया है। न फूल का, न फल का। अब कौन इसमें फल-फूल आएँगे, चार दिन में पती झुरा जाएँगी।" शकूरे ने पेड़ की ओर देखते हुए उस्तादी अन्दाज से कहा।

"जैसा ठीक समझो तुम,"–जगपती ने कहा, और उठकर मेड़-मेड़ पक्के कुएँ पर पानी पीने चला गया।

दोपहर ढलते गाड़ियाँ भरकर तैयार हुईं और शहर की ओर रवाना हो गईं। जगपती को उनके साथ आना पड़ा। गाड़ियों से लदी शहर की ओर चली जा रही थीं और जगपती गरदन झुकाए कच्ची सड़क की धूल में डूबा, भारी कदमों से धीरे-धीरे उन्हीं की बजती घण्टियों के साथ निर्जीव-सा बढ़ता जा रहा था···

"कई बरस बाद राजा परदेश से बहुत-सा धन कमाकर गाड़ी में लादकर अपने देश की ओर लौटे," माँ सुनाया करती थीं, "राजा की गाड़ी का पहिया महल से कुछ दूर पतेल की झाड़ी में उलझ गया। हर तरह की कोशिश की, पर पहिया न निकला। तब एक पण्डित ने बताया, कि 'सकट' के दिन का जनमा बालक अगर अपने घर की सुपारी लाकर उसमें छुआ दे, तो पहिया निकल जाएगा। वहीं दो बालक खेल रहे थे। उन्होंने यह सुना तो कूदकर पहुँचे और कहने लगे कि हमारी पैदाइश सकट की है, पर सुपारी तब लाएँगे, जब तुम आधा धन देने का वादा करो। राजा ने बात मान ली। बालक दौड़े-दौड़े घर गए। सुपारी लाकर छुआ दी, फिर घर का रास्ता बताते आगे-आगे चले। आखिर गाड़ी महल के सामने उन्होंने रोक ली।

"राजा को बड़ा अचरज हुआ कि हमारे ही महल में ये बालक कहाँ से आ गए? भीतर पहुँचे, तो रानी खुशी से बेहाल हो गई।

"पर राजा ने पहले उन बालकों के बारे में पूछा, तो रानी ने कहा कि ये दोनों बालक उन्हीं के राजकुमार हैं। राजा को विश्वास नहीं हुआ। रानी बहुत दुःखी हुई।"

गाड़ियाँ जब टाल पर आकर लगीं और जगपती तख्त पर हाथ-पैर ढीले करके बैठ गया, तो पगडंडी से गुजरते मुंशीजी ने उसके पास आकर बताया, "अभी उस दिन वसूली में तुम्हारी ससुराल के नजदीक एक गाँव में जाना हुआ, तो पता लगा कि पन्द्रह-बीस दिन हुए चन्दा के लड़का हुआ है।" और फिर जैसे मुहल्ले में सुनी-सुनाई बातों पर परदा डालते हुए बोले, "भगवान् के राज में देर है, अंधेर नहीं, जगपती भैया।"

जगपती ने सुना तो पहले उसने गहरी नजरों से मुंशीजी को ताका, पर वह उनके तीर का निशाना ठीक-ठीक नहीं खोज पाया। पर सब-कुछ सहन करते हुए बोला, "देर और अंधेर दोनों हैं।"

"अंधेर तो सरासर है··· तिरिया चरित्तर है सब। बड़े-बड़े हार गए···" कहते-कहते मुंशीजी रुक गए, पर कुछ इस तरह, जैसे कोई बड़ी भेद-भरी बात है, जिसे उनकी गोल होती हुई आँखें समझा देंगी।

जगपती मुंशीजी की तरफ ताकता रह गया। मिनिट-भर मनहूस-सा मौन छाया रहा, उसे तोड़ते हुए मुंशीजी बड़ी दर्द-भरी आवाज में बोले, "सुन तो लिया होगा तुमने?"

"क्या"—कहने को तो जगपती कह गया, पर उसे लगा कि अभी मुंशीजी उस गाँव में फैली बात को ही बड़ी बेदर्दी से कह डालेंगे, उसने नाहक पूछा।

तभी मुंशीजी ने उसकी नाक के पास मुँह ले जाते हुए कहा, "चन्दा दूसरे के घर बैठ रही है··· कोई मदसूदन है वहीं का। पर बच्चा दीवार बन गया है, चाहते तो वो यही हैं कि बच्चा मर जाए, तो रास्ता खुले, पर राम जी की मरजी··· सुना है, बच्चे रहते भी वो चन्दा को बैठाने को तैयार है।"

जगपती की साँस गले में अटककर रह गई। बस, आँखें मुंशीजी के चेहरे पर पथराई-सी जड़ी थीं।

मुंशीजी बोले, "अदालत से बच्चा तुम्हें मिल सकता है। ··· अब काहे की शरम-लिहाज।"

"अपना कहकर किस मुँह से माँगू, बाबा? हर तरफ तो कर्ज से दबा हूँ। तन से, मन से, पैसे से, इज्जत से, किसके बल पर दुनिया सँजोने की कोशिश करूँ?"—कहते-कहते वह अपने में खो गया।

मुंशीजी वहीं बैठ गए। जब रात झुक आई तो जगपती के साथ ही मुंशीजी भी उठे। उसके कन्धे पर हाथ रखे वह उसे गली तक लाए। अपनी कोठरी आने पर पीठ सहलाकर उसे छोड़ दिया। वह गरदन झुकाए गली के अँधेरे में उन्हीं ख्यालों में डूबा ऐसा चलता आया, जैसे कुछ हुआ ही न हो। पर कुछ ऐसा बोझ था जो न सोचने देता था और न समझने। जब चाची की बैठक के पास से गुजरने लगा, तो सहसा उसके कानों में भनक पड़ी—"आ गए सत्यानासी। कुलबोरन।"

उसने जरा नजर उठाकर देखा, तो गली की चाची-भौजाइयां बैठक में जमा थीं और चन्दा की ही चर्चा छिड़ी थी। पर वह चुपचाप निकल गया।

इतने दिनों बाद ताला खोला और बरोठे के अँधेरे में कुछ सूझ न पड़ा, तो एकाएक वह रात उसकी आँखों के सामने घूम गई जब वह अस्पताल से चन्दा के साथ लौटा था। बेवा चाची का जहरबुझा तीर, 'आ गए राजा निरबंसिया अस्पताल से।' और आज सत्यानासी। कुलबोरन। और स्वयं उसका वह वाक्य, जो चन्दा को छेद गया था, 'तुम्हारे कभी कुछ न होगा ··· ।' और उस रात की शिशु चन्दा।

चन्दा के लड़का हुआ है।··· वह कुछ और जनती आदमी का बच्चा न जनती।··· वह और कुछ भी जनती, कंकड़, पत्थर। वह नारी न बनती, बच्ची ही बनी रहती, उस रात की शिशु चन्दा। पर चन्दा यह सब क्या करने जा रही है? उसके जीते-जी वह दूसरे के घर बैठने जा रही है? कितने बड़े पाप में ढकेल दिया चन्दा को ··· पर उसे भी तो कुछ सोचना चाहिए। आखिर क्या? पर मेरे जीते-जी तो यह सब अच्छा नहीं। वह इतनी घृणा बरदाश्त करके भी जीने को तैयार है। या मुझे जलाने को? वह मुझे नीच समझती है, कायर ··· नहीं तो एक बार खबर तो लेती। बच्चा हुआ, तो पता तो लगता। पर नहीं, वह उसका कौन है? कोई भी नहीं। औलाद ही तो वह स्नेह की धुरी है, जो आदमी-औरत के पहियों को साधकर तन के दलदल से पार ले जाती है ··· नहीं तो हर औरत वेश्या है और हर आदमी वासना का कीड़ा। तो क्या चन्दा ··· औरत नहीं रही? वह जरूर औरत थी, पर स्वयं मैंने उसे नरक में डाल दिया। वह बच्चा मेरा कोई नहीं पर चन्दा तो मेरी है। एक बार उसे ले आता फिर यहाँ ··· रात के मोहक अँधेरे में उसके फूल से अधरों को देखता ··· निर्द्वन्द्व सोये पलकों को निहारता ··· साँसों की दूध-सी अछूती महक को समेट लेता ···

आज का अंधेरा! घर में तेल भी नहीं जो दिया जला ले। और फिर किसके लिए कौन जलाए? चन्दा के लिए··· पर उसे तो उसने बेच दिया था। सिवा चन्दा के कौन-सी

सम्पत्ति उसके पास थी, जिसके आधार पर कोई कर्ज देता। कर्ज न मिलता, तो यह सब कैसे चलता? काम ··· पेड़ कहां से कटते? और तब शकूरे के वे शब्द उसके कानों में गूंज गए, 'हरा होने से क्या, उखट तो गया है···' वह स्वयं भी तो उखटा हुआ पेड़ है, न फल का' न फूल का, सब व्यर्थ ही तो है। जो कुछ सोचा उस पर कभी विश्वास न कर पाया। चन्दा को चाहता रहा, पर उसके दिल में चाहत न जगा पाया। उसे कहीं से एक पैसा मांगने पर डांटता रहा, पर खुद लेता रहा और आज ··· वह दूसरे के घर बैठ रही है ··· उसे छोड़कर ··· वह अकेला है, ··· हर तरफ बोझ है, जिसमें उसकी नस-नस कुचली जा रही है, रग-रग फट गई है। ··· और वह किसी तरह टटोल-टटोलकर भीतर घर में पहुंचा ···

"रानी अपने कुल देवता के मंदिर में पहुंची,"– मां सुनाया करती थीं, "अपने सतीत्व को सिद्ध करने के लिए उन्होंने घोर तपस्या की। राजा देखते रहे! कुल-देवता प्रसन्न हुए और उन्होंने अपनी दैवी शक्ति से दोनों बालकों को तत्काल जनमे शिशुओं में बदल दिया। रानी की छातियों में दूध भर आया, उनमें से धार फूट पड़ी, जो शिशुओं के मुंह में गिरने लगी। राजा को रानी के सतीत्व का सबूत मिल गया। उन्होंने रानी के चरण पकड़ लिए और कहा तुम देवी हो! ये मेरे पुत्र हैं! और उस दिन से राजा ने फिर राजकाज संभाल लिया ···"

पर उसी रात जगपती अपना सारा कारोबार त्याग, अफीम और तेल पीकर मर गया। क्योंकि चन्दा के पास कोई दैवी शक्ति नहीं थी और जगपती राजा नहीं, बचन सिंह कम्पाउंडर का कर्जदार था! ···

"राजा ने दो बातें की," मां सुनाती थीं, एक तो रानी के नाम से उन्होंने बड़ा मंदिर बनवाया और दूसरे, राज के नए सिक्कों पर बड़े राजकुमार का नाम खुदवाकर चालू किया जिसे राजभर में अगले उत्तराधिकारी की खबर हो जाए ···"

जगपती ने मरते वक्त दो परचे छोड़े, एक चन्दा के नाम, दूसरा कानून के नाम।

चन्दा को उसने लिखा था–"चन्दा, मेरी अंतिम चाह यही है कि तुम बच्चे को लेकर चली आना ··· अभी एक-दो दिन मेरी लाश की दुर्गति होगी, तब तक तुम आ सकोगी। चन्दा आदमी को पाप नहीं पश्चाताप मारता है, मैं बहुत पहले मर चुका था। बच्चे को लेकर जरूर चली आना।"

कानून को उसने लिखा था–"किसी ने मुझे मारा नहीं है ··· किसी आदमी ने नहीं। मैं जानता हूं कि मेरे जहर की पहचान करने के लिए मेरा सीना चीरा जाएगा। उसमें ज़हर है। मैंने अफीम नहीं, रुपए खाए हैं, उन रुपयों में कर्ज जहर था, उसी ने मुझे मारा है। मेरी लाश तब तक न जलाई जाए, जब तक चन्दा बच्चे को लेकर न आ जाए। आग बच्चे से दिलवाई जाए। बस!"

माँ जब कहानी समाप्त करती थीं, तो आसपास बैठे बच्चे फूल चढ़ाते थे। मेरी कहानी भी खत्म हो गई, पर ··· □

# गुलजी-गाथा

## यादवेन्द्र शर्मा 'चन्द्र'

(जन्म : सन् 1932 ई.)

गुलजी-गाथा के नायक गुलजी में एक विशिष्ट बात थी, जो उसे दूसरे लोगों से अलग करती थी। वह विशिष्ट बात यह थी कि उसे ढेर सारे व्यक्तियों, उनके पिता, दादा, परदादा और नाना-नानियों के नाम याद आते रहते थे। पचास फीसदी दूसरी बातें भी। कई लोगों की जन्म-तिथियाँ भी उसे याद रहती थीं। आप एक बार बता देते कि उसका नाम फलाँ है, तो वह नाम उसके मस्तिष्क में अंकित हो जाता था और फिर कभी आप पूछते, "गुलजी, मेरा नाम क्या है?" वह फौरन बता देता। इस विशेषता के अलावा वह अत्यंत सामान्य प्राणी था। हां, बलिष्ठ शरीर, लंबा कद, काला रंग। आकर्षण के नाम पर केवल उसका हृष्ट-पुष्ट शरीर था। आँखें तो उसकी बिच्छू-सी गोल-गोल थीं, जो उसकी विरूपता बढ़ा रही थीं।

वह अत्यंत ही कामेडी यानी काम करने वाला था। मेहनत से वह ज़रा भी नहीं घबराता था। लोग उसके मनोविज्ञान को समझ गए थे, इसलिए उसका प्रशंसात्मक शब्दों से घेराव करके ठगते रहते थे। कहते थे, "गुलजी, तू बड़ा सयाना है, ज़रा बाजार से सब्जी ला दे न।" कोई कहता, "गुलजी, तू तो तूफान की तरह चलता है। कोटगेट से पाँच सेर बाजरी ला दे।" यदि उसका मन नहीं होता, तो वह बिना जवाब दिए खिसक जाता था। ··· हाँ, कष्ट में पड़े व्यक्ति के लिए वह कभी भी बहाने नहीं बनाता था। स्वभाव का बड़ा अच्छा था। हर एक के दुःख-सुख में काम आता था।

गुलजी अपनी प्रशंसा सुनकर गद्गद हो जाता था। उसे महसूस होता था कि कुछ ऐसा है, जो उसके भीतर पिघल रहा है। बस, वह दूसरे का काम कर देता था। उसे कभी भी इसका अनुभव नहीं हुआ कि लोग उसे 'एक्सप्लोयट' कर रहे हैं। ठग रहे हैं।

वैसे वह भरे-पूरे परिवार का था। माँ-बाप, भाई और बहनें। वे तीन भाई और पाँच बहनें थे··· दोनों छोटे भाई सरकारी नौकर थे। चार बहनों का ब्याह हो चुका था। उसका बाप भोला-भाला था। किसी बनिए के यहाँ रसोई बनाता था। दोनों भाइयों की भी शादी

हो गई थी। हालाँकि वह सबसे बड़ा था पर ऐसे भोले-भाले और अनपढ़ को कौन अपनी बेटी दे। कोई जान-बूझकर तो अपनी बेटी को कूएँ में नहीं फेंक सकता?

ब्याह के प्रति उसमें बड़ा हर्ष था। कई बार वह एकांत में अपनी माँ से कहता था, "माँ, तू मेरा विवाह क्यों नहीं करती?"

"बेटा, मैं तो करना चाहती हूँ पर कोई बाप अपनी बेटी भी तुझे दे। तू ठहरा अनपढ़ और भोला। कुछ काम भी नहीं करता। यदि तेरी शादी कर दूँ, तो पीछे आने वाली बीदणी खाएगी क्या? दो टंग चूल्हा जलाने के लिए भी पैसा चाहिए। ··· तू कमाता भी तो नहीं है। भाइयों के टुकड़ों पर पल रहा है। केवल दादा-परदादा, नाना-नानियों के नाम बताने से पेट नहीं भरता।"

गुलजी माँ की बात पर गंभीर हो गया। वह उदास होकर बैठ गया। सोचने लगा कि मैं क्या काम कर सकता हूँ।

गुलजी जब कभी पुराने बाजार की ओर जाता था, तो रास्ते में प्रश्नों की झड़ी लग जाती थी–

"गुलजी मेरा नाम क्या है?"

"गुलाबचंद बिस्सा।"

"गुलजी मेरा घर कहाँ है?" दूसरा पूछता।

"साले की होली पर।"

"गुलजी मेरे नाने का नाम क्या है?"

"सूरजमल जी व्यास।"

"गुलजी मेरा गोत्र कौन-सा है?"

"भारद्वाज।"

गुलजी हर प्रश्न का, जो उसके दायरे के होते थे, उत्तर देता था। उसके चेहरे पर तब अपूर्व प्रसन्नता झलकती थी। लगता था कि जीवन की तमाम रोशनियाँ उसके चेहरे पर आकर जम गई हैं। उसकी आँखों में दर्प चमकता था।

लेकिन आज गुलजी मौन था। लोगों के प्रश्न जैसे उसे सुनाई ही नहीं दे रहे थे। बार-बार एक ही प्रश्न बवंडर की भाँति उसके मस्तिष्क में घूम रहा था कि वह कमाता नहीं है, इसलिए उसकी शादी नहीं हो रही है।

कई लोगों को आज आश्चर्य हुआ कि गुलजी चुप क्यों है? अवश्य बीमार है। वर्ना गुलजी के लिए प्रश्नों के उत्तर जीवनदायी हैं।

गुलजी बाजार में पंसारी के व्यापारी सेठ कुंदनमल अग्रवाल की दूकान पर पहुँचा।

"सेठजी, राम ··· राम।"

सेठ कुंदनमल गुलजी के प्रति अत्यंत ही संवेदनशील था। उसकी चेष्टा रहती थी कि गुलजी को किसी भी तरह की कोई पीड़ा उसकी ओर से न पहुँचे।

गुलजी टूटे हुए इंसान की तरह बैठ गया। कुंदनमल ने बही को बंद करके कहा,

"क्या बात है गुलजी, बहुत सुस्त लग रहे हो। मुँह भी उतरा-उतरा है।"

"कोई खास बात नहीं सेठजी।"

"खास बात कैसे नहीं है?" कुंदनमल जानता था कि गुलजी से जब कभी कोई नहीं पूछता कि तेरा नाम क्या है, वह सुस्त हो जाता है। उसने पूछा, "क्या आज कोई पूछने वाला नहीं मिला क्या?"

गुलजी ने बुझे स्वर में कहा, "ऐसी बात नहीं है।"

"फिर क्या बात है?" कुंदनमल ने आत्मीयता जतलाते हुए कहा, "सच-सच बता गुलजी, देख, मुझसे छुपाएगा तो फिर किसे कहेगा?"

गुलजी ने सिर झुकाकर धीमे-धीमे कहा, "सेठजी, मेरी शादी नहीं हो रही है। मां कहती है कि इसलिए नहीं हो रही है क्योंकि मैं कमाता नहीं हूँ। जिस लुगाई को तेरे पीछे लाएँगे, वह खाएगी क्या? वह पेट पर पत्थर बाँधकर तो नहीं रहेगी।"

कुंदनमल ने पीपे में रखी इमली के टुकड़े को तोड़कर मुँह में रखा। फिर बोला, "माँ ठीक ही कहती है। एक तो तू भोला-भाला, दूसरा अनपढ़ ··· तीसरा अनकमाऊ।"

वह झुंझलाहट से बोला, "मैं फिर क्या करूँ? क्या मैं कुँवारा ही मरूँगा।"

सेठ ने शांत स्वर में कहा, "यदि विधाता ने तेरे कर्म में विवाह का लेख नहीं लिखा है, तो तू और हम क्या करेंगे? उसका लिखा तो अमिट होता है, हाँ, तू पुरुषार्थ कर। कमाने लगे, तो बेमाता के लेख भी मिट सकते हैं।"

"पर मैं करूँ क्या काम?" उसने शब्दों पर जोर देकर कहा। उसके चेहरे पर आक्रोश था।

"कमाना शुरू कर दे।"

"कैसे? मुझे तो कुछ आता ही नहीं।"

कुंदनमल ने उसके सुडौल और तगड़े शरीर को अपनी दृष्टि में भरा। फिर कहा, "तुझमें हनुमानजी जितनी ताकत है। तू गेहूँ की बोरी भी उठाकर ले जा सकता है। एक बोरी के एक-दो तीन-चार रुपए मिल जाते हैं। ··· तू बोरी ढोने का काम शुरू कर दे।"

गुलजी ने सोचा और वह उसी पल से इस काम में लग गया।

साँझ हो गई थी। शहर की गलियों में बच्चे तरह-तरह के खेल खेल रहे थे। कोई 'इकड़-बिकड़,' कोई 'आडूलो-पाडूलो' और कोई 'लुकमीचणी।'

चौकों में पाटों पर लोग बैठे-बैठे गप्पें मार रहे थे।

गुलजी अपने घर पहुँचा। उसने अपनी माँ के हाथ में पाँच रुपए रखते हुए कहा, "यह मेरी कमाई है।"

"क्या? पाँच रुपए।" उसकी माँ सीतकी की आँखे चमक उठीं।

"हाँ माँ, मैं अब बाजार में मजदूरी करूँगा। पढ़ा-लिखा हूँ नहीं। एकदम अँगूठा छाप हूँ। और कर भी क्या सकता हूँ।"

"बेटा, तू जितना कमाएगा, उसे मैं इकट्ठा करूँगी। फिर तेरी शादी में लगा दूँगी।"
वह गंभीर हो गया। एक आशा की किरण उसके भीतर जली।

गुलजी नियमित रूप से कमाने लगा। हाँ, बाजार आते-जाते और मजदूरी करते समय लोग उससे नामों के बारे में सवाल करते रहते थे। वह काफी खुश था। पर यदि उस पर कोई झूठा आरोप, विशेषत: चरित्र को लेकर लगा देता, तो वह असामान्य हो जाता। अस्पष्ट स्वर में बड़बड़ाता हुआ तेजी से पूरे चौक में उत्तर से दक्षिण और पूरब से पश्चिम की ओर भागता रहता—"मैं पराई बहू-बेटी को खोटी नजर से देखता ही नहीं हूँ। पराई लुगाई को अपनी माँ-बहन समझता हूँ। बदमाश मुझ पर थूक उछालते हैं। पाजी कहीं के, झूठे कहीं के।" तब उसकी उत्तेजना और हाव-भाव देखते बनते थे। लोग हँसते थे और उसका गुस्सा बढ़ता था। फिर कोई बुजुर्ग बडेरा उसे समझाता, तो वह शांत होता।

गुलजी नहीं सोच पाता था कि इस दुनिया का व्यवहार-बर्ताव, नाते-रिश्ते क्या हैं? वह स्त्री-पुरुष के संबंधों के बारे में भी कुछ नहीं सोच पाता था। वह तो बस इतना जानता था कि हर मिनख ब्याह करता है इसलिए उसका भी ब्याह होना चाहिए। इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं जानता, उसे ब्याह करना है इसलिए उसे खूब कमाना है। एक दुल्हन के लिए उसे जी-तोड़ मेहनत करनी है।

उस दिन शीतला बारी के बाहर एक बोरी डालने एक परित्यक्ता स्त्री के घर गया। कठिन मार्ग। ऊँचा-नीचा, गर्मी की ऋतु, वातावरण में तपिस। हल्की लू। गुलजी बोरी लिए हुए उस स्त्री हीरकी के घर पहुँचा। हीरकी जैसे उसका इंतजार ही कर रही थी। उसका दरवाजा खुला था।

गुलजी ने उसके दरवाजे की दो सीढ़ियाँ कठिनता से चढ़कर घर में प्रवेश किया। पूछा, "बोरी कहाँ रखनी है?"

"सालकी में।"

गुलजी ने आँगन पार करके भीतरी कमरे में बोरी को डाल दिया। लंबा साँस लेकर गुलजी ने अपने गमछे से पसीना पोंछा।

हीरकी ने आत्मीयता से कहा, "गुलजी, बड़ी गर्मी है, थोड़ा-सा सुस्ता ले, एक लोटा पानी पी ले।" गुलजी ने पहली बार हीरकी को भर नजर देखा। बहुत खूबसूरत लगी उसे वह। कुछ पल अपलक देखता रहा। फिर अपने सिर को झटका देकर खुद को धिक्कारा—'धत् तेरे की, क्यों देख रहा है इसे?'

"ले पानी पी ले··· ठंडाटीप है। उदयरामसर की मटकी का है। उन मटकियों में बड़ा ठंडा पानी रहता है।" हीरकी ने गहरे अपनेपन से कहा। उसके चेहरे पर प्रेम था या स्नेह। ममता थी या वात्सल्य, जानना दूभर था।

तांबे का लोटा था। गुलजी ने ऊपर से पानी पिया डचक-डचक-डचक पानी पीकर उसने फिर लंबा साँस लिया।

"पानी सच में ठंडा है।" गुलजी ने उसकी ओर देखकर कहा, "मेरे घर पानी इतना

ठंडा नहीं होता। अच्छा, मैं चलूँ।"

वह उठने लगा कि हीरकी ने झट से पूछा, "गुलजी, मेरे बाप का नाम जानता है?"

इस प्रश्न से गुलजी का चेहरा खिल उठा। वह उत्साह से बोला, "वाह, तू भी खूब है। अरी, तेरे बाप का नाम धन जी, तेरे दादे का नाम पन जी ··· तेरे नाने का नाम मोवन है। तेरा पीहर बेणीसर कूवे के पास है। अच्छा मैं चलता हूँ। ···

"तेरे नीचे काँटे बिछे हैं क्या गुलजी, जो तूने दो घड़ी सुख की छाँव में न बैठकर जाता हूँ–जाता हूँ की रट लगा रखी है।" हीरकी ने तनिक नाराजगी के भाव दिखाते हुए कहा।

"हीरकी, मुझे मजूरी करनी है। देखो, मैं कमाता नहीं हूँ न, इसलिए मेरा ब्याह नहीं हो रहा है।" वह उदासी से बोला, "मेरे दोनों भाइयों का ब्याह हो गया है। माँ कहती है कि दुनिया जहान के नाम-पते याद रखने पर तेरा ब्याह नहीं होगा।"

"कितनी मजूरी दूँ?"

"जो तेरी मर्जी में आए।"

उसने तीन रुपए देने चाहे पर गुलजी ने उसकी ओर देखकर दो रुपए लिए। वह सोचने लगा कि कितनी फूटरी फरी (सुंदर) है यह?

वह रुपए अपनी मोटी बंडी की जेब में डालकर धीरे-धीरे चल पड़ा।

गुलजी के पास धीरे-धीरे तीन हजार रुपए इकट्ठे हो गए। उसकी माँ ने कहा कि कुछ जेवर उसके पास हैं। अब वह उसके लिए छोरी ढूँढ़ेगी। गुलजी ने शर्माकर कहा, "माँ, सोवणी मोवणी ढूँढ़ना।"

गुलजी ब्याह के लिए कभी माँ पर दबाव डालता था और कभी विनती करता था। कभी झगड़ा कर बैठता था और कभी चापलूसी करता था। उसकी माँ उसके संबंध के लिए खूब भाग-दौड़ करती थी। मगर गुलजी को सँभालने वाली छोकरी नहीं मिली। उसकी इच्छा थी कि ऐसी लड़की हो जो इस भोले-भाले सीधे-साधे को सँभाल ले। ··· कोई लड़की खुद अधपागल होती थी और कोई गुलजी को देखते ही रोने लगती। एक लड़की ठीक-ठाक थी। पर उसके माँ-बाप ने पाँच हजार रुपए नकद माँगे, जो गुलजी और उसकी माँ के पास नहीं थे। जब माँ ने उसके दोनों भाइयों को कहा, तो वे भड़क उठे। उन्होंने माँ पर आरोप लगाया कि वह क्यों किसी लड़की की जिंदगी को तबाह करने में लगी हुई है। इस गैले (पागल) के पीछे कौन सुखी रहेगा?

पर उसकी माँ ने प्रयास जारी रखे। गुलजी अब चिड़चिड़ा हो गया था। वह बात-बात पर झगड़ने लगता था। ब्याह न होने का सारा दोष अपनी माँ पर लगा रहा था। वह अपने को भी सताने लगा। कभी रोटी नहीं खाता था। वह दर्द से भीतर से जलता रहता था।

एक बार तो वह गणेश मंदिर में अपनी मां से झगड़ा करते-करते बच्चों की तरह रो पड़ा। कहने लगा, "तेरे कारण मैंने हाड़-तोड़ मेहनत की। धूप-ठंड की परवाह किए

बिना कमाता रहा ··· पर तू सच्चे मन से मेरा ब्याह करना नहीं चाहती।"

उसकी माँ ने विश्वास दिलाने की गरज से कहा, "देख गुलजी, ये धोती वाले बड़े गणेशजी हैं, मैं उनकी ओर अपना हाथ करके कहती हूँ, 'हे गशेण भगवान्, यदि मैंने इसके ब्याह के लिए सच्चे मन से जतन नहीं किया हो तो मेरे शरीर में कीड़े पड़ें।' अरे, तू मेरी कोख से पैदा हुआ। मेरे तीनों बेटे एक समान हैं। लड्डू की कोर में कौन खाटा कौन मीटा?" उसने उसके सिर पर हाथ फेरकर कहा, "बेटा तू है ही भोला, अनपढ़, तुझे सलीके भी तो नहीं आते।"

वह चीखा, "इसमें मेरा क्या दोष है। तेरे इस गणेश भगवान ने मुझे ऐसा पैदा ही क्यों किया?"

माँ स्वयं अनपढ़ थी। इस प्रश्न का उसके पास कोई उत्तर नहीं था। गुलजी बड़बड़ाता रहा।

उस दिन हीरकी उसे बाजार में मिल गई। उसने कहा, "गुलजी, जरा यह सामान तो घर पहुँचा दे।" वह हीरकी के साथ उसके घर आया। वहाँ भाँग के नशे में धुत्त उसका पूर्व पति बैठा था। हीरकी उसे देखते ही चौंक पड़ी। फिर सँभलकर बोली, "तू यहाँ क्यों आया है?"

"तुझे घसीटकर ले जाने के लिए।"

"तेरा-मेरा कोई नाता-रिश्ता नहीं। सब कुछ खत्म हो चुका है।"

"चल री छिनाल, तूने मुझे थोड़े ही छोड़ा है। मैंने तुझे छोड़ा है। मैं वापस तुझे लेने आया हूँ।"

हीरकी ने गुस्से से कहा, "मैं तेरे नरक में कभी भी नहीं चलने की। चुपचाप चला जा ··· वर्ना।"

"वर्ना, तू क्या कर लेगी?"

"तुझसे अपने शरीर को कुटवाने वाली, तेरी लकड़ी से हाड़ तुड़वाने वाली हीरकी मर गई है। भला इसी में है कि तू चला जा ··· ।"

"मालजादी ··· देख ··· ।" उसने लपककर हीरकी का हाथ पकड़ा। हीरकी हाथ छुड़ाने के लिए तड़फड़ाने लगी। गुलजी का भीतरी हनुमान जाग गया। उसने हीरकी के पति को कागज के खिलौने की तरह उठाकर रेत के रास्ते पर फेंक दिया। चेतावनीपूर्ण स्वर में वह बोला, "तू इसे अकेला मत समझना। जबरदस्ती करेगा तो चींटी जानकर मसल दूँगा ··· भाग जा।"

वह भागा तो नहीं पर चला गया।

गुलजी अस्पष्ट रूप से बड़बड़ाने लगा। हीरकी ने नींबू की सिकंजी बनाकर गुलजी को दी, "पी ले जी सोरा (खुश) हो जाएगा।"

गुलजी ने हीरकी के आकर्षक मुखड़े को देखा। फिर सिकंजी पीने लगा ··· हीरकी उसके सन्निकट बैठकर बोली, "गुलजी, शांति से बात सुने तो कुछ कहूँ।"

"कह।"

"तू जरा भी गुस्सा नहीं करेगा।"

"नहीं करूँगा।"

"तेरे ब्याह करने की बड़ी इच्छा है न?"

"है।"

"फिर तू मुझसे ब्याह कर ले।"

"तुझसे कैसे ब्याह कर लूँ। तेरा तो ब्याह हो चुका है।"

"ब्याह होकर टूट भी तो चुका है।" हीरकी ने उसके घुटने पर हाथ रखकर कहा, "तू मुझे पक्का मर्द लगता है। तू मेरे रूप-जीवन की रक्षा कर सकता है।"

"एक ब्याहता मेरी लुगाई कैसे बन सकती है?"

"तू बना ले, मैं बन जाऊँगी। तेरी सेवा करूँगी, तेरे सारे काम-धंधे करूँगी। तू थका-माँदा आएगा, तब तेरे पाँव दबाऊँगी। तेरे बच्चों की माँ बनूँगी और लुगाई इसके सिवा क्या होती है? मैं तेरे संग निर्भय होकर जीऊँगी। मुझे किसी का डर-भय नहीं रहेगा।"

जैसे किसी ने गुलजी के सुई चुभो दी हो, वैसे वह उठ खड़ा हुआ। तनिक नाराजगी से बोला, "ऐसे ब्याह नहीं होता। मैंने हजारों ब्याह देखे हैं। आदमी के ब्याह में हाथ-काम लेते हैं, फिर छींकी निकलती है, बारात होती है, फिर हथलेवाँ जुड़वाता है अपनी बीदणी के संग। बाद में फेरे खाता है। जानती हो? बीदणी बीद से सात वचन लेती है और बीद एक वचन। ··· नहीं हीरकी, मैं ऐसा नहीं कर सकता।"

हीरकी ने उसका हाथ पकड़ लिया। कहा, "मेरी बात मान ले। ··· जीवन में सातों सुख किसी को नहीं मिलते। हर इच्छा किसी की पूरी नहीं होती। तू यहाँ रह जा··· मैं तेरी बड़ी सेवा करूँगी।"

"यह पाप है··· बुराई है।" और वह हीरकी के घर से हवा की तरह निकल गया।

उस दिन उसने लोगों के नाम-पतों के सवालों का जवाब दिया, पर बड़े बेमन से। एक-दो तो उत्तर उसने गलत भी दे दिए।

घर आया तो पता चला कि उसकी माँ को दस्त-उलटियाँ हो रही हैं। सारे लोग उसकी देख-रेख में लगे हैं। वह भी रात-भर जागता रहा। सूर्य की पहली किरण के उगने के साथ उसकी माँ का देहांत हो गया। वह फूट-फूटकर रोने लगा। उसकी पड़ोसन चंपा मासी ने उसे सांत्वना देकर कहा, "बेटे, तेरी माँ की तो मुक्ति हो गई। आज बैसाख की एकादशी है। एकादशी को तो पुण्यात्मा ही मरती है। बड़ी सुभागी थी तेरी माँ।"

गुलजी में माँ की मृत्यु से एक अजीब-सा सन्नाटा भर गया।

गुलजी की ब्याह की समस्त आशाएँ टूट गईं। वह हताश हो गया। घर उसे काटने लगा। घर में सदस्यों की बड़ी चहल-पहल थी पर गुलजी को लगता था कि वह अकेला है, निपट अकेला। थोड़ी-बहुत मजूरी कर लेता था, शेष समय वह शहर में घूमता रहता

था। नाम-पतों का सिलसिला चलता रहता था। रात को थककर चूर होकर सो जाता था। छोटे भाइयों की बहुएँ थाली परोसकर रख देती थीं, वह खा लेता था। न कोई आत्मीयता और न कोई लाड-कोड।··· पर उसके लिए दूसरा आसरा भी तो नहीं था। सब कुछ उसे व्यर्थ लगने लगा। नाते-रिश्ते अर्थहीन।··· रात को सोया-सोया वह सोचता रहता था। उम्र ढल रही थी। जुल्फों के बाल सफेद होने लगे थे। अधूरापन कचोटता था उसे।··· खालीपन और ऊब से वह उद्विग्न हो जाता था।

एक दिन वह गेहूँ की बोरी लेकर बद्रीदास डागा की हवेली की सीढ़ियाँ चढ़ रहा था कि उसका दायाँ पाँव उचक गया। वह घबरा गया। बोरी धड़ाम से गिर गई। गनीमत यह हुई कि बोरी गिरते ही वहीं रह गई लेकिन गुलजी का संतुलन बुरी तरह बिगड़ गया। वह सीढ़ियों से नीचे आ गिरा।

सेठ बद्रीदास ने उसे अस्पताल भर्ती कराके उसके घरवालों को खबर करवाई।

घरवाले आए। गुलजी की आँख के नीचे एक घाव था और बाएँ पाँव के जाँघ की हड्डी टूट गई थी। सेठ के मुनीम ने उसकी दवाओं की व्यवस्था कर दी क्योंकि सेठ बद्रीदास ने ही गुलजी के पाँच हजार रुपए और माँ के जेवर रखे हुए थे, उसकी शादी के लिए। अब गुलजी के घरवाले उससे रुपए माँगने लगे। आते और कहते कि रुपए दो··· और गुलजी ने कहा, "मेरे पास एक पैसा भी नहीं है।··· मुझे मर जाने दो। मेरी कोई सेवा मत करो। जाओ।"

वह चीख पड़ता था। घरवालों की उपेक्षा बढ़ती गई।

सेठ कुंदनमल ने हीरकी को सूचना दी कि गुलजी के पाँव की हड्डी टूट गई है। वह अस्पताल पहुँची। गुलजी की दुर्दशा देखकर उसकी आँखें भर आईं। उलाहना देते हुए बोली, "मुझे खबर तो कर देता। पर क्यों खबर करता, मैं तेरी लगती क्या हूँ। कौन हूँ मैं तेरी? लेकिन तू मेरा रखवाला है। उस दिन के बाद उस निगोड़े मेरे पति ने मेरे घर की ओर मुड़कर भी नहीं देखा।"

"तू राजी है न?"

"हाँ।"

"देख हीरकी, तू मुझे यहाँ से अपने घर पहुँचा देना। मेरे घरवालों को मुझसे प्रेम नहीं है पर घर तो घर होता है।"

"जैसा तू कहेगा, वैसा कर दूँगी।"

"मुझे यहाँ का खाना अच्छा नहीं लगता··· घरवाले ध्यान नहीं देते।"

"तू फिकर मत कर, मैं तेरे लिए खाना बना लाऊँगी।"

हीरकी उसकी सेवा में जुट गई। गुलजी के घरवाले उसे बदनाम करने लगे। गंदे आरोप लगाने लगे। लेकिन हीरकी ने उनकी कोई परवाह नहीं की। गुलजी से उसका ऐसा लगाव हो गया था जिसकी कोई परिभाषा नहीं थी··· कोई नाम नहीं था। एक अंतरंग जुड़ाव था।

गुलजी-गाथा ने नया मोड़ लिया। घरवालों की उपेक्षाओं और उलाहनों से गुलजी तंग हो गया। वह अपने घर की जगह हीरकी के घर चला गया। हीरकी उसकी सेवा में लग गई। लेकिन गुलजी का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता गया।

एक-दिन गुलजी ने हीरकी को भेजकर सेठ बद्रीदास के मुनीम रतनलाल व्यास को बुलाया। रतनलाल ने आते ही गुलजी से पूछा, "मेरी शादी कब हुई थी गुलजी।"

"संवत्, 1992 में।"

"बिल्कुल ठीक।" मुनीम बोरी पर बैठते हुए बोला, "कैसे याद किया?"

"मुनीमजी, जीवन का कोई भरोसा नहीं। घरवाले तो एकदम पराए हो गए हैं। सोच बैठे, बला टली। ··· लेकिन हीरकी ने मेरी खूब सेवा की है। यदि यह नहीं होती, तो यह शरीर सड़ जाता।" उसने एक पल रुककर कहा, "मुनीमजी, मेरे पाँच हजार रुपए नकद जमा हैं और करीब पंद्रह-बीस तोला सोना है। आप जेवर बेचकर मेरे सारे रुपए गद्दी में जमा कर लीजिए। हीरकी के नाम का एक पुर्जा बनवा दीजिए। इसे हर माह ब्याज दे दीजिए।

मुनीम गंभीर हो गया। पूछ बैठा, "यदि तू रीस न करे, तो कुछ कहूँ?"

"कहिए मुनीमजी।" अत्यंत शांति से बोला वह।

"यह तेरे क्या लगती है कि तू अपने कुटंब-जनों को छोड़कर सब कुछ इसे दे रहा है।" मुनीम ने हीरकी की ओर देखा। हीरकी निस्पंद थी। ··· उसकी आकृति पर कई अर्थ तैर रहे थे।

गुलजी ने एक पल के लिए आँखे मूँदी। फिर कहा, "मुनीमजी, मैं अनपढ़, गँवार और मूर्ख बेसी तो नहीं समझता पर यह मेरी कुछ लगती जरूर है। माँ, बहन, मासी-बुआ ··· कुछ जरूर लगती है, जिसको मेरी मोटी बुद्धि नहीं समझती। इसके रिश्ते को मैं कुछ नाम-वाम नहीं दे सकता जो बिना गरज के दूसरे की सेवा करती है, उसे आप क्या कहेंगे।

"यह मेरी बीदणी नहीं है। केवल लुगाई जात है ··· मेरा इससे अधर्म का रिश्ता नहीं है। यह लुगाई जब सुबह मेरा मुँह धोती है, मेरे बाल सँवारती है, मेरे अंग-अंग को सँवारती है, तो मुझे मेरी मां याद आ जाती है। ··· मुनीमजी, आप दया करके इसे कुलछनी, पापिन और नीच मत जानिए। आपको मैंने जो कहा, वह आप करवा दीजिए।"

"करवा दूँगा ··· राम ··· राम।" मुनीम चला गया। हीरकी गुलजी के सीने पर अपना सिर रखकर सुबक-सुबककर रोने लगी।

गुलजी-गाथा का चरमोत्कर्ष सामान्य ही रहा। गुलजी का स्वास्थ्य दिन-प्रतिदिन गिरता गया। उसकी इच्छाएँ स्वाभाविक रूप से मरने लगीं पर हीरकी की दमित इच्छाएँ कई बार सीमाहीन होकर कुछ करना चाहती थीं पर गुलजी उसे मना कर देता था, "ऐसा न करो हीरकी, मेरे भाग्य में लुगाई का सुख नहीं है। यदि होता, तो मेरे भी बीदणी होती,

बाल-बच्चे होते। हीरकी, तू अगले जन्म को मानती है?"

"कथाओं में अगले जन्म की चर्चा होती है। ··· मैं उसे मानती हूँ।"

"फिर अगले जन्म में हम ब्याह करेंगे।"

हीरकी गुलजी पर विजय नहीं पा सकी। पूरे पाँच वर्षों तक उसके साथ नामहीन संबंधों को निभाती हुई वह उसकी सब कुछ बनी रही, सिवाय पत्नी के। जब गुलजी की मृत्यु हुई तब उसने भी उसके सारे रुपयों को उसके दाह-संस्कार, मृत्यु भोज, गरुड़-पुराण और उसके पीछे साल-भर उसके गुरु को रोटी खिलाकर समाप्त कर दिए। मरने के पूर्व उसने एक फोटो खिंचवा लिया था गुलजी का। सुबह-शाम उसे देखती है और दो बूँद आँसू ढुलकाकर अनंत आकाश की ओर देखती है। अनंत शून्यता भी उसके भीतर है। अब वह प्रायः मृत्यु के बारे में सोचती रहती है। कदाचित् अगले जन्म में उसे ··· । गुलजी-गाथा की वह नायिका जी रही है अब भी। □

# एक नाव के यात्री

**शानी**
(जन्म : सन् 1932 ई.)

कीर्ति मारे उत्सुकता के फिर खड़ी हो गयी। यह पाँचवाँ मरतबा था, लेकिन इस बार लगा कि सीटी की आवाज़ सचमुच दूर से काफ़ी नज़दीक होती आ रही है और गाड़ी प्लेटफ़ार्म में प्रवेश करे, इसमें अधिक देर नहीं · · ·

घबराहट या चेहरे का पसीना पोंछने के लिए उसने रूमाल टटोला। नहीं था। बेंच पर छूटने की भी कोई सम्भावना नहीं थी। जल्दी-जल्दी में यही होता है, उसने सोचा। वह साड़ी से ही मुँह पोंछना चाहती थी, लेकिन तभी एकाएक सारे प्लेटफ़ार्म में मुसाफिरों तथा सामान-लदे कुलियों की भगदड़ मच गयी · · ·

"हलो!" सहसा उसी समय अपने कन्धे पर पड़े स्पर्श से कीर्ति चौंकी। चौंकी ही नहीं, धक-सी रह गयी। क्षण के छोटे-से खण्ड में लगा था कि कहीं रञ्जन ही न हो, पर थीं वह मिसेज़ मित्तल। रॉ-सिल्क की आसमानी साड़ी में अच्छी तरह कसी-कसायी और चुस्त। किसी विदेशी सेंट की बहुत भीनी खुशबू एक क्षण के लिए हवा में ठहर गयी थी।

"अरे!" कीर्ति ने जल्दी से हाथ जोड़े, "कहाँ जा रही हैं?"

"भोपाल," मिसेज मित्तल ने इतने सहज भाव से कहा जैसे उनका भोपाल जाना रोज़-रोज़ की बात हो, "और तुम?" उनकी आँखें बार-बार कम्पार्टमेण्ट की ओर बढ़ते अपने कुली की ओर लगी हुई थीं।

"रञ्जन आ रहा है!" मिसेज मित्तल के नये रूप वाले प्रभाव से मुक्त होने के लिए कीर्ति एक साँस में कह गयी। वैसे पिछले कई घंटे से यह वाक्य उसे भीतर-भीतर तंग ज़रूर कर रहा था लेकिन इस पल मिसेज मित्तल के अतिरिक्त वह और कोई बात नहीं सोच रही थी। बरसों बाद उन्हें इतना सिंगार-पटार किये कीर्ति देखे और खुद उनकी ज़बानी भोपाल जाने की बात सुने तो फिर अविश्वास की कहाँ गुंजाइश रह जाती है!

"अच्छा!" रञ्जन की बात सुनकर एक पाँव से जमी और दूसरे से उखड़ती हुई

मिसेज मित्तल ने अपनी आँखों को और फैला लिया, पूछ रही थीं, "इसी गाड़ी से?"

"हाँ।"

"लेकिन रज्जन को लैण्ड किये तो कई दिन हो गये न, जाने कौन कह रहा था कि ···"

"उसे दिल्ली रुकना पड़ गया," आगे कुछ अप्रिय न सुनना पड़े सोचकर कीर्ति ने जल्दी से कह दिया। फिर उन्हें देखती हुई जबरन मुस्करायी। गाड़ी तब बेतरह चिंघाड़ती और धड़धड़ाती हुई प्लेटफ़ार्म में प्रवेश कर रही थी।

"अच्छा! लौटकर मिलेंगे ···" कहकर मिसेज मित्तल कब बढ़ गयीं, यह कीर्ति ने गाड़ी की हड़बड़ी में नहीं देखा। उसकी घबराहट अब पहले की अपेक्षा कई गुना बढ़ गयी थी—पसीना, गले का सूखना और हलक में चुभनेवाले काँटे। उसे अपनी स्थिति उस दिन जैसी लग रही थी जब अन्तिम परीक्षा का परिणाम आनेवाला था और उसे अख़बार की प्रतीक्षा थी। उत्सुकता की मारी वह उस दिन भी स्टेशन आ गयी थी।

वह आगे चली जाये? क्या भीड़ या धक्कापेल की परवाह किये बिना निकल जाये? एक बार कीर्ति ने सोचा, लेकिन एक सिरे से दूसरे सिरे तक उमड़ते लोगों के सैलाब को देखकर हिम्मत छूट गयी। वहाँ भी एक जगह खड़े रहने के बावजूद वह नाहक कई धक्के खा चुकी थी।

और रज्जन को वह पहचान भी सकेगी? पिछले कई दिनों की तरह आज फिर आशंका उठी—अथवा क्या उसे दूर से ही देखकर रज्जन पहचान लेगा? सात साल का अरसा कम नहीं होता—इतने में कल तक की बच्ची जवान हो जाती है, जवान के पाँव ढलवान तक पहुँच जाते हैं और बूढ़े ···

वह कई दिनों के चुने हुए उस स्थान पर खड़ी थी जहाँ से ट्रेन के लोग और बाहर जाने का रास्ता, दोनों ठीक-ठीक दिखायी दे सकें।

भीड़ रोज़ जैसी थी, गये साल जैसी या शायद गुज़रे हुए उन सात बरसों जैसी। कोई भी मौसम हो, चाहे जैसा दिन या घड़ी, यात्राओं या क्रम कभी नहीं टूटता। जब भी स्टेशन आओ, भीड़ का एक की रूप दिखायी देता है—अपने-अपने सामान, मित्र या परिवार से लदे-फँदे लोग, जो जाने कब से चढ़ या उतर रहे हैं। प्लेटफ़ार्म में प्रतीक्षा करते वही आत्मीय और प्रियजन, जिनमें से कुछ खिल उठते हैं और अनेक ···

"रज्जा ऽ ऽ न!" फर्स्ट क्लास के एक कम्पार्टमेण्ट से किसी स्वस्थ-से युवक को उतरते देख कीर्ति के मुँह से न केवल यह आवाज़ निकली, बल्कि वह झपटती हुई उधर भी बढ़ गयी थी, पर झेंपकर दूसरी ओर देखना पड़ा—और भला कुली के पीछे-पीछे कौन जा रहा है? वह ग्रे-कलर के सूटवाला—ठेले के पास खड़ी स्कर्टवाली लड़की के पीछे ··· व्बो ··· व्बो? और फिर हर गुज़रेवाले चेहरे को जल्दी-जल्दी झपकती आँखों से पकड़ने की कोशिश और पीछा ···

क्या आज फिर अकेले लौटना होगा? अन्त में गेट के पास खड़े आखिरी समूह को

देखते हुए कीर्ति ने सोचा, फिर पापा की उन्हीं आँखों का सामना जिनसे कीर्ति को दहशत होती है··· फिर माँ का वही बिसूरना जिसे सुनकर उसकी आँखें गीली होती हैं, फिर वही तनाव···

क्यों?

थोड़ी देर बाद जब गाड़ी रेंगने लगी तो बावजूद भीड़ भाड़ के जाने कैसे मिसेज़ मित्तल ने उसे देख लिया था। खिड़की के बाहर सिर निकालकर वह हाथ के इशारे से पूछ रही थीं, "क्यों?" अर्थात्–रज्जन नहीं आया?

कीर्ति कई पल निरुत्तर-सी खड़ी मिसेज़ मित्तल को देखती रही। फिर जब कुछ नहीं सूझा तो हवा में हिलते सैकड़ों रूमालों के बीच एक हाथ अपना भी उठाकर वह यों हिलाने लगी जैसे मिसेज़ मित्तल को ही छोड़ने स्टेशन आयी हो–गुड लक··· गुड लक··· और कीर्ति ही नहीं, पिछले कई दिनों से सारा घर इसी तनाव में लटका हुआ जी रहा है। तेरह दिनों पहले मंगलवार को रज्जन ने बम्बई में लैण्ड किया था और उस दिन यहाँ घर-घर की बेचैनी सीमा पर पहुँच चुकी थी।

"बेटी, कितने बजे हैं?" पापा ने उस दिन कीर्ति के कमरे में तीसरी बार आकर पूछा था।

"चार।"

"बस दो घंटे और हैं," पापा ने अपने ज्योतिहीन आँखों से एक ओर ताकते हुए कहा था, "छह बजे रज्जन का जहाज़ किनारे आ लगेगा।"

"तो कौन तुमसे वह तुरन्त आ मिलेगा?" यही बात जब उन्होंने फिर आधा घंटे बाद और सातवीं बार दोहरायी तो माँ एकाएक झल्ला पड़ी थीं, क्योंकि पापा की बैचेनी उनसे सही नहीं जा रही थी। अपने नगर से सात सौ मील दूर रज्जन बम्बई में उतर रहा था। चाहने पर भी उसके लिए इस भौगोलिक दूरी को लाँघकर फ़ॉरन आ मिलना सम्भव नहीं था, लेकिन घर में ऐसी व्याकुलता समाई हुई थी मानो छह बजे की ट्रेन से वह सीधे यहीं पहुँच रहा हो। यों रोज़ सुबह सबसे पहले पापा ही उठते थे, लेकिन उस दिन उन्होंने अपने साथ-साथ सभी को जल्दी जगा दिया था–पहले माँ, कीर्ति, फिर शोभा और यहाँ तक छड़ी टेकते-टेकते जाकर आऊट हाऊस में रहनेवाले श्यामलाल को भी उन्होंने सोने नहीं दिया था।

'आज रज्जन पहुँच रहा है,' इस वाक्य से वह दिन शुरू हुआ था और सारा दिन घिसे हुए रेकार्ड की तरह घर के कोने-कोने में वह वाक्य बजता रहा था। फिर इस रेकार्ड से छूटने के बाद पति-पत्नी के बीच रज्जन की पुरानी स्मृतियाँ दुहरायी गयी थीं, उसकी कुछ आदतों, विशेषताओं और गुणों आदि के चर्चे हुए थे और रात कीर्ति की बड़ी देर तक पापा के जागने की आहट मिलती रही थी।

सात वर्ष पहले जब रज्जन इंजीनियरिंग के एक डिप्लोमा के लिए इंग्लैड जाने लगा था तो किसी को कल्पना भी न थी कि वह इतने अरसे के लिए वहाँ रह जायेगा। केवल दो-ढाई वर्ष में लौट आने की बात थी। तब ब्याह हुए सिर्फ़ छह माह गुज़रे थे। रत्ना

को उसने इसीलिए साथ कर लिया था कि विदेश के अकेलेपन से डर लगता था। फिर अध्ययन के दौरान इधर या उधर का कोई तनाव न रहे और पति-पत्नी दोनों मिलकर वह समय काट आयें, एक उद्देश्य शायद यह भी था।

लेकिन ढाई के बदले तीन वर्ष हो गये और रज्जन लोग नहीं लौटे। एक पत्र आया कि उसे कोई टेम्प्रेरी जॉब मिल गया है। सोचा, क्यों न कर लें? कुछ नहीं तो यात्रा का खर्च ही निकल आयेगा और अगर सम्भव हुआ तो थोड़े-बहुत पैसे भी बच जायेंगे··· फिर यह सूचना आयी कि रत्ना को भी वहाँ रेडियो में नौकरी मिल गयी है और दोनों मिलकर काफ़ी कमा लेते हैं। रज्जन के शुरू-शुरू के पत्रों से अवश्य लगता था कि उसे कहीं-न-कहीं वापस लौटने की उत्सुकता है पर बाद में वह इस टर्म में सोचने लगा था कि भारत में अगर वैसी नौकरी न मिली तो?

और इस बीच कई बड़ी-बड़ी और अप्रत्याशित घटनाएँ हो गयी थीं। शोभा के बादवाला भाई जाता रहा था। कीर्ति से बड़ी बहन नलिनी ब्याह होकर बनारस चली गयी थी, पापा सरकारी नौकरी से रिटायर होकर घर बैठ गये थे, और इनमें सबसे बड़ा हादसा यह हुआ कि पापा की आँखें अकस्मात् जाती रहीं।

'मुझसे बड़ा अभागा और कौन होगा', इस खबर के मिलते ही रज्जन ने बेहद दुखी स्वर में लिखा था, कि इतनी बड़ी बात हो जाये और मैं आपके पास न होऊँ। सचमुच मैं नराधम हूँ या यह मेरे पूर्व-जन्म के पापों का फल है कि इतना सब होने के बाद भी मैं आपसे हजारों मील दूर पड़ा हूँ ··· लेकिन पापा, आप चिन्ता मत करें—मैं आजकल में यहाँ के आई-स्पेशलिस्ट से कन्सल्ट कर रहा हूँ और मुझे विश्वास है कि जिस दिन आपको यहाँ ले आऊँगा, सब ठीक हो जायेगा।

खत सुनकर पापा रो पड़े थे। कीर्ति से पत्र लेकर कुछ देर वे उस पर यों हाथ फेरते रहे थे मानो अँगुलियों में आँखें उतर आयी हों, फिर भर्राये कण्ठ से उन्होंने इतना ही कहा था, "कीर्ति की माँ, ईश्वर की सौगन्ध! अब मुझे आँखों का अफसोस नहीं रहा ···"

और उस दिन कई महीनों के बाद समूचे घर के लोग पापा के कमरे में इकट्ठे हुए थे। उन्हें घेरकर कीर्ति, शोभा और माँ सभी बैठ गयी थीं और पापा ने अपनी आदत के अनुसार नौकरी के दिनों वाले बरसों पुराने किस्से सुनाये थे—वे किस्से जिन्हें इससे पहले भी कई बार उन्होंने सारे घर को सुनाया था।

गेट के बाहर ही कीर्ति ठिठक गयी।

तीन-चार दिनों से यही हो रहा था। स्टेशन से लौटते में पैदल तय करनेवाला रास्ता चाहे जल्दी से कट जाये, घर आते-आते अक्सर कदम धीमे पड़ जाते थे। गेट में से गुजरते वक्त लगता जैसे किसी ने पाँवों में पत्थर बाँध दिये हों और ···

बात बिल्कुल नयी न थी लेकिन आज से पहले कीर्ति ने अपने को इतना अवश कभी भी महसूस नहीं किया था। उसे लगा कि और दिन भले ही भ्रम होता रहा हो,

आज की स्थिति दूसरी है। आधारहीन ही सही, जाने क्यों वह बहुत ज़ोर से महसूस कर रही थी कि रञ्जन ज़रूर आ गया है और भीतर प्रवेश करके ही वह देखेगी कि वह पापा के पास बैठा हुआ है। बहुत मुमकिन है कि स्टेशन की भीड़-भाड़ में वह मिस कर गयी हो, या उसने पहचाना ही न हो! और रञ्जन निकल आया हो।

मटियाले अँधेरे से घिरी हुई शाम ··· हवा में हल्की-सी खुनकी थी। छिटपुट या इक्का-दुक्का घरों की बत्तियाँ मुहल्ले के सभी अँधेरे और निर्जन कोनों को घूर रही थीं। ऐसे में बेहद मद्धिम रोशनी में डूबा हुआ अपना मकान एक क्षण के लिए कीर्ति को भुतहा और रहस्यमय-सा लगा! ··· यह सारे घर में अँधेरा क्यों कर रखा है? वह मन-ही-मन झल्लाती—इतने दिनों बाद रञ्जन आये और फिर भी उजाला न हो तो कब होगा? ··· और आज श्यामलाल बेवक्त कैसे? वह चौंकी, साइकिल लेकर दूसरे गेट से जल्दी-जल्दी वह कहाँ निकल गया?

कीर्ति का जी अचानक ज़ोर-ज़ोर से धड़कने लगा। लम्बे-लम्बे डग से धड़धड़ाती हुई वह अहाते का भीतर वाला मैदान, छोटा बग़ीचा और दालान पार करती हुई भीतर चली गयी। पर कहीं कोई न था। न कोई होलडाल-सूटकेस और न किसी की विदेशी स्लिपों वाली अटैची ··· वही रोज़ का मद्धिम रोशनी वाला बड़ा मकान, जिसमें तीन-चार लोग ऐसे खो जाते थे कि पता ही नहीं लगता था।

"कीर्ति!"

लम्बा और संकरा गलियारा पार कर वह दूसरे छोर वाले कमरे की ओर जाना चाहती थी कि चौंक गयी। अँधेरे गलियारे में माँ प्रेत की तरह खड़ी थीं!

"कौन?" उसी समय सहसा पापा के कमरे से अधीर-सी आवाज़ आयी, "क्या कीर्ति आ गयी? कीर्ति ···"

"हाँ, कीर्ति आ गयी!" दो क्षणों की चुप्पी के बाद भी माँ ने घसीटते हुए शब्दों में जवाब दिया। इस बीच केवल एक बार उन्होंने कीर्ति की ओर देखा, फिर हट गयीं।

और बस। किसी ने न कुछ कहा, और न कुछ सुना। जैसे न अब तक कीर्ति की प्रतीक्षा थी और न उसके साथ बँधी हुई कोई आशा।

पिछले बारह दिनों से इस समय सारा घर कण्ठों में प्राण लिये बैठा रहता था। पल-पल कीर्ति की बाट देखी जाती थी। पहले दो दिन स्वयं पापा स्टेशन तक चले गये थे, बम्बई से आनेवाली कई गाड़ियाँ उन्होंने देखी थीं। वह तो बाद में पता चला था कि रञ्जन यहाँ आने के बदले सीधे दिल्ली चला गया था—रत्ना के घर। और कई बार बदले हुए तथा स्वयं निर्धारित किये कार्यक्रम के बावजूद आज तेरहवें दिन भी रञ्जन का पता नहीं।

अपने कमरे में पहुँचकर बड़ी देर तक कीर्ति को लगता रहा कि आज भी माँ ज़रूर दबे-पाँव आयेंगी। शायद और दिनों की तरह पापा के कान बचाकर धीरे-से कहें—'कीर्ति, जा, रञ्जन को एक तार और कर आ ··· इसने तो खेल बना रखा है। अरे, अगर यहाँ न आना था तो न आता। लिख-लिखकर सबको परेशान करने की क्या ज़रूरत थी!'

पिछले दो तार ऐसे ही हुए थे और गये-दिन जो 'ट्रंक' लगाया जा रहा था, उसके पीछे भी यही था।

पर सचमुच माँ नहीं आयीं। खाने की सूचना लेकर शोभा पहुँची थी।

"आज मिसेज़ मित्तल मिल गयी थीं!"

खाने की मेज़ पर भी जब वही तनाव गिद्ध के डैनों की तरह मँडराता रहा तो कीर्ति ने केवल बात करने के लिए सप्रयास बात शुरू की।

"कहाँ?" उदासीन भाव से माँ ने पूछा।

"स्टेशन पर।"

"अच्छा।"

"वह भोपाल जा रही थीं," कहकर कीर्ति ने तत्काल माँ की ओर देखा। उसका अनुमान ठीक था। मिसेज़ मित्तल के साथ भोपाल का नाम सुनते ही माँ बेतरह चौंकीं। मुँह की तरफ़ बढ़ता उनका हाथ सहसा रुक गया, जैसे अचरज-भरी घटना की ख़बर दी गयी हो। साहचर्य पूछा, "किसने कहा?"

"वह खुद कह रही थीं।"

विश्वास करने के प्रयास में माँ कीर्ति को घूरती रहीं। एक क्षण के लिए उनकी आँखों में अजब-सा भाव तैर आया। जाने वह छोटी-सी खुशी का था या अचानक लगे हल्के-से धक्के का। कीर्ति से आँखें हटाकर, ठिठका हुआ जूठा हाथ लिये दो-एक पल वह एक अँधेरे कोने को घूरती रहीं, फिर 'यही होता है' का भाव लिये चुपचाप खाने लगीं···

उस दिन जिसने मिसेज़ मित्तल का उतना दृढ़ स्वरूप देखा हो, उसके लिए सचमुच यह विश्वास करना कठिन है कि आखिर वह उस बिन्दु पर आ गयीं, जिसका बरसों से वह अकेले दम पर विरोध कर रही थीं।

यों पड़ोसी-जैसी-पड़ोसी मिसेज़ मित्तल नहीं थीं। एक तो घर उनका दूर था और दूसरे स्वभाव से वह रूखी और घमण्डी लगती थीं। शायद इसीलिए आने के बाद भी काफी अरसे तक सभी से अपरिचय बना रहा। लेकिन जब कीर्ति से परिचय हुआ तो सारी दूरी तो जाती ही रही, वह रहस्य भी नहीं रह गया, जो उनके बारे में पहले दिन से, मुहल्ले ही नहीं सारे नगर में, बना हुआ था। विवाहिता और पराये शहर की होते हुए भी उन्होंने इस नयी जगह में आकर नौकरी कर ली थी। यहाँ उनका न कोई रिश्तेदार था और न कोई परिचित। बहुत सीधे-सादे ढंग से एक कमरा लेकर वह अकेली रहती थीं—अकेली ही नहीं, अलग-अलग और सभी से कटी हुई। शायद इसीलिए लोगों में कानाफूसियाँ थीं कि क्या कोई भी जवान औरत किसी नये शहर में अकेली जान रह सकती है? मिसेज़ मित्तल अगर सचमुच विवाहिता या सुहागन हैं तो कभी उनका पति उनके पास क्यों नहीं आता, अथवा पिछले तीन बरसों में एक बार भी अपने पति के पास भोपाल क्यों नहीं गयीं?

"और समझ में नहीं आता कि लोगों को दूसरे की ज़िन्दगी में इतनी दिलचस्पी क्यों होनी चाहिए?" कीर्ति से पहली या दूसरी भेंट पर ही अत्यन्त दुःखी होकर मिसेज़ मित्तल ने कहा था, "क्यों मैं हर किसी से बताती फिरूँ कि मैं ब्याहता या सुहागन हूँ··· कि हम पति-पत्नी में कितना प्यार था··· महेश ने अचानक कैसे मेरे साथ धोखा करना शुरू कर दिया और कैसे अलग होकर मैं इसी बात पर आज तक उससे लड़ रही हूँ"

और उसी दिन कीर्ति ने पहली बार जाना था कि इस भुखमरी दुनिया में आज भी ऐसे लोग हैं जो टूट भले ही जायें, झुकना या समझौते करना नहीं जानते। अगर प्रेम-विवाह के साल-दो साल बाद ही महेश किसी रूप-जाल में उलझकर नये 'अफ़ेयर' में फँस जाये तो मिसेज़ मित्तल जैसी कोई भी स्वाभिमानी औरत और क्या कर सकती थी!···

कीर्ति को लगा जैसे वह अकेली नहीं, चुपचाप कौर उठाती हुई माँ भी आज उसी दिन की बात सोच रही हैं—उस दिन जब शोभा के बर्थडे के बाद मिसेज़ मित्तल आयी थीं। घर में बीते हुए एक छोटे-से उत्सव के अवशेषों के बीच उस दिन माँ को जाने क्या सूझी कि ट्रंकों में एक ज़माने से बन्द ढेर-से पुराने और कीमती कपड़े वह निकाल लायी थीं। फिर उन्हें मिसेज़ मित्तल के सामने फैलाकर बैठते हुए पूछा था, "तुम्हें रफू करना आता है?"

मिसेज़ मित्तल ने हँसकर नहीं कर दी थी।

"ये कपड़े मेरी शादी के हैं," माँ बोली थीं, "कुछ शायद उससे भी पहले के। रखे-रखे फटते देख जी दुखता है, तो जानती हो क्या करती हूँ? रफू कर-करके फिर सहेज देती हूँ। मेरी तो अब पहनने की उम्र नहीं रही, कीर्ति-नलिनी से पहनने को कहती हूँ तो ये लोग हँसती हैं!"

मिसेज़ मित्तल एक-एक साड़ी का पल्ला लेकर उन पर किया सोने-चाँदी का काम देखने लगी थीं।

"तुम भोपाल कब जा रही हो?" और बीच में बिल्कुल अचानक, बिना किसी प्रसंग के माँ ने पूछ दिया तो कीर्ति ने स्पष्ट देखा कि मिसेज़ मित्तल का चेहरा एकदम उतर गया है! अपने को जैसे-जैसे सँभालकर उन्होंने सूखे होंठों से जवाब दिया था, "अभी तो ऐसी कोई बात नहीं··· क्यों?"

"क्यों क्या?" माँ बोली थीं, "दुनिया में यह सब तो चलता ही रहता है, तुम अकेली कहाँ तक लड़ोगी?··· किसी चीज़-से अगर सचमुच प्यार हो या वह क़ीमती हो तो टूट-फूट जाने पर भी उसका मोह नहीं जाता। मुझे देखो···"

और फिर पुराने कपड़े वाले उदाहरण के अतिरिक्त उनकी ढेरों दुनियादारी की बातें, जिनमें से हरेक का इशारा बस एक ही ओर जाता था। यहाँ तक कि अन्त में मिसेज़ मित्तल घबराकर किसी बहाने से कीर्ति के कमरे में उठ आयी थीं। एकान्त में कीर्ति के सामने उन्होंने आँसू पोंछे थे। क्रोध और अपमान से तमतमाया चेहरा लिये वह बड़ी देर

तक चुप रही थीं और जब माँ के ही स्वर में कीर्ति ने तसल्लियाँ देनी चाही थीं तो आवेश में आकर उन्होंने अपने जूड़े में खुँसा फूल निकाल लिया था। कुछ देर वह उसकी पंखुड़ियों को सहलाती रही थीं, मानो कोई गहरा-सा जवाब देने के पहले अपने शब्दों को तोल रही हों। अन्त में उसकी एक पंखुड़ी को नाखून से चीरकर भरे गले से पूछा था, "इसे रफू कर सकती हो?"···

और कीर्ति को हाथ खींचते हुए देखकर माँ ने सहसा टोक दिया, "तूने तो कुछ खाया ही नहीं!"

"बस," कीर्ति अनमने भाव से उठी और हाथ धोने के लिए वाश-बेसिन की ओर बढ़ी।

"सोने से पहले बत्ती बुझा देना," जाती हुई कीर्ति को माँ ने रोज़ की तरह हिदायत दी, "नाहक मुझे परेशान होना पड़ता है··· और शोभा अगर ज़िद करे तो अपने पास ही सुला लेना, अच्छा?"

रज्जन के बारे में कोई बात नहीं, एक भी शब्द नहीं···

रात कई बार कीर्ति को भ्रम होता रहा कि माँ उसके कमरे में आयी है। वह कई बार अचकचाकर उठी, लेकिन रात के सन्नाटे में पापा के कमरे से खाँसने और बार-बार बेचैन करवटें बदलने के अतिरिक्त और कोई आहट नहीं आ रही थी।

लेकिन तेरह दिनों से जिस रज्जन के आने की इतनी धूम थी, वह आया तो तब जबकि उसे लेने के लिए घर की दहलीज़ पर भी कोई नहीं था।

सुबह के तीन बजे थे और सारा घर सो रहा था। कीर्ति से ख़बर सुनते ही पापा हड़बड़ाकर उठ बैठे, अपनी छड़ी के लिए एक पल वह हवा में हाथ चलाते रहे, फिर केना के जवान पत्तों की तरह बाँहें फैलाकर थरथराते हुए खड़े हो गये।

रज्जन ने आगे बढ़कर उनके पाँव छुए। पीछे-पीछे रत्ना थी।

'तूने तो बड़ा इन्तज़ार कराया'—अपने चरण छुए जाने के बीच माँ कहना चाहती थीं—'यहाँ तो कई दिनों से यह हाल है कि··· ' पर कहा नहीं गया। किसी से कुछ नहीं कहा। तभी वहाँ शोभा आ गयी और बरसों बाद हमउम्र भाई-बहनों के मिलने का शोर सारे घर में गूँजता हुआ पास-पड़ोस तक जा पहुँचा।

"अरे, शोभा! तू इतनी बड़ी हो गयी?"

"और क्या उतनी ही बनी रहेगी?" माँ बोलीं।

"रत्ना, तुम्हें याद है," रज्जन ने कहा, "यह कितनी-सी थी। और कीर्ति को तो देखो, कमबख़्त, अच्छी-खासी महिला बन गयी है?"

"और जो मैंने एम० ए० पास कर लिया है, वो?" कीर्ति बोली, "लेक्चरर हो गयी हूँ, वो? तुम लोगों के बराबर कमाने लगी हूँ, वो? इनमें से किसी की बधाई नहीं? रज्जन, इस बार तो मुझे भी अपने साथ इंग्लैण्ड ले चल।"

"अच्छा! अच्छा!!" रज्जन ने चिढ़ाया, "कभी आइने में अपनी शक्ल देखी है?"

और उस धमाचौकड़ी में कीर्ति के अतिरिक्त किसी ने नहीं देखा कि पापा की उठी

हुई बाँहें कैसे नीचे गिरीं।

"देखो, मैं तुम सबके लिए क्या-क्या लेकर आया हूँ!" फिर बीच में ही उठकर रज्जन ने ट्रंक खोला और माँ के मना करने तथा यह कहने के बावजूद कि दिन में देख लेंगे, उसने एक-एक करके सारी चीज़ें उत्साहपूर्वक फैला दीं—पापा के लिए ऊनी कोट, माँ के लिए कार्डिगन, शोभा के लिए नये प्रकार के खिलौने और कीर्ति-नलिनी के लिए स्वेटर तथा सकार्फ!

रत्ना यह बताती रही कि प्रेजेण्ट्स के एक-एक पीस के लिए उन्होंने लन्दन की कितनी-कितनी दूकानें देखी थीं और कितने अम्बार में से पसन्द किया था!

पापा ज्योतिविहीन आँखों से अपने परिवार को घूरते हुए अपरिचितों की तरह सुन रहे थे।

अगला दिन कीर्ति के घर ऐसे आया जैसे बरसों पहले कभी आया करता था। सुबह से मिलने-बैठनेवालों का ताँता लग गया—उनमें पापा के मित्र थे, माँ की परिचित महिलाएँ थीं, कीर्ति-शोभा की सहेलियाँ थीं और सबसे अधिक संख्या थी रज्जन के उन दोस्तों की, जिनके साथ उसने बचपन और स्कूल के दिन गुज़ारे थे।

"अब तो तुम्हारा साथ भी फ़िजूल है!" दोपहर को दिन-रात के संग-संग बैठने वाले शर्माजी ने कहा तो पापा एकाएक चौंके, "क्यों?"

"अरे भाई, अब तुम यहाँ हो ही कितने दिन!" दूसरे मित्र सक्सेना ने कहा, "चन्द दिन ही तो न? रज्जन आ गया है। तुम्हें अपने साथ ले जाये बिना थोड़े ही मानेगा।"

"अच्छा वोह···" पापा साँस छोड़कर धीरे-से राहत-भरी हँसी हँसने लगे, "देखो, क्या होता है! पीछे तो वह बहुत दिनों से पड़ा है। मैं ही अब तक चुप बैठा रहा। कभी सोचता हूँ कि रज्जन की बात मान लूँ। कभी हिम्मत नहीं होती। इसी चक्कर में मैंने यहाँ किसी डॉक्टर को भी नहीं दिखाया··· सच पूछिए तो शर्माजी, अपना देश छोड़ने के नाम पर ही जी कचोटता है।"

"तो कौन-सा आपको हमेशा के लिए जाना है!" शर्माजी बोले, "आँखें वापस मिल जायें, चले आना!"

पापा कुछ सोचने लगे, मानो उसी समय निर्णय कर रहे हों कि उन्हें रज्जन के साथ जाना है अथवा नहीं। निश्चय ही शर्माजी, सक्सेना या सभी लोगों को लग रहा था कि रज्जन के आने का अर्थ ही उनका जाना है। पत्नी-बच्चे ही नहीं, स्वयं उन्होंने यह बात कई लोगों से कह रखी थी। लेकिन आज जिस वास्तविकता का पता शर्माजी, सक्सेना या बाहरवालों में से किसी को नहीं था, उसे याद कर उन्हें अजीब-सी व्याकुलता हो रही थी। मन की चिकनी और बेहद बिछलन-भरी दीवार पर जो साँप की तरह चढ़ और गिर रहा था, वह यह भय था कि रज्जन कहीं अपने पत्र की बात भूल तो नहीं गया! आने के बाद से आँखों के बारे में औपचारिक-सी पूछताछ के अलावा और कोई बात नहीं हुई थी! उँह, होगी··· लड़का है। बरसों बाद आया है, पहले उसे दम मारने की

फ़ुरसत तो मिले!

रात को जब माँ ने उनसे खाने के लिए कहा तब भी वह शायद उसी मुद्रा में थे, बोले, "रज्जन को आने दो।"

"उन लोगों का कोई ठीक भी है!" माँ ने कहा, "सैर-सपाटे को गये हैं। जाने कब तक आते हैं!"

"आखिर आयेंगे तो," पापा बोले, "कीर्ति-शोभा को भूख लगी हो, तो खिला दो।"

पर जाने क्यों, भूख किसी को नहीं थी। पिछली रात की तरह सभी उस रात भी ग्यारह बजे तक रज्जन-रत्ना की प्रतीक्षा करते रहे। इस कोशिश में शोभा भूखी ही सो गयी और तब भी उठाये नहीं उठी, जब कि वे लोग लौट आये।

पार्टियां और पिक्चरें···

पहली दोपहर को छोड़कर तीन दिनों में न कोई रात खाली गयी और न कोई दिन। पार्टियों और पिक्चरों का सिलसिला मुतवातिर चला और रज्जन को लगता रहा कि कुछ देर से घर आकर उसने सचमुच ग़लती की है। नगर में दोस्त या मिलने-जुलने वाले क्या एक-दो थे कि उन्हें आसानी से निपटा दिया जाता! वहाँ तो जिसके साथ कोताही करो उसे ही शिकायत हो रही थी।

"रज्जन जाने की कह रहा था!" उस रात कीर्ति ने पापा के कमरे में माँ को कहते सुना।

"किसके जाने की?" पापा ने चौंककर पूछा, "मेरे?"

"नहीं," दूसरी ओर देखकर माँ धीरे-से बोली, "उसके अपने ही जाने की बात थी। कह रहा था, उसे जल्दी लौटना है और दिल्ली में भी एक-दो दिन का काम है।"

बड़ी देर तक पापा ने कुछ नहीं कहा।

"ये लोग नलिनी के पास बनारस जा रहे थे?"

"अब नहीं जा रहे।"

"क्यों?"

"वक्त नहीं है," माँ बोली, "मामा के पास जयपुर जाने वाला प्रोग्राम भी, सुना रद्द कर दिया है। रत्ना कह रही थी कि उनके प्रेजेण्ट्स भिजवा दें··· देखते हो इतने वर्षों बाद आया और बहन से मिले बिना चला जाना चाहता है। सोचो, नलिनी क्या कहेगी!"

कुछ देर पापा और चुप रहे।

"रज्जन और कुछ कह रहा था?"

"कब?" कहकर माँ ने पापा की ओर देखा तो, लेकिन दूसरे ही क्षण सँभल भी गयीं। अपने ही प्रश्न को समेटती हुई बोलीं, "अरे, उसे मेरे पास बैठने या बात करने की फ़ुरसत कहाँ है! कल यह ज़रूर पूछ रहा था कि पापा को कोट पसन्द आया!"

और तब चारपाई बजने की आवाज़ से कीर्ति ने अनुमान लगाया कि पापा ने फिर वही बेचैन करवट बदली है।

स्टेशन से बहार आकर कीर्ति ने मुक्ति की साँस ली। उसे लग रहा था जैसे एक लम्बे समय के बाद किसी भयंकर तनाव से छुटकारा मिला हो। अजीब बात है कि रज्जन और रत्ना को गाड़ी में बैठते देख उसे ज़रा भी कचोट महसूस नहीं हुई थी। उसे कुछ वैसे हल्केपन का अहसास हो रहा था जैसे किसी छोटी हैसियत के आदमी को बड़े मेहमानों के विदा करने पर होता है!

चलने से पहले रज्जन और रत्ना दोनों ने अलगाव और बिछोह के औपचारिक शब्द कहे थे, लेकिन कीर्ति से कुछ भी नहीं बना था। उसने लाख चाहा था कि रज्जन की बात रख ले। कई बार रत्ना के सामने उसने भूमिका भी बाँधी थी लेकिन लगा था जैसे भीतर कहीं से विद्रोह हो रहा है, और वह उसके सामने घुटने टेककर अवश हो गयी है।

"कीर्ति, तू मेरी एक बात मानेगी?" प्लेटफ़ार्म पर रज्जन ने किसी बहाने उसे रत्ना से अलग ले जाकर कहा था।

"क्या?"

"सच बात तो यह है कि यह मैं तुझी से कह सकता हूँ, इसलिए कि तू बहन भी है और समझदार भी··· ये मदर-फादर को क्या हो गया है? हम लोग इतने-इतने बरसों बाद आये, लेकिन लगा जैसे किसी को खुशी ही नहीं हुई। सारा वक्त पापा उखड़ी-उखड़ी बातें करते रहे और माँ का मुँह सूजा रहा। मैं तो ख़ैर घर का हूँ, शिकायत करके भी कहाँ जाऊँगा! रत्ना के दिल को इससे बड़ा धक्का लगा है। कह रही थी कि इतनी भावना से लाये हुए प्रेजेण्ट्स किसी ने एप्रिशियेट तक नहीं किये। पापा ने तो कोट को छूकर भी नहीं देखा। तू अगर उसे बातों-ही-बातों में यह विश्वास दिला दे कि उन प्रेजेण्ट्स से घर-भर के लोगों को कितनी खुशी हुई है तो···"

उसे क्या हो गया था! कीर्ति ने सोचा—रज्जन का इतना-सा आग्रह रखते उससे क्यों नहीं बना? झूठ ही सही, क्या वह रत्ना से नहीं कह सकती थी कि···

"और भला तुमसे क्या कह गयी थी?" अचानक उसके कन्धे पर हाथ रखकर रमा सेन पूछ रही थीं। कीर्ति सहम गयी। खीझ-सी हुई कि जो रमा सेन स्टेशन से उसके साथ-साथ टैक्सी में चली आ रही थी, उसकी उपस्थिति वह इतनी देर से कैसे भुला बैठी थी! और कौन क्या कह गयी थी? कौन··· हाँ, मिसेज़ मित्तल··· स्टेशन पर मिलने के बाद से वे लोग उन्हीं के बारे में बातें करती आ रही थीं। चाहे-अनचाहे, जगह-बेजगह मिसेज़ मित्तल का ही प्रसंग।

"मुझसे तो कहा था दो-चार रोज़ में आ जायेंगी।"

"उन्होंने सभी से यही कहा था," रमा सेन बोलीं, "मुझसे भी! लेकिन मैं तब भी जानती थी कि वह लौटकर नहीं आयेंगी और इसी तरह एक दिन उनका इस्तीफा आ जायेगा। असल में, कीर्ति, जहाँ तक मैं जानती हूँ अपने किसी प्रियजन से प्रेम करना जितना आसान है, चोट लगने के बाद भी उससे घृणा करके रह सकना उतना ही मुश्किल। जिस दिन मैंने मिसेज़ मित्तल जैसी पढ़ी-लिखी महिला को चूड़ियों वाले एक

छोटे-से अपशकुन से घबराते देखा था उसी दिन मैं समझ गयी थी कि उनके सारे बन्द टूट गये हैं।"

"घर के लिए और कितना रास्ता बाक़ी है?" ऊबी हुई कीर्ति ने खिड़की के बाहर सिर निकालकर देखा। उसे कम-से-कम उस समय मिसेज़ मित्तल वाली चर्चा में ज़रा भी रुचि नहीं रह गयी थी और रमा सेन की बातें बेतरह थका रही थीं।

फिर वही अपने ही घर में प्रवेश करने का भय ···

गेट में से गुज़रते हुए आज कीर्ति के पाँव ठिठके नहीं, लेकिन कहीं अचेतन मन में बैठे हुए भय ने अपना सिर फिर उठा लिया था। वही मटियाले अँधेरे से घिरी हुई शाम, छिटपुट या इक्का-दुक्का घरों की बत्तियाँ, मुहल्ले के सूने तथा निर्जन कोने ··· और बेहद मद्धिम रोशनी में डूबा हुआ मकान ···

बरामदे में चोरों की तरह प्रवेश करते हुए कीर्ति को याद आया कि आज घर में शोभा भी नहीं है। रञ्जन-रत्ना से मिलने आयी मौसी के साथ ही वह चली गयी थी। घर और उजाड़ हो गया! वह जानती थी कि घर की क्या तस्वीर होगी! जो पापा रञ्जन को छोड़ने के लिए दहलीज तक भी नहीं आये थे, उनसे चारपाई छोड़ उठने की उम्मीद करना फिजूल की बात थी ··· और माँ? किसी अँधेरे कोने में चटाई डाले पड़ी होंगी।

कीर्ति थक गयी थी। अच्छा हुआ कि आज शोभा भी नहीं थी। वह चाहती थी कि माँ या पापा किसी का भी सामना किये बिना सीधे अपने कमरे में भागे और बिस्तर पर टूट पड़े। उसने अँधेरा गलियारा पार भी कर लिया था, लेकिन पापा के कमरे से फूटने वाली रोशनी ने उसे सहसा चौंका दिया।

गुज़रते-गुज़रते भी वह पापा के कमरे के पास ठहर गयी।

"कौन?" उसी समय भीतर से पापा की आवाज़ आयी। कीर्ति भयभीत चोर की तरह दीवार से सटकर खड़ी हो गयी।

"कोई नहीं है," एक क्षण बाद इधर की आहट लेकर माँ ने आश्वस्त करते हुए कहा।

"अच्छा! मुझे लगा जैसे कीर्ति आ गयी।"

सुनकर कीर्ति से बिल्कुल रहा नहीं गया। कोई पाप होता है तो हुआ करे, सोचकर चलते-चलते ही सही, उसने कमरे में झाँककर देखा तो कई क्षण तक आश्चर्यचकित-सी देखती रह गयी—पापा ने वही कोट पहन रखा था, जिसे रञ्जन के रहते उन्होंने छुआ भी नहीं था! सामने कार्डिगन पहने माँ खड़ी थीं, और उन्हें कन्धों से पकड़े, कार्डिगन के एक-एक हिस्से को अँगुलियों से टटोलते हुए पापा पूछ रहे थे, "इसका रंग कैसा है, नीला?" □

# निर्वासन

## से. रा. यात्री

(जन्म : सन् 1933 ई.)

चपरासी हाथ में रजिस्टर लिये खड़ा था और मुझे एकटक घूरे जा रहा था। रजिस्टर दिन में कई बार आते हैं और मैं बरसों से मशीनी ढंग से उन पर दस्तखत करता आ रहा हूँ। अब कोई सन्दर्भ मेरे लिए अजाना नहीं है। कोई मीटिंग होगी। बाहर से आया हुआ कोई वक्ता होगा या फिर दैनिक कार्यक्रम में कोई शिथिलता अथवा दरार आ गयी होगी। बहरहाल अध्यापकों के लिए मिल बैठना जरूरी हो गया है।

चपरासी ने रजिस्टर मेरे आगे कर दिया। मैं फीस के रजिस्टर पर लड़कों की फीस चढ़ाकर तखमीना लगा रहा था। वह एक ऐसी बेहूदा क्रिया है जिस पर हर अध्यापक का घण्टा डेढ़ घण्टा रोज गारत हो जाता है। इतने पर भी छह-छह पैसे करके जोड़ा जानेवाला गणित कहीं-न-कहीं भटककर गुमराह कर देता है। मैंने 'ओडविजूयल' वाले कालम को ऊपर से नीचे और अन्त तक कई बाद टटोला, पर बात चन्द पैसों पर आकर अड़ियल टट्टू होकर रह गयी। 'हाँ, भई रामदत्त लाओ-" कहकर मैंने बिना इबारत पढ़े हस्ताक्षर बना दिये, चपरासी रामदत्त विद्यालय का घण्टा पीटते-पीटते एफ० ए० पास करके अब बी० ए० करने के फेर में है इसलिए रजिस्टर पर काले-नीले अक्षर उसके लिए महज भैंस बनकर नहीं रह गये हैं। वह कुछ संजीदा लग रहा था। बोला-"पढ़ तो लेते पहले"-मैंने उसका चेहरा उड़ती-सी नजर से देखा और रजिस्टर पर लिखे समय को एक नजर देखकर रजिस्टर उसकी ओर बढ़ा दिया। रामदत्त रजिस्टर लेकर तत्काल चला नहीं गया। वह सम्भवत: कुछ कहना चाहता था पर मैंने उससे कोई बात नहीं की। यों मेरे साथ के अध्यापक जानते है कि मैं चपरासियों से कभी-कभी लम्बे वक्त तक बातें करता रहता हूँ। वह कहें-न-कहें मगर चपरासी से बातें करने का साफ आशय यह है कि मैं मिनियल स्टाफ से बात करनेवाला झक्की हूँ। रामदत्त मेरी व्यस्तता टूटते न देखकर आख़िर चला गया।

ठीक वक्त पर मैं 'सभाकक्ष' में पहुँच गया। वहाँ प्रिंसिपल के अतिरिक्त कुल जमा

पाँच सीनियर मौजूद थे। मुझे हैरत हुई। करीब पचास-पचास आदमी स्टाफ-रजिस्टर पर हैं लेकिन उपस्थित दस प्रतिशत ही हैं। मैंने अपने आसपास बैठे सहकर्मियों की तरफ देखा। मुझे कुछ-कुछ लगा कि वे मुझे कनखियों से देख रहे हैं, गोया मुझे देखने-परखने की कोई नयी नजर उन्हें आज और अभी-अभी मिली है। प्रिंसिपल ध्यानस्थ और एकदम चुप था। मैंने सबकी तरफ से आँखें हटाकर दरवाजे की ओर देखना शुरू कर दिया।

यह चुप्पी कोई दस मिनट तक बरकरार रही और इस दौरान बाहर से कोई नहीं आया। सच बात तो यह है कि मुझे बराबर यही अहसास होता रहा कि जैसे यह शोक प्रस्ताव के बाद का शान्तिकामी मौन है। प्रिंसिपल ने वाणिज्य विभाग के अत्यन्त मोटे थुल-थुल 'एक्जामिनेशन इनचार्ज' से कहा–"शुरू करें?"

उसने अपनी बिज्जू जैसी आँखें मटकायीं और चापलूसी के स्वर में बोला, "और क्या, आपने इतने ही लोगों को तो बुलाया था–" जबकि मैं कमरे में दाखिल हुआ था तो सब लोगों ने मुझे ध्यान से देखा था लेकिन प्रिंसिपल के 'शुरू करें?' कहते ही सब इधर-उधर ताकने लगे। उनके लिए मैं ऐसा हो गया गोया अजनबी होऊँ।

बोलने से पहले प्रिंसिपल ने गला साफ किया और अपनी टाई की गाँठ को बेवजह सँवारा। फिर मेरी ओर मुखातिव होकर बोला, "वर्माजी, मैं आपको एक सलाह देता हूँ।" उसका गला भर्रा-सा गया। मैंने नोट किया, वह कोमल स्वर में बोलने की कोशिश कर रहा है। वैसे उसकी आवाज खासी करख्त और चिढ़ाने की सीमा तक आदेशात्मक हुआ करती थी। मेरे चेहरे पर सरसरी निगाह डालकर वह आगे बढ़ा, "आप कुछ दिनों की छुट्टी ले लीजिए। कपम्लीट रेस्ट कीजिए। और जब आपकी सेहत सुधर जाये तो नेस्ट सेशन में आ जाइए। मेडिकल फिटनेस का सर्टिफिकेट दे दीजिएगा।" इस तजबीज के बाद वह जबरदस्ती खाँसने लगा। उसकी कराहने-जैसी खाँसी से मुझे लगा कि उसे अपने प्रस्ताव के औचित्य पर खुद ही सन्देह है।

मैं उसकी बात सुनकर सन्नाटे में आ गया। अपने चारों तरफ आँखें घुमाने के बाद मैंने स्वयं को देखा। लगभग सब कुछ सामान्य ठीक-ठाक था। मेरी पतलून के बटन बन्द थे। हालाँकि जूतों की हालत काफी खस्ता हो चली थी लेकिन उनके तस्मे ठीक मजबूती से बँधे थे। इन बेडौल जूतों पर मैं जल्दी-जल्दी पालिश फेर लिया करता था। शायद परसों या उससे एक-दो रोज पहले ही मैंने पालिश की थी। तो मैं जूते खरीदने की बाबत बहुत दिनों से सोच रहा था लेकिन सिर्फ सोचते चले जाने से तो कुछ नहीं होता। मेरी तरह असंख्य लोग जूते खरीदने की बात सोचते चले जाते हैं पर एक 'लेकिन' हमेशा आड़े आ जाता है। मैंने अपने कोट का जायजा लिया। वह भी कहीं से फटा-वटा नहीं था। पन्द्रह-सोलह साल पहले सिले उस कोट का मौलिक रंग-रूप वह नहीं था, लेकिन मैं इस दरम्यान एक शताब्दी पीछे जा चुका था। इसलिए किसी खास समय पर 'फिटवेल टेलर्स' का बनाया हुआ कोट अब किसी दूसरे के नाप का नजर आने लगा था। हाँ, एक बात और, मैं कोट का हवाला देते हुए कुछ अतिशयोक्ति

में चला गया। वास्तविकता यह है कि मैंने इसे छह-सात साल हुए पलटवा लिया था। जब यह पहली बार बना था तो मैंने ऊपरवाली बायें हाथ की तरफ जेब नहीं लगवायी थी, क्योंकि मेरा इरादा बाद में इसे पलटवाने का था। अगर मैं शुरू में ही ऊपर जेब लगवा लेता तो कोट पलट जाने के बाद जेब के निशान दाहिनी तरफ आ जाते। उस जेब की मुझे जरूरत भी नहीं थी। उस जेब में लोग दिखावट के लिए रूमाल रखते हैं या फिर फाउण्टेनपेन खोंस लेते हैं। मेरा रूमाल कितना भी धुला या साफ हो लेकिन कुछ घण्टों के बाद मुड़ा-तुड़ा, गुड़ी-मुड़ी हो जाता है। मैं उसे पतलून की जेब में रखता हूँ और कलम, कोट के भीतरवाली जेब में। लेकिन जो अध्यापक मेरे साथ दर्जी के यहाँ गया था, उसे ऊपरवाली जेब न लगाने का आदेश देने पर जरूर हैरानी हुई थी और उसने दूरदर्शिता को काफी बढ़ा-चढ़ाकर और लोगों के सामने रखा था। उस पूरे जाड़े लोग मेरे प्रयोग की प्रशंसा करते रहे थे, पर वे सब मेरे प्रशंसक नहीं थे। मेरी बकवासी आदत न होने को शायद वह मेरा घमण्ड समझते थे।

अब मेरे कोट में औरों के कोट की तरह जेब भी थी और मैं उसे मजे में पहने बैठा था। मेरे दूसरे साथी इस दौरान कम-से-कम चार-छह कोट फाड़ या रिजेक्ट कर चुके थे। कुछ ने तो विदेश से आये कपड़ों के सैलाब से भी अपने लिए रौबदाबवाले कोट चुन लिये थे। एक स्थान पर काम करते हुए अठारह-बीस साल निकाल ले जाना और वह भी महज एक कोट के बल-बूते? हो सकता है, यह बात नगण्य हो मगर एक व्यक्ति को यह अहसास इतिहास की तरफ नहीं धकेल देता?

मैंने अपने मफलर पर उड़ती-सी नजर डाली। बहुत मैला तो नहीं था, पर उसके पुरानेपन पर कोई शक नहीं कर सकता था। मैं टाई नहीं लगाता? जी हाँ, नहीं लगाता। झंझट लगता है। फिर जिन्दगी भी तो इतनी बदरंग है कि टाई बाँध लेने से भी कोई फर्क नहीं पड़ता। लोगों के पास कई टाइयाँ होती हैं। मैच करते सूट होते हैं इसलिए उन्हें कोई उलझन नहीं होती। लेकिन जिसके पास एक ही कोट हो और पतलून भी कई तरह के कपड़ों के हों, वह तो मफलर ही डाल सकता है। मफलर के साथ कभी-कभी ज्यादती भी हो जाती है। मसलन एक बार धोबी को धुलने दिया तो उसने उसे भट्ठी पर चढ़ा दिया, तब से मफलर की बजाय मवेशी के गले में पड़ी रस्सी सरीखा लगने लगा है।

जब भी नये या अच्छे कपड़े बनवाने की भावना मेरे मस्तिष्क पर दस्तक देती है तो मैं बहुत देर तक सोचकर इसी निष्कर्ष पर पहुँचा हूँ कि नये कपड़े पहन लेने से मैं कुछ 'नया' या 'कुछ और' तो ही नहीं जाऊँगा। जब अच्छे कपड़े पहन लेने से मेरी पदोन्नति नहीं हो सकती, मुझे पहले की बनिस्वत बेहतर ख्याल नहीं किया जा सकता, तो मैं फिजूल चकल्लस में क्यों पड़ूँ ? मुखर रूप से अपना यह तर्क मैं किसी के सामने नहीं रखता क्योंकि मैं जानता हूँ कि सुननेवाले इसकी धज्जियाँ उड़ा देंगे। यह भी हो सकता है कि मेरा यह खास चिन्तन सिर्फ इस वजह से जड़ पकड़ गया हो कि मैं स्वयं को कभी इस स्थिति में नहीं पाता हूँ कि 'स्मार्ट' या 'ठीकठाक' होने में सफल हो जाऊँ।

कौन नहीं जानता कि स्थितियों का ठण्डापन अच्छे लम्बे-चौड़े नाप को भी सिकुड़ने डालकर बौने कद में बदल डालता है। शायद मैं खामख्वाह उत्साहहीनता को दर्शन में बदलने की कोशिश कर रहा हूँ।

प्रिंसिपल की बात का जब मैंने कोई उत्तर नहीं दिया तो वह नये सिरे से मुझे समझाने के अन्दाज में बोला, "इसमें कोई हर्ज नहीं है, वर्मा। कुछ महीने की छुट्टी ले लेने से खास फर्क नहीं पड़ेगा। महीने, बीस रोज बाद फाइनल क्लासें छूट जायेंगी। बाकी एक-दो सेक्शन रह जाते हैं, कपिलजी देख लेंगे।"

मैं कुछ भी नहीं समझा लेकिन अपना धैर्य बनाये रखने की कोशिश की, "मुझे हुआ क्या है, क्या मैं आप सबको गम्भीर रूप से बीमार दिखायी पड़ता हूँ?"

प्रिंसिपल ने आजिजी से हाथ हवा में फहराया और दायें-बायें बैठे लोगों पर नजर डाली। शायद वह अपने आग्रह का नैतिक समर्थन चाहता था। एक अध्यापक, जो नीचे से ऊपर तक सपाट और ताड़-जैसा लम्बा था, अपने जबड़े बेचैनी से हिलाने लगा। उसके भीतर कोई बाढ़-जैसी अभिव्यक्ति उमड़ रही थी। यों वह इस बात के लिए प्रसिद्ध था कि वह कभी किसी को कोई सलाह नहीं देता। उसे बहुत नाप-तौल कर बोलने की आदत थी। लोग इस बात को लेकर उससे कुछ डरते भी थे। उसे पीछे भला-बुरा भी कहते थे। उसके सम्बन्ध में यह मजाक प्रचलित था कि "सिंह साहब दो और दो के सही जोड़ चार का अपने मुँह से 'कनफरमेशन' नहीं कर सकते।"

सिंह पहले कुछ मन-ही-मन बड़बड़ाया, फिर मेरे कन्धे पर अपने खूँटे-जैसे कड़े हाथ को टिकाकर बोला, "नहीं वर्माजी, आप बीमार नहीं है। आपको रेस्ट की जरूरत है।"

आसपास बैठे कई चेहरों पर उसकी हिदायत, घबराहट की लहरें छोड़ गयीं, लेकिन बोला कोई नहीं। शायद इसलिए कि वह 'अनकमिटेड' होने की वजह से भयंकर दिखायी दे रहा था। मैं किसी अन्य के बोलने की प्रतीक्षा करता रहा। जब और कोई नहीं बोला तो मैंने कहा, "अजीब बात है कि मैं अपने स्वास्थ्य में कुछ चिन्ताजनक नहीं पाता, आप साहबान को भी मेरी सेहत में कोई दरार नजर नहीं आती, फिर भी आप लोग मुझे छुट्टी लेने की सलाह दे रहे हैं। चलिए मुझे क्या, मैं छुट्टी लूँगा! लेकिन यह तो कहिए कि वह 'फिटनेस' का सर्टिफिकेट क्या चीज है?"

सम्भवत: मेरे कथन में थोड़ी उत्तेजना या आवेश व्यक्त हुआ होगा। इसीलिए शायद मेरे ही विभाग के एक अध्यापक बोले, "सर्टिफिकेट की बात बेकार है। आप थोड़े वक्त पूरा आराम कीजिए। हो सके तो हवा बदल के लिए कहीं चले जाइए।"

उनकी राय से मैं चकरा गया। "आप क्या कह रहे हैं बंसल साहब? इतनी सख्त ठण्ड में मैं हवा बदलने के लिए कहीं बाहर चला जाऊँ? मेरी समझ में आप लोगों की एक भी बात नहीं घुस रही है। वराय मेहरबानी, आपका कुल मतलब क्या है, यह बताने का कष्ट करें।"

अब सब तरफ फिर एक गम्भीर चुप्पी व्याप्त हो गयी।

प्रिंसिपल ने साभिप्राय अपने सहयोगियों की ओर देखा।

बंसल ने अपने रजिस्टर के नीचे से एक डायरी निकालकर उसके हाथ में दे दी। उसने डायरी को इधर-उधर से खोलकर उलटा-पलटा और अपने दोनों होंठों को एक-दूसरे से दबाते हुए कसकर बन्द कर लिया। जब वह परम उत्तेजना के क्षण में होता था तो यही-कुछ करने लगता था।

मैं उस डायरी को तत्काल पहचान गया। उसके मटमैले कवर पर मेरा नाम अंकित था। हम सभी अध्यापकों को सत्र के प्रारम्भ में डायरियाँ दी जाती हैं और डायरी लेने के बाद एक रजिस्टर पर हस्ताक्षर करने पड़ते हैं। हम अपनी डायरी में पाठ्यक्रम के मुतातिब प्रत्येक सप्ताह के लिए 'लेसन प्लान' तैयार करते हैं और कक्षाओं में उसी तरतीब में पढ़ाते हैं। जिस प्रकार हम अध्यापकगण विद्यार्थियों की कापियों का निरीक्षण करते हैं, उसी तरह प्रिंसिपल और इंस्पेक्टर भी हमारी डायरियों को चेक करते रहते हैं। यह एक 'रूटीन' है। कुछ बरस पहले इस डायरीवाले मामले में काफी कड़ाई बरती जाती थी। लेकिन पिछले कुछ समय से इस तरफ कोई ध्यान नहीं दिया जा रहा है। अब डायरी का पेट भरना महज एक खानापूरी करने जैसा हो गया है। कुछ अध्यापक तो डायरी साल में एक बार पूरी-की-पूरी भर डालते हैं। अध्यापकों के लिए दीगर काम इतने बढ़ गये हैं कि अब तो कक्षा में पढ़ाने जाना भी एक रस्म की तरह होता है।

मैं डायरी का उपयोग अब दूसरी तरह करने लगा हूँ। कोई पुस्तक पढ़ते समय किसी वाक्य या पैराग्राफ का उद्धरण उस पर उतार लेता हूँ। या फिर खाली बैठे मेरे मन में जो विचार स्वतः उत्पन्न हो जाते हैं, उनको इस डायरी पर घसीट डालता हूँ। इस साल इंस्पेक्शन के मौके पर जब मुझसे डायरी माँगी गयी तो मैंने प्रिंसिपल के पास जमा कर दी। मैं पूरी तरह निशंक था क्योंकि डायरी पलटने की फुर्सत इन दिनों किसके पास थी? कालेज भवन, प्रयोगशालाओं का निरीक्षण, फण्ड की छानबीन, क्लासों का मुआयना, फिर सांस्कृतिक कार्यक्रमों का प्रदर्शन इस लम्बे सिलसिले में दो या ढाई दिन बीतते कितना वक्त लगता है? पर इस बार की कैफियत जरा अलग है। मुआयने के समय अध्यापक मुस्तैदी के कक्षाओं में थे और विद्यार्थी क्रिकेट मैच की कमेंट्री सुनने की होड़ में विद्यालय कैम्पस में एकदम बाहर थे। लिहाजा निरीक्षकों ने इस दफा अध्ययन-अध्यापन के भीतरी स्तर को गहराई से देखा-परखा।

अभी तक इंस्पेक्शन की प्रामाणिक रिपोर्ट हम लोगों को नहीं दिखायी गयी है, लेकिन मुझे इस डायरी को देखने से एक बात याद आ रही है। उस रोज शाम को मुझे दफ्तर में बुलाकर इंस्पेक्शन के लिए आये हुए सदस्यों ने बहुत ध्यान से देखा था और तरह-तरह के सवाल भी किये थे, पर मेरी डायरी का कोई हवाला नहीं दिया था। अब तो मैं उस डायरी के विषय में सब कुछ भूल चुका था और निरीक्षण हुए भी तो कई महीने हो गये थे।

प्रिंसिपल ने डायरी मेरे हाथ में थमा दी। मैंने उसे खोलकर देखा तो मुझे हैरत हुई

कि बेखबरी में लिखे उद्धरणों और स्वलिखित वाक्यों को लाल रोशनाई के रेखांकित करके रँग-पोत दिया गया था। एक अंश को हाशिया देकर सवालिया निशान से घेर दिया गया था। उसकी ढाई-तीन पंक्तियों के बायीं तरफ अंग्रेजी में एक वाक्य इतने महीन अक्षरों में अंकित था कि मैं उसे अपने चश्में से पढ़ने की फिजूल कोशिश करता रहा। मैंने पूरा अंश एक मिनट से भी कम समय में पढ़ डाला–'साजिशों के स्त्रोत इतने गहरे और अँधेरे में हैं कि उन तक पहुँचने की कोशिशों में भी कम भटकन नहीं है··· वायदों और करनी के बीच का फर्क ही तो असली लाभांश है। दुर्भाग्य तब होता है जब रोग बतानेवाले को ही उपचारकर्ता स्वीकार कर लिया जाता है।'

मैं अपने मस्तिष्क पर जोर देता रहा, मैंने यह लुभावना वाक्य कहाँ पढ़ा था। किसने कब, और किस सन्दर्भ में लिखा था? लुभावना में जानबूझकर इसलिए कह रहा हूँ कि जिन विचारों में सपाटबयानी का चमत्कार होता है वह कभी-कभी इतने मारक लगतें हैं कि आदमी उन्हें अपनी स्मृति के अलावा कापी पर लिखने के लिए भी उद्विग्न हो उठता है।

मैंने डायरी पढ़ते हुए खुद से सवाल पूछा–क्या मेरा इन वाक्यों की सत्यता पर विश्वास है? किताबों में लिखे जानेवाले काँटेदार विचार दिमागी खलल से भी तो पैदा होते हैं। शायद लिख जाना ही उनको चरितार्थ नहीं कर पाता और फिर मेरे जैसा मरगिल्ला मास्टर लौकी-तुरई की सब्जी खाकर उन्हें क्या खाक समझेगा?

लेकिन ज्यों ही मेरी आँखें डायरी से हटकर अपने आसपास बैठे लोगों पर गयीं, मैं डायरी के प्रसंगों से पूरी तरह कट गया। उन सबके चेहरों पर एक खास तरह का चौकन्नापन हावी था और शायद वह भीतर-ही-भीतर किसी विस्फोटक स्थिति की सम्भावना पर गौर कर रहे थे।

मैंने डायरी बन्द करके मेज के कोने पर रख दी। मेरे भीतर अपने को खोलकर रख देने का कोई आग्रह नहीं उमड़ रहा था। अठारह-बीस बरस से मैं जिन सहकर्मियों के बीच था, उन्हें भी शायद कागज पर लिखे विचार तंग कर रहे थे। हाशिये का सवालिया निशान और लाल रोशनाई से खींची गयी रेखाएँ उनके दिल-दिमाग पर शिला की मानिन्द भारी पड़ रही थीं। मैं उठकर खड़ा हो गया। मेरे कहने के लिए अब बाकी था भी क्या? शायद व्यक्ति से यह बात देर तक छिपी नहीं रहती कि उसको न समझा जाना, उसकी सबसे बड़ी सजा है। सबसे कठोर निर्वासन है। □

# बरगद

## मधुकर गंगाधर

(जन्म : सन् 1934 ई.)

पूरे गांव में सिहरन-सी फैल गयी–बरगद पर आज सफेद बगुला बैठा है! 'ओ देखो··· वहां, बीच वाली फुनगी की बायीं तरफ··· सूरज की किरण में साफ दिखलायी पड़ रहा हैं··· उजला दपदप, तुम्हारी आंखें ही खराब लगती हैं, जाओ, पहले सरधा बाबू डागडर से इलाज करा लो···!"

नित्य की तरह आज भी सूरज उगा। आज भी उसकी पहली किरण गांव से पूरब स्थित सबसे ऊंचे पेड़ बरगद की फुनगी पर छिटकी और गांव वालों ने देखा, फुनगी पर एक सफेद बगुला बैठा है।

एक व्यक्ति सूचना देता है–"कल मैंने देखा है, पेड़ से दो-तीन नयी जटाएं फूट रही हैं··· कोमल, लाल-लाल, जैसे मासूम बच्चे की अंगुलियां होती हैं।"

"भक्ख! ऐसा भी कहीं हुआ है?" महंथजी विरोध करते हैं।

"सच्च कहता हूं, महंथ'चा! भगवती किरिया···"

साठ वर्षीय महंथ मोहन सिंह के चेहरे पर बच्चों की तरह सरल मुस्कान खेल जाती है। वह अनायास उठकर खड़े हो जाते हैं।

"चलकर दिखला सकते हो?"

"चलिए!"

महंथ जी की आत्मा में गुदगुदी उठती है। उनके लिए बरगद मात्र एक पेड़ ही नहीं है। सृष्टि के प्रलय के समय बरगद के पत्तों पर ही बालमुकुंद सोये थे और शेष पृथ्वी जल-मगन हो गयी थी। बरगद··· वेद, उपनिषद्, आरण्यक को अपनी गोद से पैदा करने वाला आदि-वृक्ष। बरगद मानव-जाति का प्रतीक है।

गांव से माघ का सर्द कुहरा धीरे-धीरे सिमटता जा रहा है। सूरज आधा बांस ऊपर उठ चुका है। धूलभरी सड़क शांत है। जहां-तहां अलाव के निकट बैठे लोग हुक्के गुड़गुड़ा रहे हैं। औरतें कुएं पर पानी भरने पहुंच रही हैं।

धूलभरी सड़क पर लाठी टेकते और खराऊं से खट्-खट् आवाज करते महंथ जी बरगद की ओर जा रहे हैं। पीछे-पीछे चल रहा है बदरी। बदरी ने ही जटा निकलने की सूचना दी थी।

महंथ जी के चेहरे की झुर्रियों में तनाव आ गया है। थूक फेंककर आत्म-तुष्टि की सांस खींचते हैं। अपने आप बोलते है, "मुझे आशा नहीं थी, जीवन में फिर से बरगद को प्रेत-बाधा-मुक्त होते देख सकूंगा ··· पिछले एक युग से तो ···"

पिछले एक युग से, यानी बारह वर्षों से ···

बारह वर्षों से यह बरगद उदास रहता है। गांव के सभी लोग इस बात को मानते हैं। इधर कुछ दिनों से, जब से महीधर ने अपने दरवाजे पर लाल झंडा गाड़ा है, एक अपवाद पैदा हुआ है—महीधर। महीधर हर बात पर बहस करता है और जिस बात में वह हारेगा नहीं, मानने से इनकार कर देगा। उसके लिए चलते समय अगर छींक दे कोई, या यात्रा के शुरू में बिल्ली रास्ता काट दे, तब भी रुकना संभव नहीं। लेकिन ऐसा तो मात्र एक महीधर है। शेष गांव के लोग इस बात को मानते हैं कि बरगद उदास रहता है ··· ठीक उसी तरह, जैसे एक आदमी उदास हो सकता है। गर्मियों में अब उसकी छाया शीतल नहीं होती है ··· घुटनभरी, गर्म उसास का बोध होता है। सर्दियों में अब भी सूरज की पहली किरण उसी की फुनगी पर आती है, पर गांव के लोग उस ओर देखना नहीं चाहते, फुनगी पर सफेद-सफेद बगुले बैठे हैं, या नहीं। लोग उस तरफ नजर नहीं डालते हैं।

यह सब पिछले बारह वर्षों से हुआ है। बारह वर्षों में इस बरगद ने एक भी नयी जटा नहीं फैलाई। दिन या रात, जब भी आप देखेंगे, लगेगा, जैसे यह पेड़ लोहे का हो ··· सर्द, ठोस, बेजान, संवेदनाहीन।

बरगद का यह पेड़, इस गांव के साथ ही पैदा हुआ शायद। जिसे भी आप पूछेंगे, उत्तर मिलेगा, "बहुत पुराना है। कितना? कितना क्या, बहुत ··· बस, जान लीजिए, बहुत। चार कोस पूरब, चार कोस पश्चिम के लोग जब भी इस गांव का नाम लेंगे, सोनपुरा ··· बरगद वाला सोनपुरा।"

सोनपुरा गांव अर्ध चंद्राकार बसा है। उत्तर-दक्खिन। गांव के पूरबी किनारे से सड़क निकलती है ··· कच्ची सड़क और गांव के ठीक बीचों-बीच, सड़क के दूसरे किनारे, लगभग पच्चीस गज पर बरगद का पेड़ है। आप जिस ओर से भी गांव पर नजर डालेंगे, सबसे पहले बरगद पर ही नजर पड़ेगी, और गांव के जिस व्यक्ति से भी बातें करें, बरगद के बारे में वह कुछ-न-कुछ ऐसा जरूर बतलायेगा कि उस व्यक्ति की बुद्धि, तर्क, भावुकता या अंधविश्वास से जुड़ा हुआ यह बरगद नजर आयेगा।

इससे होकर कोसी नदी बहती थी—गांव का प्रत्येक बूढ़ा यहीं से किस्सा शुरू करेगा। खल-खल बहती धार। सावन-भादों में लगता था, गांव कटकर भंस जायेगा। नदी के किनारे खड़ा था बरगद का पेड़, जैसे कह रहा हो—जब तक मैं खड़ा हूं, गांव को कोई

खतरा नहीं है। बरगद के पेड़ के निकट ही घाट था। पांच-सात नावें बंधी रहती थीं। वहीं लोग नाव पर बैठते थे और सुपौली बाजार चले जाते थे। लगातार ढाई कोस पानी-ही-पानी। जाड़े के दिनों में तरह-तरह के पक्षी आते थे। सफेद बगुले से बरगद का पेड़ लद जाता था, जैसे फूला हुआ कचनार हो। गांव भर के लोग वहीं बैठते थे। रात में रामायण होती थी। कभी कीर्तन, तो कभी नारदी भजन। पांच-छह मचानें बनी थीं ··· बांस की, लोग रातभर लदे रहते थे। उस समय के लोग आज की तरह घर-घुसकर थोड़े थे! रात-रात भर ठहाके लगाते, गप्पें मारते। आजकल के छोकरे रात भर जग जायें, भोर होते ही रामलगन इस्सर के दरवाजे हाजिर—डागडर बाबू! सर्दी ···!

महज चालीस-बयालीस वर्षों में कितना कुछ बदल गया! राजेंद्र सिंह ने सन् 1930 में यहीं पर नमक बनाने के लिए कराह चढ़ाया था। तब कौन जानता था कि चुटकी भर नमक बनाने से पूरे देश का पानी खारा हो जायेगा!

चालीस-बयालीस साल पहले की जिंदगी भोगने वाले बूढ़ों के लिए अब पूरा वातावरण खारा हो गया है। वे थूकते हैं। दांत पीसते हैं। और नफरत के दो-चार शब्दों के बाद फिर अपने युग में चले जाते हैं—इस बरगद के नीचे हम लोग अखाड़ा लगाते थे। हाफिज मियां हमारे उस्ताद थे। एक बार गुलाब सिंह का एक बैल खेत पटाने वाले कुएं में गिर गया। कुहराम मच गया। कुआं छोटा-सा था। खैरियत थी कि बैल का मुंह ऊपर था। लोग समझ नहीं पा रहे थे कि बैल को कैसे निकाला जाये। हाफिज खां आया। रस्सी के सहारे कुएं में गया। करीब पन्द्रह हाथ गहरा कुआं था। जान पर खेलकर बैल के नीचे घुसा। फिर बैल को कंधे पर उठाया और कुएं के दोनों ओर पैर अड़ाते हुए ऊपर उठने लगा। धीरे-धीरे, लगभग तीन-चार घंटों में, हाफिज मियां बैल के साथ ऊपर आ गया। गुलाब सिंह ने वह बैल तो हाफिज मियां को दिया ही, एक बैल और दो बीघे का खेत भी इनाम में दे दिया।

"वह जमाना जंगली था"—दूसरी पीढ़ी का नंदलाल, या बृजभान, या पांचू, जो भी होगा, तुरंत रिमार्क देगा। "एकदम जंगली जमाना था। कोसी नदी की मछली और भैंस का दूध इफरात था। दिन भर खाना और दंड पेलना, गांव में कोई मिड्ल पास तक नहीं था।"

"जंगली जमाना था, तो अच्छा था। तुम लोगों से लाख अच्छे थे लोग। कोई मिड्ल पास नहीं था, तो क्या हुआ, लोगों को संतोष था वे ज्यादा सुखी थे। हम लोग रोज बीमार नहीं पड़ते थे। सारा गांव एक परिवार की तरह हिल-मिलकर रहता था। आज की तरह गांव में दस नंबर मुकदमा नहीं लड़ा जाता था।"

"खूब कहते हैं आप भी! हमीं लोग कौन दवा पर जीते हैं! यह आप आज के लौंडों को कहिए, जो एक गिलास कच्चा दूध पीते हैं, तो तेरह बार लोटा लेकर बांस-बाड़ी जाते हैं। मुकदमेबाजी की बात तो बेकार कर रहे हैं। कौरव-पांडव में क्या हुआ था?"

बृजभान, या नंदलाल, या पांचू इस बरगद को दूसरे रूप में पेश करते हैं—कोसी नदी

सोनपुरा से पश्चिम हट गयी। सहरसा-दरभंगा चली गयी। चारों ओर उपजाऊ जमीन उग आयी। झाऊ और कास का जंगल समाप्त हो गया। धान, गेहूं, सरसों, तम्बाकू के खेत लहलहा उठे। आज सोनपुरा में बकरी चराने लायक भी परती जमीन नहीं बची है। सो, गांव के लोग सुखी-संपन्न होने लगे! दूर-दूर तक फूली सरसों के वासंती खेत एक किनारे खड़ा लौहवर्णी बरगद ··· जिसने अपनी आंखों से नहीं देखा, शब्दों द्वारा नहीं समझ पायेगा।

सवेरे से शाम तक बच्चे, जवान, बूढ़े इस बरगद के तले पड़े रहते। गर्मी के दिनों में तो यहां तिल धरने की भी जगह नहीं रहती। छुर्र-कबड्डी आदि तरह-तरह के खेल हुआ करते। यहां के खेलों के एक-से-एक किस्से हैं ···

किस्से ··· किस्सा शब्द सुनते ही सच्चिदानंद आगे आयेंगे। एक दिन ऐसा हुआ कि महेश्वर की नाक में जोखन ने बोरा सीने वाले सूए से नाथ पहना दिया ··· बैल-बैल खेल रहा था। पूरे गांव में तहलका मच गया ··· महेश्वर की नाक से छुर्र-छुर्र लहू। नंदलाल ऐसों किस्सों को 'हल्का' कहते हैं और बरदाश्त नहीं करते। बैल और बकरी के खेल तो आदिकाल से गांव में होते आये हैं। आगे भी होते रहेंगे। असली माने में गांव में अच्छा खेल-तमाशा हम लोगों ने ही शुरू किया। नौटंकी-मंडली बनायी। राजा भरथरी, शीरी-फरहाद, लैलामजनूं, सरदार भगतसिंह, सुल्ताना डाकू ··· बरगद के पेड़ के तले चौकियों और बांसों का बड़ा-सा स्टेज ··· बड़े-बड़े चार-छह पेट्रोमेक्स जल रहे हैं। परदा उठता है। छह परियां दायें विंग से और छह परियां बायें विंग से नाचती हुई निकलती हैं ···

जग के पालनकर्त्ता हैं करतार!

गिर-गिर-गिर ··· धड़ाम! नगाड़ा दिग-दिगंत को जगा देता। दूर-दूर के लोग आते थे। सोनपुरा की नौटंकी जिला-जवार में नामी थी।

"हमने भी देखी थी नौटंकी ··· एक बार, सिर्फ एक बार।" गांव की तीसरी पीढ़ी का अगुआ, जिसे महज तीन-चार वर्षों से बड़ों के बीच बैठने का अधिकार मिला है, कृत्यानंद बोलता है—" 'गरीब की दुनिया' या कौन-सा तो खेल था। बिरौली बाजार से या भवानीपुर से आप लोगों ने एक दरजी के छोकरे को बुलाया था रण्डी का पार्ट खेलने ···

लो मैं देती हूं सोने की मुंदरिका<br>
सेज पर साथ चलकर गिरा दो मुझे<br>
वस्ल का जाम प्यारे पिला दो मुझे!

जिस बरगद के तले रामायण की कथा बांची जाती थी, सती-सावित्री के चरित्रों से गांव की स्त्रियों को प्रभावित किया जाता था, वहां आप लोगों ने रंडी-पतुरिया के चरित्र को उनके सामने रखना शुरू किया ···

"बहुत भाषण झाड़ रहे हो! तुम लोगों ने नाटक नहीं किये क्या?"

"जरूर किये। हम लोगों ने भी नाटक किये। हम लोगों ने 'अकाली नाटक' किये। कैसे सन् पचास की बाढ़-वर्षा के बाद भीषण अकाल पड़ा और लोग खाने के अनाज के लिए परमिट लेकर घंटों कतार में खड़े होने लगे? कैसे डीलर और परमिट बांटने वालों ने मिलकर ब्लेक मार्केटिंग का धंधा शुरू किया? किस प्रकार गांव के गरीब हरखू, महमूद और रामनगीना और ज्यादा गरीब हो गये? या फिर हम लोगों ने स्टेज किया 'गांधी का बेटा'। किस प्रकार देश-सेवक मुंह ताकते रह गये और देश की बागडोर पूंजीपतियों, मुनाफाखोरों, भ्रष्टाचारियों के हाथ चली गयी। चुनाव में कैसे-कैसे हथकंड़ों की शुरुआत हुई। किस प्रकार देश में एक नये किस्म के जीव का प्रादुर्भाव हुआ, जिसे अंग्रेजी में 'पैरासाइट' याने परजीवी, और भारत में राजनीतिज्ञ कहा जाने लगा ··· किस प्रकार पुराने जमीदारों की कब्र फोड़ कर बी० डी० ओ० नामक नये जमींदार का अभ्युदय हुआ यानि ··· हम लोगों ने जमाने की पुकार के अनुसार नाटक किये। और आप लोगों ने? सच पूछिए तो, आज जो यह बरगद वीरान है, उस वीरानी की बुनयाद आप लोगों ने ही डाली थी। 'जालिम सिंह का नाच ··· परदेशिया का दर्द ··· सिपाही जी का प्रेम ···' इसका बीज किसने बोया था?"

सिपाही शब्द ऐसा है, जिसके उच्चारण मात्र से इस गांव में अव्यक्त नफरत छा जाती है और लोग चुप हो जाते हैं। कृत्यानंद के मुंह से भी यह शब्द अनायास बातों के आवेग में निकल आया।

सिपाही शब्द का अर्थ इस गांव में रूढ़ हो गया है। सिपाही याने बलभद्दर सिंह। साधारण धोती-कुर्ता पहनने वाला। लंबा शरीर और बड़ी-बड़ी मूछें। श्रीपुर के जमींदार का कारवरदाज। नाम बलभद्दर सिंह, किंतु पूरा गांव सिपाही जी कहकर ही संबोधित करता, जिसे आज कोई भी व्यक्ति याद करना नहीं चाहता है, नफरत से भरा हुआ शब्द-सिपाही।

ऐसा सब दिनों से नहीं था। सन् 1942-43 में इस गांव का प्रत्येक व्यक्ति चाहता था कि उसके घर में भी एक सिपाही पैदा हो-परमानंद सिंह जैसा। 1942 के आन्दोलन में यहां के लोगों ने थाने को जला डाला। तीन-चार दिन के बाद बलूची सिपाहियों का दस्ता आया। और गांव-गांव में दमन और अत्याचार शुरू हुआ। सोनपुरा के लोग भी डरकर मकई के खेतों में और बांस के जंगलों में भाग गये। उस समय पुलिस की नौकरी छोड़कर परमानंद गांव आया। वह गांव के पूरब वाले बरगद के पेड़ पर बैठा रहता और सड़क को देखता रहता। थाने की तरफ से बलूचियों को आते देखकर जोर-जोर से पंडुक चिड़िया की बोली बोलता। मिनटों में गांव के लोग मकई के खेतों, बगीचों और जंगल में भाग जाते। बलूची आते, पूरा गांव खाली मिलता। फिर गांव आबाद। इस प्रकार लगभग दो महीने परमांनद को पेड़ पर रहना पड़ा था।

लेकिन बलभद्दर सिंह? इसने सिपाही शब्द को इतना नफरत भरा बना दिया, जितना बलूची शब्द भी नहीं था।

बलभद्र सिंह इस गांव में श्रीपुर वाले जमींदार के खेतों की व्यवस्था करने आया था। वह इतना भोला और भला था कि गांव का प्रत्येक व्यक्ति उसे अपना समझने लगा। वह त्रिलोकी मंडल के घर धीरे-धीरे अधिक जाने लगा। त्रिलोकी मंडल श्रीपुर वालों के दो बीघे खेत जोतता था। बलभद्र सिंह रात-बिरात आकर उसी के घर रुकता। बदले में फसल के दिनों में त्रिलोकी के घर पंद्रह-बीस मन अनाज अनायास पहुंच जाता। श्रीपुर वालों के सौ बीघा खेत इस गांव में थे। शुरू में यह सब अनचाहे, अनायास हुआ, किंतु दो ढाई वर्षों में तो बलभद्र त्रिलोकी के घर का सदस्य जैसा हो गया। अकसर उसके घर रहने लगा।

गांव में जिस प्रकार सूराखों भरे घर और छिद्रों भरे वस्त्र होते हैं, जिससे घर की चीजों और कपड़ों के भीतर के शरीर की कोई गोपनीयता नहीं रहती, उसी तरह वहां की प्रत्येक घटना रहस्यहीन, पारदर्शी होती है। जरा भी कहीं ऐसा हुआ, जो सामान्य से अलग हटकर है, वहां हजारों आंखें और सैकड़ों जिह्वाएं प्रश्न करने लगती हैं। और हजारों आंखों से तो मांद में सोयी चींटी के पांखों के धब्बे भी गिने जा सकते हैं।

गांव में किसने कहां अपनी आंखों से क्या देखा, यह बतलाना कठिन है, किन्तु अचानक एक कथा प्रचारित हो गई कि बलभद्र सिंह त्रिलोकी की बड़ी बेटी रानी के साथ 'फंस' गया है··· एक मुंह खुला, तो अनेक मुंह खुलने लगे। तरह-तरह के बयान होने लगे। आज बेनी सिंह के बगीचे में दोनों को देखा। जामुन के पेड़ के नीचे बलभद्र बीड़ी पी रहा था और रनिया पास में बैठी थी···

"रनिया कल बिरौली हटिया गयी थी। मेरे सामने उसे 'सनलैट साबुन' खरीदा और एक 'आबर डमला' केश तेल···"

"आबर डमला नहीं, भले आदमी, डाबर अमला बोलो!"

"सो जो कहो तुम लोग। हमको तो किसी सिपाही ने दिया नहीं आज तक, जो नाम याद रहे। चूनरी साड़ी और भर मुंह पान··· नेपाली खुखरी की तरह चमक रही थी···"

"उस दिन नहीं देखा था, त्रिलोकी के दरवाजे पर नाच हो रहा था··· विदेसिया नाच। बलभद्र ने सारा खर्च दिया था। रनिया जैसे फुदक रही थी··· और बलभद्र जैसे सचमुच जालिम सिंह सिपहिया हो···!"

"ईस्साले ने गांव को हाजीपुर बाजार बना दिया!"

"गांव का एक वर्ग, महीधर जिसका अगुआ है और गांव में जिन्हें कॉलेजिया, धरम-नाशक आदि कहा जाता है, बलभद्र के पक्ष में दलील देता।"

"रानी को देखा है गौर से? उसमें राड़-रोहिया का एक भी लच्छन है? साक्षात रानी है। और उसे बांध दिया है कालेभुजुंग जानवर के साथ। बलभद्र के साथ उसकी खूब जोड़ी लगती है। मगर साला चुप-चोरी क्या रस-लिल्ला करता है, सामने आना चाहिए! कोर्ट ले जाकर पहले डाइवोर्स कराये।"

लेकिन कुछ लोगों को यकीन नहीं होता। गांव के लुच्चे लफंदरों को कोई काम तो रहता नहीं, दूसरों की बहू-बेटियों की चर्चा किया करते हैं। होम कराने का अब जमाना नहीं रहा। सिपाही जी ने दया-धरम के नाम पर एक गरीब आदमी की मदद की तो लोगों की आंखों में नमक-मिर्च पड़ने लगा ...

इसी बीच एक ऐसी घटना घटी, जिसने पूरे गांव बलभद्दर और रनिया के बारे में सोचने के लिए मजबूर कर दिया।

एक शाम त्रिलोकी के घर पर चीख-चिल्लाहट शुरू हुई। लोग वहां जमा होने लगे। त्रिलोकी और रनिया के पति में झगड़ा हो रहा था। रनिया का पति अपनी पत्नी को विदा कराना चाहता था और त्रिलोकी विदा नहीं करना चाहता था।

"विदागिरी तो तुरत हो जाये, मगर पहले एक अपना घर तो बना ले! औरत को ले जाकर रक्खेगा कहां?"

"पेड़ के नीचे रक्खूंगा! अपने मर्द के साथ पेड़ के नीचे रहने में भी कोई लाज-शर्म नहीं! बलभद्दर की रखैल बनकर लाल पलंग पर सोने से तो अच्छा ..."

बलभद्दर एक किनारे पर खड़ा सब कुछ सुन रहा था। वह तीर की तरह आगे बढ़ा। त्रिलोकी के दामाद के गाल पर खींचकर एक तमाचा मारा। दामाद ने कोई प्रतिकार नहीं किया। किंतु उसी समय त्रिलोकी आगे बढ़ा और उसी ने बलभद्दर के गाल पर एक थप्पड़ दे मारा। वह पागलों की तरह चीखने लगा—"तुम लोग यहां से भाग जाओ! हमारे घर को तमाशा मत बनाओ!"

त्रिलोकी ओसारे के एक किनारे बैठकर सुबुकने लगा। बलभद्दर और उसका दामाद वहां से चले गये। गांव के लोग भी धीरे-धीरे अपने घर गये। त्रिलोकी के घर आंगन में गहरा अंधेरा बढ़ता गया और उस अंधेरे में एक गरीब, असहाय, बूढ़े बाप की हिचकियां क्रमशः क्षीण होती हुई डूब गयीं।

गांव में रात भर चर्चाएं होती रहीं। जितने मुंह उतनी बातें। शायद दूसरे दिन कुछ लोग रेवती के घर सांत्वना के बहाने नये समाचार लेने पहुंचते, किन्तु सूर्योदय के कुछ पहले ही पूरे गांव में कुहराम मच गया। त्रिलोकी ने फांसी लगा कर आत्महत्या कर ली। पूरा गांव बरगद के नीचे जमा हो गया। उसी बरगद के नीचे, जहां गांव का इतिहास नयी कोपलें देता रहा, आज पूरा गांव शोक में डूबा खड़ा था। दक्षिण वाली डाल से त्रिलोकी की लाश लटक रही थी, जिसकी गरदन खिंचकर लंबी हो रही थी। जीभ बाहर लटक रही थी।

गांव के लोग थाने दौड़े। पुलिस आयी। तहकीकात शुरू हुई। गांव के लोगों ने पिछली शाम की घटनाओं का वर्णन किया। उन्होंने यह कहा कि झगड़े के समय ही बलभद्दर सिंह और त्रिलोकी का दामाद, दोनों गांव से चले गये थे। पुलिस ने आत्महत्या का मामला दर्ज किया ... लाश उतारी गयी। डॉक्टरी जांच के लिए पुलिस लाश ले गयी।

तीसरे पहर थाने से लौटी। लोगों ने मिल-जुलकर दाह-संस्कार किया। सूरज डूबने

तक लोग श्मशानघाट से लौट आये। औरतों ने नीम पानी दिया, जोर-जोर से रोयीं। गांव धीरे-धीरे अथाह वेदना और उदासी में खो गया।

लेकिन जैसे गांव की किस्मत में कुछ और ही बदा था। दूसरे दिन सेबेरे गांव में फिर हल्ला हुआ। लोग एक बार फिर बरगद के पेड़ की तरफ दौड़े। बरगद के पेड़ के नीचे रनिया पड़ी हुई थी। उसके सीने के आर-पार भाला चुभा हुआ था। चारों ओर लहू फैला था। रानी के मुंह में मिट्टी भरी हुई थी दोनों हाथों की अंगुलियां मिट्टी में धंसी थीं। मृत्यु की वेदना झेलती हुई बेहोशी में उसने मिट्टी को दांतों से और हाथों से पकड़ कर भींचा था। लहू जमकर काला पड़ गया था, जिस पर मक्खियां भिनक रही थीं।

पुलिस आयी। तहकीकात शुरू हुई। इस बार बलभद्दर और रानी का पति, दोनों पकड़ लिये गये।

शायद रानी की मौत के बारे में बारह सौ चालीस कहानियां गढ़ी जातीं, क्यों कि इस गांव में बारह सौ चालीस वयस्क व्यक्ति हैं, किंतु वैसा कुछ नहीं हुआ। गांव में दो तरह के विचार फैले और वाद-विवाद होता रहा। इन विचारों के आधार दो बयान थे।

पहला बयान रानी के पति ने दिया–"हुजूर, हमने खून नहीं किया है, मगर हम जानते हैं कि खून किसने किया है। परसों मुझसे और ससुरजी से झगड़ा हुआ। मुझे बलभद्दर सिंह ने थप्पड़ मारा। यह मेरी औरत से फंसा हुआ था। मैं अपमान को सह नहीं सका। अपने घर चला गया। दो कोस पर मेरा घर है। कल पिछले पहर मुझे खबर मिली कि ससुर जी ने आत्महत्या कर ली। मैं यहां पहुंचा, तो अंधेरा हो चुका था। सीधे आंगन में बढ़ा। आंगन के बगल में कटहल का एक बड़ा-सा पेड़ है। मैं वहां पहुंचा कि कान में बलभद्दर सिंह की आवाज पड़ी। वह रानी के साथ बात कर रहा था। रानी ने बलभद्दर सिंह से कहा–'तुम्हीं बापू को दो पहर रात में अपने साथ पूरब की तरफ ले गये थे। तुम्हीं ने बापू को मारकर बरगद से लटका दिया।' इस पर बलभद्दर सिंह ने जनेऊं निकालकर कसम खायी। उसने रानी से कहा कि उसने बापू से सारी बातें साफ-साफ करने की कोशिश की थी। दरवाजे के आगे बिसुन सिंह के कुएं की जगत पर बैठकर दोनों ने बातें की थीं। बलभद्दर ने बतलाया कि उसने बापू से साफ-साफ कहा था कि वह रानी के बिना नहीं रह सकता और रानी की भी यही हालत है। ऐसी हालत में वे दोनों हर हालत में ब्याह करेंगे ही। बापू रोने लगे। बलभद्दर सिंह ने रानी से कहा कि वह बापू को उसी हालत में छोड़कर वहां से चला गया था। और तिरपित सिंह के बथान पर खाली चौकी देखकर सो रहा था। सबेरे बापू की आत्महत्या की घटना की खबर सुनकर वह डर गया औ चुपचाप श्रीपुर भाग गया। वहां काफी सोचने-विचारने के बाद उसने सोनपुरा लौटना तय किया। आया और बापू को श्मशान ले गया। बलभद्दर ने तरह-तरह की कसम खाकर रानी को विश्वास दिलाया कि वह एकदम निर्दोष है, बापू ने आत्महत्या की है। रानी रोने लगी और बलभद्दर के शरीर से चिपक गयी। फिर बलभद्दर ने कहा कि कल तक रानी का मर्द उसे ससुराल ले जाने जरूर आ जायेगा।

सिर्फ़ आज रात का समय है। अब एक ही रास्ता है कि आज रात, जब गांव-घर के लोग खा-पी कर सो जायें, तो दोनों गांव से सदा के लिए भाग जायें···

हुजूर, पहले तो रनिया ने ना-नू किया, मगर हरजाई औरत और पानी को गढ़े में गिरते देर नहीं लगती। वह भाग जाने को तैयार हो गयी। मैं वहां से दबे पांव हट गया। थोड़ी देर बाद आंगन गया। सास रोने लगी। काफी देर तक उन्हें समझाता रहा। बनवारी का बेटा बुलाने आया। उसी के घर खाना खाया। बीड़ी पी। फिर ससुराल लौट आया। बैठक के बरामदे पर खाट थी। उसी तरह लेट गया। थोड़ी देर बाद बलदेव आया। हमने खैनी खायी। वह काफी देर गप करने के बाद चला गया। मैं चुपचाप उठा और कटहल के पेड़ पर छुप बैठा।

हुजूर, जिस आदमी की ब्याहता औरत गैर मर्द के साथ भागने को तैयार हो, उसे नींद आयेगी? दो पहर रात में बलभद्दर आया। तीन बार बिल्ली की तरह आवाज लगायी। रानी निकल आयी। दोनों चुपचाप चल पड़े। बलभद्दर हमारे ससुर जी की बैठक में गया और कोने में रखा भाला उठा लाया। उसने रानी से कहा कि रात खाली हाथ चलना ठीक नहीं होता है···

आगे-आगे बलभद्दर, उसके पीछे रानी और उन लोगों के काफी पीछे, छुपते हुए मैं जा रहा था। दोनों गांव से निकलकर सड़क पर आये। बरगद की सीध में आने पर रानी अचानक रुक गयी। उसने पूछा–'बलभद्दर, तुम मेरे माथे पर हाथ रखकर कसम खाओ कि तुमने मेरे बाप को नहीं मारा है।' बलभद्दर ने कसम खायी और चिढ़कर बोला–'औरत जात भी गजब की होती है! जो बात माथे पर बैठ गयी, बैठ गयी। अब बीच सड़क पर नखरे पसारकर मुझे जेल भेजवायेगी क्या?···'

रानी रोने लगी। वह धीरे-धीरे बोली–'मुझे लगता है, बापू अपने से नहीं मरे।' इस पर बलभद्दर एकदम बिगड़ उठा–'हां, मैंने तेरे बापू को फंदा डालकर लटका दिया! इसके सिवा और रास्ता ही क्या था?···'

इतना सुनना था कि रानी चीख पड़ी–'खूनी! मैं तेरे साथ कभी नहीं जाऊंगी और मैं चीख-चीखकर गांव वालों को बतला दूंगी कि मेरे बाप को तूने मारा है?' बलभद्दर ने झपटकर रानी का मुंह दबा लिया। खींचते हुए बरगद के पेड़ के नीचे ले गया और उसकी छाती में भाला भोंक दिया···

उस समय हुजूर, मैं तमाशा देख रहा था। मुझे बड़ी खुशी हो रही थी। एक दगाबाज, फरेबी औरत का यही तो नतीजा होता है··· किंतु तुरंत मुझे भी ध्यान आया कि बलभद्दर की नजर अगर मेरे ऊपर पड़ी, तो वह मुझे भी मार डालेगा। खून के गवाह को खूनी जीवित कैसे छोड़ेगा? मैं वहां से भागा और दरवाजे पर आ गया। तब से वहीं रहा, हुजूर···"

और दूसरा बयान, जो सर्वथा इसके विपरीत था, बलभद्दर सिंह सिपाही ने दिया–"जीना नहीं चाहता। मुझे फांसी दे दीजिए। लेकिन मैं झूठ नहीं बोलूंगा। त्रिलोकी और रानी की हत्या मैंने नहीं की है। हत्यारा त्रिलोकी का दामाद है।

"मेरे घर पर मेरा कोई नहीं है। मां-बाप बचपन में मर गये। भाई-बहन हुआ नहीं। मैं पिछले कई वर्षों से श्रीपुर के जमींदार के पास नौकरी करता हूं। उसी सिलसिले में त्रिलोकी के घर जाने-आने लगा। मुझे पेट में कभी-कभी अचानक दर्द होता है और उस समय मैं लगभग बेहोश हो जाता हूं। एकाध बार ऐसा हुआ, तो मैंने त्रिलोकी के घर पनाह ली। उन लोगों ने मेरी मदद की। फिर धीरे-धीरे मैं उस परिवार का एक सदस्य बन गया। त्रिलोकी को कोई लड़का नहीं है। दो बेटियां थी। बड़ी बेटी रानी और छोटी–लगभग आठ वर्ष की कुसुमी। रानी का ब्याह जिस मर्द से हुआ, वह बदमाश है। छह महीनों के वास्ते एक बार चोरी की सजा काट आया है। त्रिलोकी और रानी उससे नफरत करते थे। रानी धीरे-धीरे मुझसे नजदीक होती गयी और अंत में हम लोग बहुत नजदीक हो गये। महीधर से मैंने एक बार ऐसी बातें भी की थीं। महीधर ने कहा था कि रानी जब तक अपने मर्द को तलाक नहीं देती, मैं उससे ब्याह नहीं कर पाता। फिर एक ही रास्ता बच जाता था–उसे लेकर गांव से चुपचाप भाग जाना।

इसी बीच रानी का पति आ गया, जिसने मुझे खुलेआम गालियां दी। मैंने उसे तमाचा मारा। त्रिलोकी ने यह सोचकर कि समाज में बदनामी हो जायेगी, मुझे एक थप्पड़ मारा। मैं खून का घूंट पीकर रह गया। वहां से उठा और श्रीपुर चला गया। श्रीपुर तीन मील है। दूसरे दिन त्रिलोकी ने आत्महत्या कर ली। त्रिलोकी मेरे और रानी के सम्बन्ध को जान गया था। त्रिलोकी की आत्महत्या की खबर सुनकर मैं दौड़ा आया। रानी ने मुझे बतलाया कि जिस समय मैंने उसके पति को थप्पड़ मारा था, वह वहां से भाग गया था, किन्तु रात में फिर लौटकर आया श्था और त्रिलोकी के साथ दो-तीन घंटों तक बातें की थीं और अंत में दोनों उठकर पूरब की ओर गये थे। रानी का ख्याल था कि उसके पिता को उसके मर्द ने गले में फंदा डालकर मार डाला।

तीसरे पहर त्रिलोकी की लाश थाने से वापस आयी। मैं तब तक श्रीपुर से आ गया था। मैं भी श्मशान तक गया। लौटकर आया। स्नान आदि में काफी समय लगा। शाम हो गयी। मैं त्रिलोकी के आंगन गया। थोड़ी देर वहां बातें कीं। बाहर आने लगा तो रानी मेरे साथ आयी। कटहल के पेड़ के निकट आकर हम लोग रुक गये। वहां रानी ने बतलाया कि कल उसका मर्द बापू की मौत की खबर सुनकर जरूर आयेगा और उसे विदा कर ले जायेगा। इसलिए जो करना है तुरंत कर लेना चाहिए।

गांव से एक मील दूर रेलवे लाइन है। फोरटीन डाउन इससे होकर एक बजे रात में गुजरती है। मैंने रानी से कहा कि जब फोरटीन डाउन गुजर जाये, तो वह घर से निकले और गांव के दक्षिण, बटेसर महतो के खेत में चली आये। वहां मकई जोगने वाली एक पुरानी और खाली मचान है, जिस पर मैं उसका इंतजार करता रहूंगा। हम कलकत्ता भाग जाने को थे।

मैं मचान पर इन्तजार करता रहा। फोरटीन डाउन गुजर गयी। किन्तु रानी नहीं आयी। धीरे-धीरे रात का चौथा पहर आया। तभी एक आदमी आकर कुछ दूर पर खड़ा हुआ।

उसने जोर से आवाज लगायी–'ओ बलभद्दर सिंह! रनिया इन्तजार करते-करते बरगद के तले सो गयी है। जाकर उठा लो ···

आवाज सुनकर मैं चौंक गया। यह आवाज रानी के पति की थी। मैं बरगद की तरफ बढ़ा। और वहां पहुंचने के बाद जो देखा ··· बेहतर था कि देखने से पहले मैं खुद मर जाता! रानी को सड़क से घसीट कर बरगद के नीचे ले जाया गया था और वहां भाला भोंककर उसे मार डाला गया था। हुजूर! रानी का खून जिसने भी किया हो, सजा मुझे मिलनी चाहिए। मैं अब जी कर करूंगा ही क्या?"

कहते हैं, उसी दिन, जब बलभद्दर सिंह और रानी के पति को पुलिस ले गयी और रानी की लाश वहां से उठा ली गयी, तो तीसरे पहर बरगद के पेड़ पर कुछ गिद्ध आकर बैठे थे और तब से यह बरगद प्रेत-बाधित है। उस उदास, वीरान निर्जीव-से बन गये बरगद में बारह वर्षों के बाद जटा फूटी हैं ··· उसकी फुनगी पर पक्षी बैठे हैं ···!

रास्ते में बूढ़े महंथ को बदरी समझाता है–"महंथ बाबा, अब तो जमाना बदल गया। हम लोग बरगद के नजदीक नहीं जाते हैं, किन्तु तेतर मांझी ने तो वहां घर बना लिया है!"

"घर बना लिया है? कब?"

"आपको पता नहीं? दो-तीन महीने हुए"

"मगर वह जमीन तो मिसिर लोगों की है!"

"उन लोगों ने यह जमीन भूदान में दे दी थी।"

महंथ और बदरी बरगद के निकट पहुंचते हैं। महंथ जी को देखते ही तेतर मांझी दौड़कर निकट आता है। झुककर पांव छूता है–"पांय लागी, सरकार! आज भोर-भोर ···"

"कैसे हो तेतर मांझी? बरगद के नीचे घर बनाकर रहने में डर-वर तो ···?"

तेतर मांझी ने पूरा वाक्य भी नहीं सुना। गद्गद स्वर में बोला–"डर-वर काहे का, सरकार! यह जगह तो चमन है ··· चमन! आने के साथ ही यहां भगवान का आशीर्वाद प्राप्त हुआ। परसों हमारे घर में पोते का जन्म हुआ है ···!"

बूढ़े महंथ ने बदरी की ओर देखा और धीरे-धीरे कहा–पोते का जन्म! आदमी का जन्म हुआ बरगद के तले! इसीलिए ··· इसीलिए तो ··· अब पाप कट गया!"

तेतर मांझी ने नहीं समझा कि महंथ ने क्या कहा। वह मुंह ताकता रहा। महंथ उल्टे पांव गांव की ओर लौटे ··· उनके पास गांव में प्रचारित करने को एक अच्छी-सी खबर थी।

पूरे बारह वर्षों के बाद बरगद की फुनगी पर पक्षी बैठे हैं। बरगद के नीचे भूदान की जमीन पर एक छोटी-सी झोंपड़ी है, जिसकी खपच्चियों वाली नंगी दीवारों पर अभी-अभी गुजरे बहत्तर के चुनाव से संबंधित इंदिरा गांधी और अटलबिहारी वाजपेयी की तस्वीरों वाले आदमकद पोस्टर हैं, जिन पर नये समाजवाद और नये राष्ट्रवाद के नारे छपे हैं और जिनकी छाया के तले फटे हुए कंथ पर तीन दिन का एक नन्हा-सा इंसान पड़ा है, जो अपनी मुट्ठियों को बार-बार उछाल रहा है ··· □

# याचक

धर्मेन्द्र गुप्त
(जन्म : सन् 1934 ई.)

किसी भी नये शहर में पहली बार पहुंचने पर ठहरने के लिए जो स्थान दिमाग में आते हैं, उनमें एक खूबसूरत-सा होटल, या फिर कोई साफ-सुथरी धर्मशाला, या कि जिस मित्र से गहरा संबंध हो उसका निवास-स्थान। पर मुझे ठहरने के लिए इन सबसे अलग एक मंदिर में जगह मिलेगी, इसकी कल्पना भी नहीं की थी।

मंदिर में रहने की बात सीधे-सीधे सामने नहीं आयी। मेरे मित्र प्रमोद ने मंदिर में रहने का प्रस्ताव तो बहुत बाद में किया। इससे पहले तो और बहुत-सी महत्वपूर्ण बातें हुईं जो हम दोनों के सुख-दुख से जुड़ी हुई थीं।

रात पौने दस बजे गाड़ी ने नयी दिल्ली का स्टेशन छोड़ा था और अब सिर्फ छः घंटे के बाद ही मुझे प्रमोद के सामने लाकर खड़ा कर दिया। गर्मियों की सुबह, पौने पांच बजे हल्का सुबह का उजाला चारों और उभर आया था। स्टेशन ज्यों-ज्यों पास आने लगा मेरे मन में प्रमोद से मिलने की उत्सुकता बढ़ने लगी। मैंने देखा, प्रमोद प्लेटफार्म पर खड़ा मेरी प्रतीक्षा कर रहा था। हम दोनों छः महीने बाद मिल रहे थे। बहुत-सी बातें थीं जो अब हमें एक-दूसरे से करनी थी।

इस शहर में आने से पहले प्रमोद मेरे ही ऑफिस में काम करता था। मेरे उसके बीच पोस्ट का एक बड़ा अंतर था। लेकिन उसका स्वभाव कुछ इस तरह मुझे रास आया कि सेक्शन ऑफिसर और एक लोअर ग्रेड-क्लर्क के बीच जो अंतर होता है उसे मैंने तोड़ दिया। ऑफिस के बाहर हम मित्र हो गए और जब-तब साथ बैठकर खाने-पीने का प्रोग्राम बनाने लगे। जब प्रमोद का तबादला इस शहर में हुआ तो मेरे मन को कष्ट पहुंचा। लेकिन प्रमोद तरक्की पर जा रहा था, इसलिए खुशी भी थी। मगर अब जब प्रमोद का पत्र मिला कि उसके प्रमोशन में वह अड़चन आ गयी है जो मेरे लिखित स्टेटमेंट के बिना दूर नहीं होगी तो मैंने खुद ही उसके ऑफिस में पहुंचकर सारी अड़चन को दूर करना तय कर लिया। यह छोटी-सी यात्रा इसी उद्देश्य से की गयी।

"तुमने रात की गाड़ी से मेरी सीट बुक करा दी?" मैंने प्रमोद से पूछा।

"नहीं, आज तो जाना नहीं हो पायेगा, क्योंकि मेरा बॉस एक दिन के लिए बाहर गया हुआ है। मैंने कल रात की सीट बुक करा दी है।"

"आज बृहस्पत है, कल शुक्रवार···" मैंने हिसाब लगाकर कहा, "तो इसका मतलब यह कि मुझे तुम्हारे शहर में दो दिन ठहरना होगा।"

प्रमोद हंसा, "यह शहर··· शहर की क्या रट लगा रखी है। यह शहर नहीं कस्बा है। शहर के नाम पर यहां कैंट की खुली सड़के हैं, जिले का सदर मुकाम है, कचहरी है, थाना है, दो-ढाई लाख की आबादी है। मगर माहौल सारा कस्बे का है। हर चीज पर कस्बे का रंग चढ़ा हुआ है।"

"अब तुम दिल्ली से हर चीज़ का मुकाबला करोगे तो कैसे काम चलेगा?" मैंने हंसकर कहा।

"नहीं··· दिल्ली से मुकाबले का सवाल नहीं उठता, पर शहर के नाम पर पूरी सुविधाएं तो होनी चाहिए। लेकिन यहां वह भी नहीं हैं। अब रहने की बात ले लो, जब से आया हूं कोई ढंग का मकान रहने को नहीं मिला है। एक गंदे-से मोहल्ले में एक कमरा किराये पर लेकर रह रहा हूं।"

"क्यों, यहां नयी कालोनियां नहीं बनायी गयीं?"

"बनी हैं, दो कॉलोनी कैंट के इलाके में बनी हैं, एक-दो की नींव भी पड़ रही है। पर कॉलोनी में मकान इतने कम हैं और रहने वाले इतने ज्यादा कि नंबर ही नहीं आता। यहां रहते जिन्हें पांच-पांच साल हो गये, वही अभी तक नये क्वार्टर नहीं पा सके, फिर भला मुझे कौन पूछता।"

मैं अजीब दुविधा में पड़ गया। दो दिन कैसे कटेंगे। मैंने संकोच से पूछा, "मेरे ठहरने का क्या प्रबंध है?"

"तुम चिंता न करो, मैंने दो होटल देखे हैं। तुम्हें जो पसंद आये वहीं कमरा ले लेंगे।"

हमें एक रिक्शा चाहिए था, लेकिन आठ-दस रिक्शेवालों ने, दो-तीन तांगे वालों ने और एक-दो इक्केवालों ने घेर लिया। स्टेशन से बाहर आनेवाली सवारियों में हमारा आखिरी नंबर था। सुबह-सुबह सवारी किसी तरह मिल जाये इस फिराक में सभी हमें अपनी ओर खींच रहे थे। प्रमोद ने जैसे-तैसे एक रिक्शे पर सामान पटका और हम रिक्शे पर बैठकर चल दिये।

मुश्किल से आधा फर्लांग चले होंगे कि एक दुमंजिली इमारत के सामने प्रमोद ने रिक्शा रोक दिया। इस इमारत में नीचे दुकानें बनी थीं और ऊपर होटल था। एक कोने पर बोर्ड लटक रहा था, 'नेशनल होटल।' हम जीना चढ़कर ऊपर पहुंचे तो लगा, अजीब घुटे-से माहौल में फंस गये हैं। चारों ओर कमरे और बीच में थोड़ी-सी खुली जगह। कमरों में कोई खिड़की नहीं। एक मियां जी दाढ़ी पर हाथ फेरते हुए आये और एक कमरा खोलकर दिखाया। कमरा न जाने कब से बंद पड़ा था। धूल, गंदी हवा और

मच्छरों ने एक साथ हमारा स्वागत किया। मैं दो कदम पीछे हट गया। ऐसी जगह नहीं रहा जा सकता। मियां जी ने भर आंख हमें जांचा और कहा कि वह किराया कुछ कम कर देंगे। मगर मुझे तो मुफ्त में भी रहना मंजूर नहीं था। इससे तो स्टेशान के वेटिंग रूम में पड़े रहना अच्छा है।

हम फिर रिक्शे पर सवार होकर आगे चल पड़े। हमारा रिक्शा अब ऐसी सड़क पर चल रहा था जो बहुत साफ-सुथरी थी। दोनों ओर सायेदार पेड़ थे और सड़क के किनारे एक-दो बंगले भी नज़र आ रहे थे।

"यह जगह तो काफी खूबसूरत नज़र आती है। क्या कहते है इस जगह को?" मैंने पूछा।

"यह कैंटूनमेंट एरिया है।" प्रमोद ने उत्तर दिया, "हर शहर में जिस तरह अंग्रेजों ने अपने रहने को एक साफ-सुंदर कोना चुना था, इस शहर में भी यही वह कोना है जहां आजादी से पहले अंग्रेज रहते थे। इसलिए यहां बड़े-बड़े बंगले हैं, खूबसूरत पार्क हैं, लम्बी-चौड़ी सड़कें हैं, दो क्लब हैं, और चर्च भी है। सैनिको की वर्दी सिलने की फैक्टरी भी यहीं पर है। उसी के पास मेरा ऑफिस है।

"तुम्हारा घर कहां है?"

"मेरा घर तो शहर में है, यहां से काफी दूर।" प्रमोद ने उत्तर दिया।

सड़क का मोड़ आ गया, लेकिन सामने देखा तो रेल की पटरी थी। सड़क रेल की पटरी पर होकर गुजरती थी। पटरी के दोनों ओर सड़क को लोहे के बड़े फाटक से बंद कर दिया गया था। शायद कोई गाड़ी आ रही थी। गाड़ी जब गुजर जायेगी तो फाटक खुलेगा और सड़क फिर चलने लगेगी। फिलहाल तो हमारा रिक्शा फाटक के पास पहुंचकर रुक गया और हम फाटक खुलने का इंतजार करने लगे।

"यह रेल की पटरी शहर को दो भागों में बांटती है। इस तरफ कैंटूनमेंट एरिया है जो अंग्रेज़ियत में पला है। दूसरी तरफ है शहर का वह बड़ा हिस्सा जो सदियों से हिन्दुस्तानियों के रहने की जगह है। सब कुछ अस्तव्यस्त-सा। यह सड़क जो इस समय सुनसान-सी है सुबह आठ बजते ही आदमियों की भीड़ लेकर फैक्टरी की ओर जायेगी। शाम को पांच बजे फिर भीड़ अपने घरों को लौटेगी।" प्रमोद ने मुझे समझाना शुरू कर दिया, "असल में इस शहर के बायें और दायें दोनों ओर दो बड़ी नदियां बहती हैं। दोनों नदियों के बीच यह शहर लंबाई में बसा हुआ है। यही सड़क आगे चार मील तक चली गयी है, और इसके दोनों ओर शहर फैल गया है।"

तेज सीटी देता हुआ इंजन पटरी पर से गुजर गया। रेलवे के आदमी ने फाटक खोल दिया और हमारा रिक्शा आगे बढ़ चला। शहर शुरू हो गया था। दोनों ओर बनी दुकानें बंद थीं। दुकानों के बाहर तख्तों पर दुकान के नौकर सो रहे थे। एक-दो सड़क के किनारे पेशाब करते भी दिखायी दिये। दो फर्लांग बाद ही सदर बाजार का थाना आ गया। उससे मिली हुई इमारत में है–'मून लाइट होटल।'

होटल काफी अच्छा बना है। कमरे भी साफ-सुथरे। बैरों की ड्रैस भी कायदे की। लेकिन कमरे का किराया कायदे का नहीं था। चौबीस घंटे का किराया कम से कम बीस रुपये। यह तो बहुत ज्यादा है। मैं सरकारी दौरे पर तो निकला नहीं हूं, कि खुले हाथ खर्च करूं। कुछ तो मित्र की मदद का संकल्प और कुछ घूमने-फिरने की इच्छा ही मुझे यहां तक खींच लायी। इस कार्यक्रम में सीमा से अधिक पैसा खर्च करने की बात नहीं है। प्रमोद मेरे रहने-खाने को अतिरिक्त खर्च उठाये, यह भी मुझे मंजूर नहीं। इसलिए मैंने प्रमोद से कहा, "क्या किसी धर्मशाला में इंतजाम नहीं हो सकता?"

प्रमोद खुद संकोच में था। वह इतने महंगे होटल में मुझे टिकाना नहीं चाहता था जिसका खर्च वह खुद न उठा सके। धर्मशाला का नाम मेरी जुबान पर आते ही उसने उत्साह से कहा, "हां, पास में ही एक धर्मशाला है, उसे भी देख लो।"

लेकिन धर्मशाला को देखकर तो मन में यही आया कि मैं इस शहर में आया ही क्यों, जहां ठहरने लायक जगह नहीं है। ऐसा नहीं है कि पहले कभी गंदगी देखी नहीं, पर इस समय धर्मशाला में गंदगी जिस प्रकार फैली हुई थी वह तो तुरंत वहां से भाग जाने को बाध्य कर रही थी। धर्मशाला पक्की बनी हुई थी। सहन में सफेद पत्थर जड़ा हुआ था। एक तरफ नल भी लगा था। मगर इस बीच सब का रखवाला कोई नहीं था। जहां-तहां धर्मशाला में ठहरने वालों ने जूठी पतलें और मिट्टी के सकोरे फेंक रखे थे। सहन में ही खाना पकाने के लिए तीन ईंटों के बने चूल्हे कोयले और राख बिखेर चुके थे। इससे भी परे जो सबसे ज्यादा घिन पैदा करने वाली बात थी वह यह कि छोटे बच्चों ने सहन में ही जगह-जगह कृपा कर रखी थी। एक अधेड़ उम्र का गंदा-सा आदमी मुंह में तम्बाकू भरे सामने आकर खड़ा हो गया। पूछने पर पता चला कि वह धर्मशाला का मैनेजर और चौकीदार दोनों ही है।

मेरे मुंह के खिचाव को देखकर प्रमोद धर्मशाला से बाहर आ गया। सहसा उससे कुछ कहते नहीं बना। पर बात तो कुछ करनी ही थी, इसलिए बोला, "बुरा न मानना, यहां से दस कदम आगे एक मंदिर है। मेरी देखी हुई जगह है, बहुत साफ-सुथरी। वहां ठहरने का इन्तजाम हो सकता है।" प्रमोद ने मुझे समझाना चाहा।

मैंने जेब से सिगरेट निकालकर सुलगायी। कुछ सोचा, फिर कहा, "देखो, प्रमोद, तुम परेशान न हो। हम वापस स्टेशन चलते हैं। वहीं वेटिंग रूम में जो भी समय है, काट लेंगे। बेकार में इधर-उधर घूमने से क्या फायदा?"

"अरे नहीं, वेटिंग रूम में कहीं दो दिन कटेंगे!" प्रमोद ने झुंझलाकर कहा, "तुम एक बार मंदिर में चलकर कमरा देख तो लो। अगर पंसद न आये तो फिर घर ही चले चलना। जैसे भी होगा निर्वाह कर लेंगे।"

अजीब मुसीबत में जान फंस गई। प्रमोद के घर तो किसी तरह जाया नहीं जा सकता। एक कमरे में बीवी और बच्चों के साथ ही बीमार बूढ़ी मां को लेकर प्रमोद रह रहा है। इस सबके बीच में कहां समाऊंगा। इससे तो अच्छा है कि मंदिर अगर साफ-सुथरा

हो तो उसमें ही किसी कोने में पड़ रहा जाये। मैं प्रमोद के साथ हाथ में बैग उठाये मंदिर की ओर चल दिया।

मंदिर पास ही था। पांच मिनट में ही पहुंच गये। बाहर से देखने पर मंदिर के अस्तित्व का पता नहीं चलता था, क्योंकि मंदिर के दरवाजे के साथ ही दाये-बायें दो क्वाटरनुमा मकान बने थे जिनमें लोग बसे हुए थे। लेकिन जब मंदिर का दरवाजा पार करके थोड़ा आगे बढ़े तो खुली जगह आ गयी। काफी बड़ा सहन था। सहन पार करके एक पक्की दालान और दालान के बाद बीच में एक छोटा-सा कमरा बनाया गया था, उसी में भगवान का सिंहासन रखा हुआ था। दालान की बायीं ओर एक कच्ची कोठरी पड़ी हुई थी जो शायद पक्की बनने की प्रतीक्षा में थी। दालान की दायीं ओर पक्का कुआं था जिस पर इस समय भी रस्सी और दो-तीन छोटी-बड़ी बाल्टी रखी हुई थीं। कुएं की दूसरी ओर पक्का फर्श था जो शायद नहाने के लिए ही बनाया गया था। इसके बाद कच्ची जगह थी जिसमें बाग लगाया गया था जो ठीक से देखभाल न होने के कारण लगभग उजड़ा-सा लग रहा था। सिर्फ केले के चार पेड़ एक-दूसरे से जुड़कर हरे पत्ते लिये अपने पूरे यौवन के साथ खड़े थे। दालान के ठीक सामने एक पक्का कमरा बना था। उसी के आगे पीपल का पेड़ भी था जिसके तने के चारों ओर चबूतरा बनाकर दो-चार काले पत्थर स्थापित कर दिए गये थे जो भगवान शिव का रूप पा गये थे, क्योंकि भक्तों ने रोली चावल के साथ ही कलावे के लाल धागों को भी पीपल के चारों ओर लपेट दिया था। कमरे के पास ही इतनी खुली जगह पड़ी हुई थी कि दो-तीन कमरे और आसानी से बन जायें।

सहन में चार तख्त पड़े हुए थे। यह शायद रात को सोने के काम आते होंगे। दालान में भी दो चटाइंया बिछी थीं। यह बैठने के काम आती होंगी। मैंने चारों ओर नज़र घुमाकर देखा कि कहीं गन्दगी नज़र आ जाये, लेकिन लगता है मेरे आने से पहले ही सारे मंदिर में झाड़ू लग चुकी है, इसलिए कहीं भी कूड़ा-कचरा नज़र नहीं आया। हां, पीपल के पेड़ से और मंदिर के दरवाजे के साथ लगे बरगद के पेड़ से कुछ पत्ते झड़कर सहन में फैल गये थे।

दालान में इस समय चटाई पर दो आदमी बैठे थे, एक बूढ़े-से चश्मा लगाये दूसरे ज़रा अधेड़ अवस्था के। प्रमोद ने तख्त पर अटैची रखकर कहा, "नमस्कार शुक्ला जी, पंडित जी नमस्ते।"

शुक्ला जी और पंडित जी दोनों उठकर खड़े हो गये। शुक्ला जी दालान के बाहर आ गये, "नमस्ते··· नमस्ते, बड़ी देर कर दी आपने! हम तो बहुत देर से आपकी प्रतीक्षा कर रहे हैं।"

"हां, चाय पीने में देरी हो गयी," प्रमोद ने किसी तरह बात को संभाला।

मैंने हाथ का बैग तख्त पर रखकर दोनों को नमस्कार किया। अब तक पंडित जी भी दालान से बाहर आ गये थे। वह चश्मे में से अपनी आंखें मिच-मिचाकर मेरी ओर

देख रहे थे। लगता था कि जैसे उन्हें दूर की चीज देखने में परेशानी हो रही थी।

"हमने आपके लिए कमरा बिल्कुल साफ करा दिया है। आप सामान रखकर आराम करें।"

हम अपना सामान कमरे में ले आए। कमरे में भी एक तख्त पड़ा था। कमरा मुझे काफी सुविधापूर्ण और अच्छा लगा। मैंने प्रमोद को झिड़कते हुए कहा, "तुम भी यार अजीब आदमी हो, जब यह इतनी अच्छी जगह तुम्हारी जानकारी में पहले से ही थी तो फिर सीधे यहीं क्यों न आ गये? बेकार में धर्मशाला और होटल के चक्कर लगाते रहे।"

"अगर सीधे यहां आ जाता तो तुम्हें यह जगह भी अच्छी नहीं लगती। जब दो-चार घटिया जगह दिखा दीं तो फिर यह जगह तो अच्छी लगती ही।"

मैं प्रमोद की मनोवैज्ञानिक सूझ पर खुलकर हंसा।

प्रमोद को घर जाने की जल्दी थी। मां की तबियत खराब थी, साथ ही मेरे लिए खाने का प्रबंध भी करना था। मैंने प्रमोद से कहा कि यहीं कहीं होटल में खा लेंगे, पर वह नहीं माना। प्रमोद के जाने के बाद मैंने कुएं के पास खुले में बैठकर स्नान किया। हालांकि इस तरह खुले में नहाना मुझे अटपटा-सा लगा। मगर कुएं का पानी ठंडा और मीठा था, इसलिए तबीयत प्रसन्न हो गई।

बाहर से दो आदमी बाल्टी लिये हुए आये और उन्होंने कुएं से पानी भरा। पानी से भरी पहली बाल्टी उन्होंने पौधों में उल्टा दी। फिर दूसरी बाल्टी भर के ले गए। इसी क्रम में एक आदमी और आया। उसने भी पहली बाल्टी का पानी पौधों में डाल दिया, फिर दूसरी बाल्टी भरकर ले गया। मुझे यह तरीका अच्छा लगा। सुबह का समय है, पौधों को भी पानी चाहिए। एक-एक बाल्टी भरकर सब पौधों को दें तो बाग हरा-भरा रहेगा।

मैंने देखा मंदिर के पिछले दरवाजे से बाल्टी लिए एक लड़की आयी। लड़की की उम्र मुश्किल से पंद्रह-सोलह साल की रही होगी। वह मामूली सूती धोती पहने हुए थी। उसका चेहरा हल्की उदासी के कारणा बुझा-बुझा-सा था। मगर इसके बाद भी चेहरे में कुछ ऐसी मासूमियत थी जो अनजाने ही दूसरों को अपनी ओर खींच लेती थी। उसने सिर्फ एक बार नज़र उठाकर इधर-उधर देखा और फिर बाल्टी में रस्सी बांधकर पानी भरने लगी। बाल्टी कुछ बड़ी थी। पानी से भरी बाल्टी को उठाने में उसे परेशानी हो रही थी। लेकिन फिर भी वह बाल्टी को लेकर जिधर से आयी थी उधर ही वापस चली गई।

कपड़े बदलकर मैं अखबार लेकर दालान में बिछी चटाई पर बैठ गया। सुबह के सात बजे गए थे। मंदिर में पूजा-पाठ के लिए भक्तजन आने शुरू हो गए थे। पूजा करने की विधि बहुत आसान थी। पहले आकर शिवजी पर जल चढ़ाया, फूल चढ़ाये, फिर बारी-बारी से सारे देवताओं को प्रणाम करके और धरती पर सिर टेककर भगवान के प्रति अपना कर्त्तव्य पूरा कर लिया। एक-दो भक्तजनों ने पंडित जी से गंगाजल और तुलसीदल भी प्रसाद के रूप में प्राप्त कर लिया।

मेरे लिए यह दृश्य कोई विशेष आकर्षक नहीं रहा। इस प्रकार की चलाऊ पूजा तो मैं बचपन से देखता चला आ रहा था। आकर्षक दृश्य तो मेरे सामने तब उपस्थित हुआ जब तीन औरतें हाथ में एक छोटी-सी थाली लिए, जिसमें रोली चंदन और फूल के साथ ही आटे का बनाया हुआ एक दीया भी जल रहा था, आकर केले के पेड़ के पास बैठ गयीं। उन्होंने पहले केले के पेड़ के चारों ओर लाल धागा बांधा, रोली चंदन लगाया, फूल चढ़ाये और फिर आटे के दीये से आरती उतारी। इसके बाद उनमें से एक ने आठ-दस पेज की एक पतली-सी पुस्तिका निकाली जो बार-बार के इस्तेमाल के कारण काफी मैली हो गई थी, उसी में छपी कथा को हलके स्वर में पढ़ने लगीं। इस तरह धीरे-धीरे दस-बारह औरतों का झुंड केले के पेड़ को चारों ओर से घेरकर बैठ गया। उनमें सुबह वाली लड़की भी थी।

कथा समाप्त हुई तो सब औरतों ने श्रद्धा से सिर नवाकर केले के पेड़ को नमस्कार किया, फिर गोल घेरा बनाकर केले के पेड़ के चारों ओर घूमकर परिक्रमा की, प्रणाम किया और इस तरह केले के पेड़ की पूजा समाप्त हुई।

मैं इस सबको बहुत कौतुक से देख रहा था। अब तक मैंने पीपल और तुलसी के पेड़ों को ही पुजते देखा था। जब प्रमोद मुझे लेने आया तो मैंने उससे केले के पेड़ की पूजा के बारे में पूछ ही लिया। मेरी बात सुनकर प्रमोद हंसा, फिर उसने बताया कि हर बृहस्पतिवार को केले के वृक्ष के पूजन के पीछे पति के सुख और समृद्धि की भावना छिपी रहती है। इस इलाके में यह माना जाता है कि अगर हर बृस्पतिवार को केले के वृक्ष की पूजा की जाएगी तो औरत का सुहाग सदा अमर रहेगा।

मेरी आंखों के आगे वृक्ष को पूजती औरतों का झुंड आ गया। लेकिन इसमें वह लड़की क्यों शामिल हुई? वह किसी भी ओर से व्याहता नहीं दिखाई दे रही थी। न मांग में सिंदूर था और न ही उसके हाथों और गले में ऐसा कोई जेवर जो सुहागिन औरतें पहनती हैं। इस बारे में प्रमोद से कुछ पूछ नहीं सका। पूछने का अर्थ होता, अपना मज़ाक उड़वाना।

मैं प्रमोद के साथ मंदिर से बाहर आ गया। प्रमोद ने रिक्शा करना चाहा, लेकिन मैंने मना कर दिया। मील-दो-मील तो पैदल चला ही जा सकता था। पैदल चलने से शहर को भी अच्छी तरह देखा जा सकता है।

हम धीमी चाल से आगे बढ़ चले। हमारे मुंह में सिगरेट लगी हुई थी और हमारा मूड बहुत अच्छा था। लेकिन अभी चार ही कदम चले होंगे कि सहसा सुबह वाली गंदी धर्मशाला फिर सामने आ गयी और मेरा मूड ऑफ हो गया। न जाने ऐसी गंदी धर्मशाला मेन रोड पर ही क्यों बनवायी जाती हैं? इसे तो किसी गली-कूचे में होना चाहिए था। मैंने बात बदलने की गरज़ से पूछा, "इस जगह को क्या कहते हैं?"

"खिन्नी बगिया," प्रमोद ने उत्तर दिया, "और यह सड़क जहां जाकर खत्म होती है वहां रोटी गोदाम है। उसी के सामने राजा पुवांय की कोठी है जो अब लड़कियों के

कॉलेज में बदल गई है।"

खिन्नी बगिया और रोटी गोदाम, इन दोनों नामों ने मुझे खूब हंसाया। मुझे हंसते देखकर प्रमोद बोला, "भई, यहां हर चीज़ में लोकल-टच है, तुम किस-किस बात पर हंसोंगे। मसलन इस शहर की तमाम नालियां कच्ची हैं। इनमें हर समय गंदा पानी भरा रहता है और सूअर उसमें लोटते रहते हैं।"

"पर इसमें तो हंसने की नहीं, रोने की बात है।" मैंने कहा।

"बिल्कुल ठीक है। इस रोने और हंसने में ही इस शहर ने सदियां गुजार दीं, आगे भी गुजार देगा।"

हम गलियों के बीच से गुजर रहे थे। मुख्य बाजारवाली सड़क हमने छोड़ दी। तय हुआ कि लौटते समय बाजार से होकर आयेंगे। इस समय हम एक खुली जगह पर आ गए थे। चारों ओर मकान और बीच में काफी खुली जगह। मैंने उस जगह का नाम पूछा तो प्रमोद ने बताया कि इसे 'तलऊआ' कहते हैं। पहले यहां राजनीतिक जलसे होते थे, मगर अब तो मैदान में चारों ओर कूड़ा-करकट फैला हुआ था और आदमी के खड़े होने लायक भी साफ ज़मीन नहीं थी। "इस जगह तो अच्छा-सा पार्क भी बनाया जा सकता था।" मैंने सुझाव दिया।

प्रमोद हंसा, "तुम ठीक कहते हो। सुना है कि एक बार इस शहर में एक नौजवान कलेक्टर आ गया था। उसने शहर को सुधारने में बहुत रुचि ली। इस जगह को एक पार्क में तबदील कर दिया। एक मंच भी बना दिया जहां से नेता लोग भाषण करें। मगर उस कलेक्टर के तबादले के बाद ही लोगों ने उसके अच्छे काम पर पानी फेर दिया। पार्क को रौंद डाला, चारों ओर लगा जंगला उखाड़कर फेंक दिया। आसपास के लोग ईंटें उखाड़ कर अपने घरों को बनाने लगे। मंच को भी तोड़-फोड़ दिया। असल में छोटे शहर के लोगों में 'सिविल-सेंस' पैदा हो ही नहीं पाया है।"

प्रमोद छोटे शहर की बात कर रहा है, पर क्या बड़े शहर में 'सिविल-सेंस' पैदा हो पाया है? दिल्ली की बसों में चढ़ते-उतरते समय लोग जिस तरह धक्का-मुक्की करते हैं, वह क्या 'सिविल-सेंस' में आता है?

प्रमोद का घर आ गया था, घर में जगह कम थी, सिर्फ एक बड़ा कमरा, एक स्टोर और एक बरामदा, लेकिन घर था साफ-सुथरा। दिल्ली में प्रमोद को एक काफ़ी बड़ा क्वार्टर मिला हुआ था। उसके मुकाबले तो यह घर कुछ भी नहीं है, पर गुजारा तो करना ही होगा।

खाना बहुत बढ़िया पका था, मैंने बहुत तारीफ़ की। उसकी पत्नी इस बात से दुखी थी कि मुझे मंदिर में ठहरना पड़ा। लेकिन मैंने समझाया कि इसमें दुखी होने की कोई बात नहीं है। यह तो मेरे लिए एक एडवेंचर-सा है।

लौटते समय मैं अकेला ही रिक्शे में आ गया, क्योंकि खाने के बाद मुझे सोना था और बेकार में प्रमोद साथ आकर क्या करता!

दोपहर हो गयी थी। मंदिर में पहुंचकर मैंने देखा एक चटाई बिछाकर पंडित जी दालान में लेटे हुए हैं। मुझे देखा तो उठने लगे। मैंने उन्हें उठने से मना कर दिया और खुद भी दूसरी चटाई बिछाकर लेट गया।

गर्मी तेज थी। दालान में कभी-कभी हवा का झोंका आ जाता, मगर उससे पूरी राहत नहीं मिलती। दालान में एक बड़ा सीलिंग-फैन अगर लग जाये तो काफ़ी आराम हो जाये!

मुझे बेचैनी से करवटें बदलते देखकर पंडित जी ने हाथ से हवा करने वाला पंखा देते हुए कहा, "पंखा ले लीजिए बाबू साहब। आज गर्मी ज़्यादा है।"

"हां, मौसम भी तो गर्मी का चल रहा है।" मैंने पंखा ले लिया और तेजी से हिलाकर हवा करने लगा।

एक मिनट हम दोनों के बीच मौन छाया रहा, फिर मैंने कहा, "आपने बहुत परिश्रम से इस मंदिर को बनाया है। मैंने इतना साफ-सुंदर मंदिर कम ही देखा है।"

"हमने कुछ नहीं बनाया, सब शुक्ला जी की कृपा है। उन्हीं के हाथों यह सब चमत्कार हुआ है।" पंडित जी के स्वर से स्पष्ट था कि शुक्ला जी के लिए उनके मन में बहुत सम्मान है। अपनी बात को जारी रखते हुए उन्होंने कहा, "हमें तो साहब पूजा-पाठ भी कुछ नहीं आता था। हम तो फैक्टरी में नौकर थे। वहां से रिटायर हुए तो बहुत परेशान हो गये। गृहस्थी साथ और आमदनी थोड़ी। सो शुक्ला जी ने हमसे कहा कि हम यहां पुजारी हो जायें और भगवान की सेवा करें। तो हमने कहा कि हमको तो पूजा-पाठ कुछ नहीं आता। पर शुक्ला जी ने सब सिखा दिया। शुरू-शुरू में तो हमें बहुत दिक्कत हुई···"

"दिक्कत किस बात की? पूजा-पाठ में तो दिक्कत आनी नहीं चाहिए।" मैंने कहा।

"पूजा-पाठ में नहीं, आरती उतारने में बहुत दिक्कत आयी," पंडित जी ने स्पष्ट किया, "शुरू में जब भी हम भगवान की आरती उतारते तो आरती उतारी ही नहीं जाती। सीधे हाथ में आरती लेकर और बायें हाथ से घंटी बजाना बहुत कठिन काम है। जब हम सीधे हाथ को घुमाकर आरती करते तो बायां हाथ भी अपने आप घूम जाता जब बायां हाथ हिलाकर घंटी बजाना चाहते तो सीधा हाथ भी वैसे ही हिलने लगता। साहब, बहुत परेशानी हुई।" पंडितजी अपनी ही बात पर हो··· हो··· करके हंसने लगे। मुझे भी हंसी आ गयी। मैंने पूछा, "फिर आपने इस समस्या को हल कैसे किया?"

"हमने क्या समस्या को हल किया, इसमें भी शुक्ला जी ने मदद की। उन्होंने बताया कि बायें हाथ में घंटी को मजबूती से पकड़कर कमर पर टिका लो और कमर पर ही घंटी को मारते रहो, साथ ही सीधे हाथ से आरती उतारो तो कोई दिक्कत नहीं होगी। सो हमने ऐसा ही किया।"

इस बार मुझे वाकई हंसी आ गयी। मैंने कल्पना की कि किस प्रकार एक बूढ़ा आदमी कमर पर बांया हाथ टिकाये घंटी को पटक रहा है और सीधे हाथ से आरती को उतारने

का प्रयत्न कर रहा है। यह भी एक प्रकार का शास्त्रीय नृत्य हो गया। मुझे हंसते देखकर पंडित जी कुछ शरमा गये, बोले, "अब तो साहब प्रैक्टिस हो गयी है, कोई दिक्कत नहीं होती।"

इस भरी दोपहरी में भी बाहर से बाल्टी लेकर लोग आते और कुएं से पानी भरकर ले जाते। मैंने पूछा कि क्या बाहर पानी का इंतजाम नहीं है जो मंदिर में लोग पानी भरने के लिए आते हैं। पंडित जी ने कहा कि भगवान के प्रताप से इस कुएं का पानी बहुत मीठा है, इसलिए पीने के लिए लोग यहीं से पानी ले जाना पसंद करते हैं।

मैंने देखा, मंदिर के पीछे वाले दरवाजे से वही सुबहवाली लड़की बाल्टी लिये हुए आयी और कुएं से पानी भरने लगी। जो सुबह धोती और ब्लाऊज उसने पहन रखा था वही इस समय भी पहने हुए थी। बार-बार घर पर धुलने के कारण ब्लाऊज का सफेद रंग पीला पड़ गया था। धोती भी मुचटी-सी थी। सर के बाल सुबह की तरह रूखे, इधर-उधर छितराये हुए थे। लगता था जैसे हर दिन एक बोझ की तरह इस लड़की की ज़िंदगी में आकर गुजर जाता था। चेहरे की उदासी इसी बात को कह रही थी।

कुएं से पानी भरते हुए लड़की ने अपना सीधा पैर उठाकर कुएं की मुंडेर पर रखा और तब मैंने देखा कि लड़की ने पैर की उंगली में चांदी का बिछुआ पहना हुआ था। मैं आश्चर्य से लड़की की ओर देखता रह गया। पैर की उंगली में बिछुआ तो सुहागिन औरतें पहनती हैं! तब क्या इस लड़की की शादी हो चुकी है! इतनी कम उम्र में शादी!

पंडित जी ने लड़की को देखा तो बोले, "अरे एक लोटा हमें भी पानी पिलाना।"

लड़की ने दालान में रखा लोटा उठाया और पानी भरकर पंडित जी को दे दिया। पंडित जी ने बायें हाथ की हथेली को मुंह से लगाकर ऊपर से लोटे से पानी की धार को डालकर अपनी प्यास बुझा ली। फिर मुझसे पानी पीने के लिए पूछा। पानी पीने की मेरी भी इच्छा हो रही थी। लेकिन जिस तरह से पंडित जी ने पानी पिया, उस तरह से मैं पानी नहीं पी सकता था। उस तरह से तो पानी मेरे मुंह में कम जाता, कपड़ों पर ज्यादा गिर पड़ता, इसलिए मैंने अपने बैग से प्लास्टिक का गिलास निकाला और पानी लेकर पी लिया।

मेरी इच्छा हुई कि पंडित जी से पूछूं कि यह लड़की कौन है। मगर इस तरह किसी अनजान जवान लड़की के बारे में पूछना भारतीय संस्कृति के विरुद्ध है। इस तरह की पूछताछ से पंडित जी मेरे बारे में न जाने कैसी धारणा मन में बना लेते, इसलिए मैं चुप ही रहा।

शाम को प्रमोद आया तो मैं उसके साथ घूमने निकल पड़ा। बाजार, पार्क, रेस्तरां या फिर सिनेमा, यह सब तो जिस बड़े शहर में मैं रहता हूं उसी में बहुत हैं। इनके सहारे शाम बिताने की क्या तुक! मैंने प्रमोद से कहा, "अच्छा रहे कि हम नदी की ओर चलें, नदी का किनारा देखे तो वर्षों हो गये।"

हम पैदल नदी की ओर चल दिये। आबादी धीरे-धीरे पीछे छूट गयी, फिर छोटे-छोटे

खेत आ गये। इसके बाद नदी दिखाई देने लगी। हम पुल पर जाकर बैठ गये। यह बहुत पुराना पुल था। जब भी कोई बैलगाड़ी पुल से गुजरती तो पुल चरमरा उठता।

सरज डूब चुका था। अब सिर्फ हल्की-सी लाली आसमान में छाई हुई थी। चारों ओर सांझ की अजीब-सी खामोशी थी, इसमें नदी बहुत मंद गति से बह रही थी। मैंने प्रमोद का शुक्रिया अदा करते हुए कहा, "देखो, तुमने बुलाया तो मैंने सांझ भी देख ली। वरना हम तो जहां रहते हैं वहां शाम होने से पहले ही इतने बल्ब जल उठते हैं कि पता ही नहीं लगता शाम कब आई और कब चली गई।"

"यह सब इसलिए कह रहे हो कि यहां सिर्फ़ दो दिन के लिए आये हो। अगर स्थायी रूप से यहां रहना पड़े तो यही शाम सन्नाटे, अंधेरे और मनहूसियत में बदल जाये।" प्रमोद के स्वर में तल्खी उभर आयी थी।

"चलो भाई, तुम्हारी बात भी मान ली," मैंने उसका मन रखने के लिए कहा, "मैं दो दिन के लिए आया हूं तो तुमने अपनी बात कह दी। दोनों ही बातें अपनी-अपनी जगह ठीक हैं।" मैं हंसने लगा तो प्रमोद को भी हंसना पड़ा।

रात का खाना हमने मूनलाइट होटल में खाया। फिर कुछ देर यों ही सुनसान सड़कों पर घूमते रहे। जब इससे भी मन ऊब गया तो टहलते हुए रेल लाइन तक पहुंच गये, जहां फाटक बंद था। हम वहीं खड़े रहे। ट्रेन की हलचल ने रात के सन्नाटे को कुछ देर के लिए तोड़ा, उसके बाद फिर पहली जैसी जड़ता चारों ओर छा गयी।

"यहां तो लोग-बाग सरेशाम से ही सो जाते हैं। सड़कें देखो कैसी खाली-खाली हो गयी हैं।" मेरी आवाज में झुंझलाहट उभर आई थी।

"अब यहां के लोग सुबह चार बजे उठकर नदी नहाने की अपनी आदत का क्या करें? सुबह चार बजे उठना होता है तो सरेशाम ही सो जाते हैं।" प्रमोद ने मेरी बात को मज़ाक में टाल दिया।

मंदिर में पहुंचा तो देखा तीन-चार नौजवान हारमोनियम, ढोलक, मंजीरे और करतालों के साथ बैठे हैं। इसका मतलब है आज रात सोना नहीं होगा। भगवती जागरण के नाम पर अब यह सब रात-भर चिल्लायेंगे और मैं अपना सिर धुनूंगा। मुझे दिल्ली की याद आ गयी। जब-तब चलती हुई सड़क को तंबू तानकर रोक दिया जाता है और फिर खूब सजावट, रोशनी के बीच, माता भगवती के आदमकद चित्र के सामने बैठकर, फिल्मी धुनों में अंग्रेजी-बातों के साथ जागरण मनाया जाता है। भगवान काफ़ी दूर हैं, इसलिए मील-दो-मील की दूरी के बीच सोये आदमियों को भी जगा दिया जाये। गनीमत है कि मंदिर में ध्वनि विस्तारकयंत्र नहीं लगाया है। अब मंदिर में कितने ही जोर-शोर से भजन किया जाये, मंदिर के बाहर लोग आराम से सोते रहेंगे। पर मेरा क्या होगा? मुझे तो मंदिर में ही रहना है।

लेकिन जब कीर्तन शुरू हुआ तो मेरे आश्चर्य की सीमा नहीं थी। फिल्मी धुनों की तो बात ही क्या, यहां तो शुद्ध रूप में सूर, मीरा और तुलसी के पद गाये जा रहे थे।

कीर्तन का प्रारंभ ही भक्ति रस के एक प्रसिद्ध दोहे से किया गया। मैं मूक स्थिर अपनी जगह बैठा इस दृश्य को देख रहा था।

धीरे-धीरे कीर्तन में उभार आता गया। चारों नौजवान तल्लीनता से कीर्तन में मग्न हो गये। पहले उन्होंने तुलसी के पद गाये, फिर सूर के और अंत में मीरा के पदों से कीर्तन को समाप्त कर दिया। एक अजीब-सा भक्ति का समा बंध गया था। मन कर रहा था कि यह नौजवान कुछ देर इसी प्रकार से और गाते रहें, लेकिन रात के ग्यारह बज रहे थे। पंडित जी ने आरती प्रारंभ की। आरती के बाद तुलसीदल और थोड़े से बूंदी के दानों का प्रसाद बांटा गया।

मैंने भी प्रसाद लिया। मुझे पहली बार लगा कि मंदिर में भी कुछ समय अच्छे रूप में बिताया जा सकता है।

चारों नौजवान अब जाने की तैयारी कर रहे थे। मुझसे नहीं रहा गया। मैंने कहा, "आप सबने तो बहुत सुंदर रूप से कीर्तन किया है। बहुत सुख मिला। इस तरह से अगर कीर्तन होने लगे तो पूजा-पाठ का रूप ही बदल जाये।"

मेरी बात से चारों नौजवान पहले तो चौंके, फिर प्रसन्नता से उनके चेहरे खिल गये। उनमें से एक ने कहा, "हम तो बराबर कीर्तन में सुंदर से सुंदर कविता को स्थान देते हैं। कीर्तन का अर्थ ही है ज्ञान के साथ ईश्वर को स्मरण करना। इस समय तो हमने सगुण भक्त कवियों के पद गाये हैं, वैसे हम निर्गुण भक्त कवियों के पद भी इसी तरह गाते हैं।"

इस बार मेरे चौंकने की बारी थी। मैं आश्चर्य से उनकी ओर देखता रह गया। बहुत मामूली धोती-कुर्त्ता या पैजामे पर बुशर्ट पहने वह चारों नौजवान कस्बई आदमी का प्रतिनिधित्व कर रहे थे। लेकिन निर्गुण और सगुण की बात तो पढ़ा-लिखा व्यक्ति ही कर सकता है। तब फिर क्या इन चारों को भी पढ़े-लिखे की लाइन में रखना होगा? मैं अपनी उत्सुकता न रोक सका, पूछ ही लिया "आप सब क्या कीर्तन का ही कार्य करते हैं?"

"अरे नहीं साहब, यह तो हमारा शौक है," एक ने उत्तर दिया, "कीर्तन से ईश्वर को याद भी कर लेते हैं और अपना मनोरंजन भी हो जाता है। दिन भर काम में खटने के बाद आखिर कुछ मनोरंजन भी तो चाहिए। फिल्म देखने को जेब में पैसे नहीं जो रोज शाम को फिल्म देखें। वैसे भी फिल्म से फायदा ही क्या है?"

मैं नौजवानों की बात का कायल हो गया था। कीर्तन अगर ढंग से किया जाए तो फिल्म से बहुत ऊंची चीज है। लेकिन कीर्तन को ढंग से कितने लोग करते हैं?

"वैसे आप चारों करते क्या हैं? मेरा मतलब जीविका से है।"

मेरे प्रश्न ने उनके चेहरे पर एक अजीब-सी उदासी ला दी। पर मेरे प्रश्न का उत्तर तो देना ही था। चारों में जो नौजवान अब तक उत्तर दे रहा था उसी ने कहा, "करना क्या है, बस पेट भरने लायक काम करते हैं। मैं यहां पोस्ट आफिस में पोस्टमैन हूं।

सुबह-शाम चिट्ठियां बांटता हूं। यह मेरा साथी सुंदर लाल है। यह यहां फैक्टरी में रोज के वेतन पर पैर से मशीन चलाकर कपड़ा सीता है। यह हरिकिशन ईंटों के भट्टे पर मुंशी है और यह ब्रह्मदेव अब तौलिए और रूमाल बेचने का काम करता है।" एक मिनट के लिए नौजवान रुका फिर जरा उत्साह से बोला, "वैसे हम सब पढ़े-लिखे हैं। मैं और सुंदरलाल तो लखनऊ यूनीवर्सिटी से ग्रेजुएट हैं। पर कोई ढंग की नौकरी मिली नहीं। घर-गृहस्थी छोड़कर किसी बड़े शहर में खोजने जा नहीं सकते। सो यहां जो काम मिला, करना पड़ रहा है पहले पोस्टमास्टर ने मुझसे कहा था कि दो साल अगर पोस्टमैनी कर लोगे तो फिर क्लर्क बना देंगे, पर आज चार साल हो गए हैं, वही पोस्टमैन का पौस्टमैन हूं। हरिकिशन बी० काम में पढ़ रहा था, लेकिन पढ़ाई पूरी नहीं कर पाया। ब्रह्मदेव भी इंटर पास है। हम सब ने बहुत हाथ-पांव मारे, पर कोई ढंग का काम नहीं मिला। अब जैसे भी दिन कट रहे हैं, काटने हैं। शाम को शहर के मन्दिरों में मिल-बैठकर कीर्तन करते हैं तो कुछ आनन्द मिल जाता है। नहीं तो आप जानिए बस कोल्हू के बैल वाली कहानी हम सब दोहरा रहे हैं।"

इसके आगे कुछ कहने को शेष नहीं रह जाता। उनकी मजबूरी, उनकी जड़ता एकदम अपने नंगे रूप में उभर आई थी। वह उस घेरे को तोड़ने में असमर्थ थे जिसने उन्हें पंगु होकर जीने पर बाध्य कर दिया था। एक-एक कर उन्होंने अपनी पुरानी खस्ता हालत की साइकिलों को उठाया और मन्दिर से बाहर हो गये।

मैं ठीक ग्यारह बजे प्रमोद के आफिस में पहुंच गया। लगभग दो घंटे मुझे आफिस में रहना पड़ा। प्रमोद का काम हो गया, मुझे बस यही संतोष था। अब आज रात की गाड़ी से वापस लौट जाऊंगा। मैंने प्रमोद से कहा कि वह शाम को मंदिर में आ जाये, वहीं से स्टेशन चले चलेंगे। तब तक मैं मंदिर में ही रहूंगा। घूमना-फिरना तो हो गया, अब तो मंदिर में बैठकर आराम करूंगा।

दोपहर का खाना मैंने प्रमोद के साथ आफिस की कैंटीन में ही खा लिया था, इसलिए अब तो सीधे मंदिर में जाकर लेटने की इच्छा हो रही थी। मैंने रिक्शा किया और मंदिर की ओर चल पड़ा।

मंदिर में दोपहर की उमस और उदासी चारों ओर छाई हुई थी। दालान में पंडित जी बैठे एक नौजवान के साथ एक कागज पर कुछ लिखा-पढ़ी कर रहे थे, मुझे देखा तो बोले, "आ गए बाबू साहब।" फिर सामने बैठे नौजवान से बोले, "अरे रामचंद्र, बाबू साहब के लिए चटाई बिछा दो।"

"रहने दीजिए, मैं खुद बिछा लूंगा।" मैंने कहा।

"नहीं, नहीं, यह कैसे हो सकता है? हमारे होते हुए आप परेशान क्यों हों?" पंडित जी एक क्षण को रुके, फिर बोले, "यह मेरा लड़का है।"

रामचंद्र ने कुछ झेंपते हुए मुझे देखा, फिर चटाई बिछाने लगा।

चटाई बिछ गई तो मैं उस पर बैठ गया। पंडित जी फिर अपने सामने रखे कागज पर कुछ लिखने लगे। उनकी आंख पर चढ़ा चश्मा ठीक से काम नहीं कर रहा था, क्योंकि एक तरफ की कमानी टूट गई थी और उसकी जगह डोरा बांध कर काम चलाया गया था। बार-बार पंडित जी उंगली से चश्मे को ठीक से नाक पर जमाते, मगर वह फिसल कर टेढ़ा हो जाता।

सामने तख्त पर कुछ कपड़े सूखने के लिए पड़े थे। मैंने देखा वही लड़की तेजी से चलती हुई आई और कपड़े उठाने लगी। वह नंगे पैरों थी। तेज धूप में सहन तप रहा था। लड़की के तलवे गर्मी से जल रहे थे इसलिए वह कभी एक पैर उठाती तो कभी दूसरा। कभी पंजों के बल खड़ा होने की कोशिश करती। पंडित जी ने लड़की को देखा तो कहा, "अरी स्याही ले आ, अंगूठा लगाना है।"

सहसा इस नये काम को सुनकर लड़की झुंझला गई। उसका चेहरा बता रहा था कि जैसे उसने सुबह से कुछ नहीं खाया है। एक के बाद दूसरा काम करते हुए बिल्कुल थक गई है। मगर उसने कोई जवाब नहीं दिया। कपड़े बटोर कर वापस चली गई।

पंडित जी को सब्र नहीं था। उन्होंने रामचंद्र से कहा कि वह जाकर स्याही लाए। रामचंद्र के जाते ही पंडित जी बोले, "क्या बताएं बाबू साहब, ज़रा-सा ध्यान न दें तो नुकसान हो जाता है। कल यही दालान में दवात रखी थी, ठोकर लगी तो सब बिखर गई। बीस पैसे का नुकसान हो गया।"

"यह क्या लिखा-पढ़ी कर रहे हैं आप?" मैंने पूछा।

"अरे लिखा-पढ़ी क्या, बस पेट भरने का सामान जुटा रहे हैं, "पंडित जी ने गहरी सांस लेकर कहा, "पेंशन का हर माह एक सौ दस रुपया मिलता है उसी का फारम भर रहे हैं।"

रामचंद्र स्याही ले आया था। पंडित जी ने अपने अंगूठे पर स्याही लगाकर फार्म पर अंगूठा लगा दिया। फिर रामचंद्र को हिदायत देकर भेज दिया।

रामचंद्र के जाते ही पंडित जी फिर बोलने लगे, "क्या कहें बाबू साहब, ज़िंदगी के आखिरी दिन रो-पीट कर काट रहे हैं। वैसे अपनी ज़िंदगी में बहुत कुछ किया। यहीं फैक्टरी में हम कटर रहे हैं। जो थोड़ी बहुत तनख्वाह रही उसी में गृहस्थी की गाड़ी खींची। दो लड़कियों की शादी तो बहुत पहले ही कर दी। अब रिटायर होने से पहले तीसरी की भी कर दी। लोगों ने कहा लड़की की उम्र कम है, पर हमने कहा कि भइया अपनी ज़िंदगी में यह भी काम करते जायें, आगे न जाने क्या हो? वैसे पंद्रह साल की उम्र भी कम नहीं होती।"

"चलिए अच्छा किया आपने, "मैंने पंडित जी का समर्थन किया, "लड़कियां अपने घर में ही अच्छी लगती हैं। तीनों अपनी ससुराल में हैं तो आपको कोई चिंता नहीं।"

"कहां साहब!" पंडित जी ने मेरी बात काटते हुए दुखी स्वर में कहा, "दो लड़कियां तो अपने घर में हैं, पर तीसरी तो शादी के बाद भी यहां बैठी है। अभी तो आई थी।

देखा नहीं आपने, कैसी सूखकर कांटा हो गई है। अब मैं भी क्या करूं? जितना हो सकता था कर दिया, आगे कुछ बस में नहीं।"

मेरे सामने सब स्पष्ट हो गया। लड़की का बुझा हुआ चेहरा, उसकी उदास आंखें, हर समय शून्य में एकटक देखते रहना। पंडित जी की लड़की है, इसलिए मंदिर का बहुत-सा काम करने की ज़िम्मेदारी भी उसकी है।

"क्या बात है? क्या लड़का पसंद नहीं करता?" मैंने पूछा।

"नहीं साहब, यह बात नहीं," पंडित जी ने सिर हिलाकर कहा, "लड़का तो बहुत अच्छा है। इसे पसंद भी करता है। उसके मां-बाप भी सज्जन हैं। पर लड़का इसे कहां ले जाए? दो साल होने को आ गए। आज तक उसकी नौकरी नहीं लगी। गांव में खेती-बाड़ी भी इतनी नहीं कि गृहस्थी बसा कर बैठ जाए।"

"कोई हाथ का काम सीखने की कोशिश नहीं की?"

"हाथ का काम भी सीखने की कोशिश की पर उससे भी दो पैसे नहीं मिले। वैसे बी० ए० पास है। इसी रामचंद्र के साथ पढ़ा है। दोनों की दोस्ती देखकर ही तो हमने शादी कर दी चलो एक से दो लड़के हो गए। दामाद भी तो लड़के के बराबर ही होता है। पर हमें क्या पता था। रामचंद्र तो बेकार था ही, अब दामाद भी खाली हाथ घूम रहा है।"

मैं क्या कह सकता था। पंडित जी के दुख को बांटने के लिए कोरे शब्दों में दिलासा देना व्यर्थ था। मैं चुपचाप उनकी ओर देखता रहा।

"दो महीने से लखनऊ में है। रेडियो का काम सीख रहा है। हम ही यहां से बीस-पच्चीस रुपया जेब खर्च को भेज देते हैं। पर साहब ऐसे कैसे चलेगा? जवान लड़की बाप के घर रहती है तो लोग उंगली उठाते हैं," पंडित जी का स्वर कांप रहा था।

"खैर, जब लखनऊ में है और रेडियो का काम सीख रहा है तो दो-चार महीने में कुछ ना कुछ कमाने लायक हो जाएगा। पर आपने रामचंद्र को किसी काम में क्यों नहीं लगाया? इसे तो आप अपनी जगह फैक्टरी में ही लगा सकते थे।"

"हां साहब, हमने यही तो कहा था। पर हमारी कोई सुने तब न! उस समय यह बी० ए० में पढ़ रहा था, कहने लगा बी० ए० करके कोई अच्छी-सी नौकरी करूंगा। पर बी० ए० ही पास नहीं कर पाया। दो-चार नम्बरों से दो बार रह गया। अब जब हमने फिर फैक्टरी में अपनी जगह पर कोशिश की तो पता चला वह तो कब की भर गई।"

"कोई और काम नहीं खोजा?"

"क्या खोजूं, यह आजकल के लड़के कुछ करने को राजी हों तब न!" पंडित जी ने अपने सीधे हाथ से अपना माथा ठोकते हुए कहा, "एक तो इस छोटे शहर में कोई काम मिलता नहीं, अगर कुछ करने को कहो तो बच्चा जी को शरम आती है। दस बार कहा कि और कुछ नहीं होता तो कम से कम मेला-ठेला में कोई छोटी-मोटी दुकान

ही लगा लिया करो। लोग तो कलेंडर बेचकर ही पेट भरने लायक कमा लेते हैं। इनसे यह भी नहीं होता।"

"अभी कुंआरे हैं, इसी से कुछ नहीं होता। जब बीवी आ जायेगी तो अपने आप कुछ न कुछ करने लगेंगे।" मैंने हंसकर कहा।

"शादी हुए तो दो साल हो गये, अब तो बहू की गोद में साल-भर का लड़का भी है।" पंडित जी ने झुंझलाकर कहा, "जब लड़की की शादी की थी तभी रामचंद्र की भी कर दी थी।"

"बस यही तो गलती है। जब तक लड़का कुछ कमाने न लगे उसकी शादी करनी ही नहीं चाहिए।" मेरा स्वर कुछ ऊंचा हो गया।

"अब क्या कहें बाबू साहब। यह छोटा शहर है, यहां हर बात देखनी पड़ती है। उमर हो जाने पर शादी तो करनी ही पड़ती है, चाहे लड़का हो या लड़की, अगर शादी न करें और बात कुछ इधर-उधर हो जाये तो भी तो मुंह दिखाने लायक न रहें।"

पंडित जी के तर्क आकट्य थे। उनसे बहस नहीं हो सकती थी। बार-बार जिस छोटे शहर की वह दुहाई देकर अपनी बात पूरी करते थे, उसका विधान भी वही जानते थे। मैं तो इस संबंध में उनके आगे अनजाना ही सिद्ध हो रहा था। "घर में पांच प्राणी खाने वाले हैं, और आमदनी डेढ़-सौ से नीचे ही रहती है। अब करें तो क्या करें? फिर हमारे हाथ-पांव कब तक चलें यह भी किसने देखा। भगवान से इतना ही चाहते हैं कि हमारे जिंदा रहते रामचंद्र भी दो पैसे कमाने लगे और लखनऊ में दामाद का भी काम जम जाये, तो हम भी चैन की सांस लें।" पंडित जी की आंखों में आंसू आ गए।

"आप दुखी न हों, ईश्वर जरूर मदद करेगा।" मैंने धीरज बंधाते हुए कहा, "जिस ईश्वर ने पेट दिया है वह खाने को भी देगा।"

"हां, बाबू साहब ईश्वर का ही तो सहारा है।" पंडित जी एक क्षण के लिए खामोश हो गए। फिर मेरी ओर देखकर बोले, "आप ही कहीं रामचंद्र को लगा दीजिए। दिल्ली तो बहुत बड़ा शहर है, कोई न कोई नौकरी जरूर मिल जायेगी। फिर आप तो अफसर आदमी हैं, आपकी सिफारिश से नौकरी लग जायेगी।"

पंडित जी ने बात बहुत भोलेपन से कही थी, मुझे हंसी आ गयी। उन्हें यह कैसे समझाया जाये कि दिल्ली शहर में मेरे-जैसे सैकड़ों अफसर जूतियां चटकारते फिरते हैं और कोई किसी को नहीं पूछता।

पांच बज चुके थे, शाम को चाय पीने की पुरानी आदत है, मैंने चप्पल पहनी और मंदिर के बाहर आ गया। आधे घंटे की चहलकदमी के बाद एक जगह चाय मिली। मंदिर लौटा तो छः बज चुके थे। शाम उतर आयी थी।

मंदिर में दो-चार आदमी आ गए थे। एक दो औरतें भी पूजा-पाठ में लगी हुई थीं। बच्चे मंदिर के सहन में चोर-सिपाही का खेल-खेल रहे थे।

मैंने कुंए से एक बाल्टी पानी भरा। मुंह-हाथ धोया, फिर कपड़े बदले।

सात बजते ही प्रमोद आ गया, दिन कैसे कटा इसकी पूरी जानकारी ली, फिर चलने के लिए तैयार होने को कहा।

सामान के नाम पर अटैची और हैंड बैग को मैंने पहले ही ठीक कर लिया था। प्रमोद ने कहा कि स्टेशन पर ही खाना खायेंगे फिर दस बजे गाड़ी पकड़ लेना।

मंदिर में चहल-पहल थी। दो आदमी दालान में बैठे बात कर रहे थे, बच्चे इस इंतजार में थे कि कब आरती हो और प्रसाद मिले। लेकिन पंडित जी अभी तक आये नहीं थे।

मैंने एक लड़के को पंडित जी को बुलाने के लिए भेजा, उनसे मिले बगैर नहीं जाया जा सकता। दो दिन में एक अजीब-सी आत्मीयता इस मंदिर से हो गयी और विदा के साथ मंदिर में कुछ प्रसाद के लिए दान भी करना था। जब तक पंडित जी आते नहीं हम इस मंदिर से जा नहीं सकते।

कुछ देर बाद ही पंडित जी मंदिर के पीछे से आते हुए दिखाई दिये। वह जल्दी-जल्दी पैर उठाते आ रहे थे, हमारे पास आकर हाथ जोड़कर बोले, "क्षमा करें, एक रिश्तेदार आ गए थे इसलिए आने में देरी हो गयी। क्या चलने की तैयारी कर दी?"

"हां पंडित जी, अब आज्ञा दीजिए, दस बजे की गाड़ी पकड़नी है।" मैंने कहा।

"पर अभी तो आठ भी नहीं बजे!" पंडित जी ने कहा।

"जरा जल्दी जाना ही ठीक रहता है, फिर वहीं स्टेशन पर भोजन भी करना है," प्रमोद ने समझाने की कोशिश की।

मैंने जेब से रुपये निकाले। पांच रुपये गिनकर मैंने पंडित जी के आगे कर दिये, "यह मेरी ओर-से भगवान के भोग के लिए रख लीजिए।"

एक-एक के पांच नोट देखकर पंडित जी अचकचा गए। अटकते हुए बोले, "आरती हो जाती तो प्रसाद लेकर जाते।"

"कोई बात नहीं पंडित जी, अब आज्ञा दें।"

पंडित जी ने रुपये ले लिये, फिर बोले "अच्छा तुलसीदल तो लेते जाइए।"

पंडित जी तेजी से मुड़े, दालान में पहुंचे, फिर भगवान की मूर्ति के आगे रक्खी थाली में से तुलसीदल उठाकर वापस आकर मेरी और प्रमोद की हथेली पर एक-एक तुलसीदल रख दिया।

पंडित जी ने जिस अपनत्व से तुलसीदल दिया, उसके आगे मेरे अंदर के थोड़े बहुत नास्तिक संस्कार ठहर नहीं सके। मैंने तुलसीदल को आदर के साथ लेकर मुंह में रख लिया।

प्रमोद ने अटैची उठा ली, मैंने हैंड बैग उठा लिया। हम चलने को तैयार थे, पंडित जी हमारे सामने हाथ जोड़े खड़े थे। अटकते हुए बोले, "बाबू साहब हमारी बात याद रखियेगा, रामचंद्र की नौकरी जरूर लगवा दीजिएगा।"

पंडित जी मेरी ओर एकटक देख रहे थे, उनकी पीठ के पीछे भगवान की मूर्तियां

अपने सिंहासन पर विराजमान थीं, इन्हीं मूर्तियों के आगे रोज सुबह-शाम भक्तों के लिए वे वरदान मांगते, पर आज अपने लिए वह मेरे आगे हाथ जोड़े खड़े थे।

मैं कुछ कह नहीं पा रहा था, मैं कुछ कह भी नहीं सकता था। झूठे आश्वासन, व्यर्थ का दिलासा, यह सब बहुत पीछे छूट चुका था।

मैंने अपने हाथों में पंडित जी के हाथों को दबा लिया, बस इतना ही कह सका, "मैं फिर आऊंगा पंडित जी, जरूर आऊंगा।" □

# कोसी का घटवार

शेखर जोशी
(जन्म : सन् 1934 ई.)

गुसाई का मन चिलम में भी नहीं लगा। मिहल की छाँह से उठकर वह फिर एक बार घट (पनचक्की) के अन्दर आया। अभी खप्पर में एक-चौथाई से भी अधिक गेहूँ शेष था। खप्पर में हाथ डालकर उसने व्यर्थ ही उलटा-पलटा और चक्की के पाटों के वृत्त में फैले हुए आटे को झाड़कर एक ढेर बना दिया। बाहर आते-जाते उसने फिर एक बार और खप्पर में झांकर देखा, जैसे यह जानने के लिए कि इतनी देर में कितनी पिसाई हो चुकी है, परन्तु अन्दर की मिकदार में कोई विशेष अन्तर नहीं आया था। खस्स-खस्स की ध्वनि के साथ अत्यन्त धीमी गति से ऊपर का पाट चल रहा था। घट का प्रवेश-द्वार बहुत कम ऊँचा था, खूब नीचे तक झुककर वह बाहर निकला। सिर के बालों और बाँहों पर आटे की एक हल्की सफेद पर्त बैठ गयी थी।

खम्भे का सहारा लेकर बुदबुदाया, 'जा स्साला! सुबह से अब तक दस पंसेरी भी नहीं हुआ। सूरज कहाँ चला गया है! कैसी अनहोनी बात!'

बात अनहोनी तो है ही। जेठ बीत रहा है। आकाश में कहीं बादलों का नाम-निशान भी नहीं। अन्य वर्षों में अब तक लोगों की धानरोपाई पूरी हो जाती थी, पर इस साल नदी नाले सब सूखे पड़े हैं। खेतों की सिंचाई तो दरकिनार, बीज की क्यारियाँ सूखी जा रही हैं। छोटे नाले-गूलों के किनारे के घट महीनों से बन्द हैं। कोसी के किनारे है गुसाई का यह घट। पर इसकी भी चाल ऐसी कि लद्दू घोड़े की चाल को मात देती है।

चक्की के निचले खण्ड में 'छच्छिर-छच्छिर' की आवाज के साथ पानी को काटती हुई मथानी चल रही थी। कितनी धीमी आवाज! अच्छे खाते-पीते ग्वालों के घर में दही की मथानी इससे ज्यादा शोर करती है। इसी मथानी का वह शोर होता था कि आदमी को अपनी बात नहीं सुनाई देती और अब तो भले नदी पार कोई बोले, तो बात यहाँ सुनाई दे जाये!

छप ··· छप ··· छप ··· पुरानी फौजी पैंट को घुटनों तक मोड़कर गुसाई पानी की

गूल के अन्दर चलने लगा। कहीं कोई सूराख-निकास हो, तो बन्द कर दे। एक बूँद पानी भी बाहर न जाए। बूँद-बूँद की कीमत है इन दिनों। प्राय: आधा फर्लांग चलकर वह बाँध पर पहुँचा। नदी की पूरी चौड़ाई को घेरकर पानी का बहाव घट ही गूल की ओर मोड़ दिया गया था। किनारे की मिट्टी-घास लेकर उसने बाँध में एक-दो स्थान पर निकास बन्द किया और फिर गूल के किनारे-किनारे चलकर घट के पास आ गया।

अन्दर जाकर उसने फिर पाटों के वृत्त में फैले हुए आटे को बुहार कर ढेरी में मिला दिया। खप्पर में अभी थोड़ा-बहुत गेहूँ शेष था। वह उठकर बाहर आया।

दूर रास्ते पर एक आदमी सिर पर पिसान रखे उसकी ओर आ रहा था। गुसाई ने उसकी सुविधा का ख्याल कर वहीं से आवाज दे दी, "हैं हो! यहाँ लम्बर देर में आयेगा। दो दिन का पिसान अभी जमा है। ऊपर उमेदसिंह के घट में देख लो।"

उस व्यक्ति ने मुड़ने से पहले एक बार ओर प्रयत्न किया। ऊँचे स्वर में पुकार कर बोला, "जरूरी है जी, पहले हमारा लम्बर नहीं लगा दोगे?"

गुसाई होंठों-ही-होंठों में मुस्कराया, "स्याला, कैसा चीखता है, जैसे घट की आवाज इतनी हो कि मैं सुन न सकूँ!" कुछ कम ऊँची आवाज में उसने हाथ हिलाकर उत्तर दे दिया। "यहाँ जरूरी का भी बाप रखा है, जी! तुम ऊपर चले जाओ!" वह आदमी लौट गया।

मिहल की छाँव में बैठकर गुसाई ने लकड़ी के जलते कुन्दे को खोदकर चिलम सुलगाई और गुड़-गुड़ करता धुआँ उड़ाता रहा।

खस्सर-खस्सर चक्की का पाट चल रहा था।

किट-किट-किट-किट खप्पर से दाने गिराने वाली चिड़िया पाट पर टकरा रही थी। छिच्छिर-छिच्छिर की आवाज के साथ मथानी पानी को काट रही थी। पत्थरों के बीच में टखने-टखने तक फैला पानी क्या आवाज करेगा। पानी के गर्भ से निकल कर छोटे-छोटे पत्थर भी अपना सिर उठाये आकाश को निहार रहे थे। दोपहरी ढलने पर इतनी तेज धूप! कहीं चिरैया भी नहीं बोलती। किसी प्राणी का प्रिय-अप्रिय स्वर नहीं।

सूखी नदी के किनारे बैठा गुसाई सोचने लगा, क्यों उस व्यक्ति को लौटा दिया। लौट तो वह जाता ही घट के अन्दर टच्च पड़े पिसान के थैलों को देखकर। दो-चार क्षण की बातचीत का आसरा ही होता।

कभी-कभी गुसाई को वह अकेलापन काटने लगता है। सूखी नदी के किनारे का यह अकेलापन नहीं, जिन्दगी भर साथ देने के लिए जो अकेलापन उसके द्वार पर धरना देकर बैठ गया है, वही। जिसे अपना कह सके, ऐसे किसी प्राणी का स्वर उसके लिए नहीं, पालतू कुत्ते-बिल्ली का स्वर भी नहीं। क्या ठिकाना ऐसे मालिक का, जिसका घर-द्वार नहीं ··· बीबी-बच्चे नहीं, खाने-पीने का ठिकाना नहीं।

घुटनों तक उठी हुई पुरानी फौजी पैंट के मोड़ को गुसाई ने खोला। गूल में चलते हुए वह हिस्सा थोड़ा भीग गया था। पर इस गर्मी में उसे भीगी पैंट की यह शीतलता

अच्छी लगी। पैंट की सलवटों को ठीक करते-करते गुसाईं ने हुक्के की नली से मुँह हटाया। उसके होठों में बाएँ कोने पर हल्की-सी मुस्कान उभर आयी। बीती बातों की याद ··· गुसाईं सोचने लगा, इसी पैंट की बदौलत यह अकेलापन उसे मिला है ··· नहीं, याद करने को मन नहीं करता पुरानी बहुत पुरानी बातें वह भूल गया है, पर हवलदार साहब की पैंट की बात उसे नहीं भूलती।

ऐसी ही फौजी पैंट पहनकर हवलदार धरमसिंह आया था ··· लॉण्ड्री की धुली, नोकदार, फ्रीजवाली पैंट! वैसी ही पैंट पहनने की महत्त्वाकाँक्षा लेकर गुसाईं फौज में गया था। पर फौज से लौटा, तो पैंट के साथ-साथ जिन्दगी का अकेलापन भी उसके साथ आ गया।

पैंट के साथ और कितनी ही स्मृतियाँ मुखर हैं। उस बार की छुट्टियों की बात ··· कौन महीना? हाँ, वैसाख ही था। सिर पर क्रास खुखरी के क्रेस्ट वाली, काली किश्तीनुमा टोपी को तिरछा रखकर—फौजी वर्दी पहने वह पहली बार एनुअल-लीव पर घर आया, तो चीड़ वन की आग की तरह खबर इधर-उधर फैल गयी थी। बच्चे-बूढ़े, सभी उससे मिलने आये थे। चाचा का गोठ एकदम भर गया था, ठसाठस्स। बिस्तर की नई, एकदम साफ, जगमग, लाल-नीली धारियों वाली दरी आँगन में बिछानी पड़ी थी लोगों को बिठाने के लिए। खूब याद है, आँगन का गोबर दरी में लग गया था। बच्चे-बूढ़े सभी आये थे। सिर्फ चना-गुड़ या हलद्वानी के तम्बाके का लोभ नहीं था, कल के शर्मीले गुसाईं को इस नये रूप में देखने का कौतूहल भी था। पर गुसाईं की आँखें उस भीड़ में जिसे खोज रही थीं, वह वहाँ नहीं थी।

नाले-पार के अपने गाँव से भैंसे के कट्या को खोजने के बहाने दूसरे दिन लछमा आयी थी। पर गुसाईं उस दिन उससे मिल न सका। गाँव के छोकरे ही गुसाईं की जान का बवाल हो गये थे। बुड्ढ़े नरसिंह प्रधान उन दिनों ठीक ही कहते थे, आजकल गुसाईं को देखकर सोबनियाँ का लड़का भी अपनी फटी घेर की टोपी को तिरछी पहनने लग गया है। ··· दिन रात बिल्ली के बच्चों की तरह छोकरे उसके पीछे लगे रहते थे, सिगरेट-बीड़ी या गपशप के लोभ में।

एक दिन बड़ी मुश्किल से मौका मिला था उसे। लछमा को पात-पतेल के लिए जंगल जाते देखकर वह छोकरों से काँकड़ के शिकार का बहाना बनाकर अकेले जंगल को चल दिया था। गाँव की सीमा से बहुत दूर, काफल के पेड़ के नीचे गुसाईं के घुटने पर सिर रखकर, लेटी-लेटी लछमा काफल खा रही थी। पके, गदराये, गहरे लाल-लाल काफल! खेल-खेल में काफलों की छीना-झपटी करते गुसाईं ने लछमा की मुट्ठी भींच दी थी। टप-टप काफलों का गाढ़ा लाल रस उसकी पैंट पर गिर गया था। लछमा ने कहा था, "इसे यहीं रख जाना, मेरी पूरी बाँह की कुर्त्ती इसमें से निकल आयेगी।" वह खिलखिलाकर अपनी बात पर स्वयं ही हँस दी थी।

पुरानी बात। क्या कहा था गुसाईं ने, याद नहीं पड़ता ··· तेरे लिए मखमल की कुर्ती

ला दूँगा, मेरी सुबा! ··· या कुछ ऐसा ही।

पर लछमा को मखमल की कुर्ती किसने पहनाई—पहाड़ी पार के रमुवाँ ने, जो तुरी-निसाण लेकर उसे ब्याहने आया था?

"जिसके आगे-पीछे भाई-बहन नहीं, माई-बाप नहीं, परदेश में बन्दूक की नोक पर जान रखने वाले को छोकरी कैसे दे दें हम?" लछमा के बाप ने कहा था।

उसका मन जानने के लिए गुसाई ने टेढ़े-तिरछे बात चलवायी थी।

उसी साल मंगसिर को एक ठण्डी, उदास शाम को गुसाई की यूनिट के सिपाही किसनसिंह ने क्वार्टर-मास्टर स्टोर के सामने खड़े-खड़े उससे कहा था, "हमारे गाँव के रामसिंह ने जिद की, तभी छुट्टियाँ बढ़ानी पड़ीं। इस साल उसकी शादी थी। खूब अच्छी औरत मिली है यार! शक्ल-सूरत भी खूब है, एकदम पटाखा! बड़ी हँसमुख है। तुमने तो देखा ही होगा, तुम्हारे गाँव के नजदीक की है। लछमा-लछमा कुछ ऐसा ही नाम है।"

गुसाई को याद नहीं पड़ता, कौन-सा बहाना बनाकर वह किसनसिंह के पास से चला आया था।··· रम-डे था उस दिन। हमेशा आधा पैग लेने वाला गुसाई उस दिन दो पैग रम लेकर अपनी चारपाई पर पड़ गया था।··· हवलदार मेजर ने दूसरे दिन पेशी करवायी थी—मलेरिया प्रिकॉशन न करने के अपराध में। ··· सोचते-सोचते गुसाई बुदबुदाया, "स्साला एडजुटेंट!"

गुसाई सोचने लगा, उस साल छुट्टियों में घर से विदा होने से एक दिन पहले वह मौका निकालकर लछमा से मिला था।

"गंगानाथज्यू की कसम, जैसा तुम कहोगे, मैं वैसा ही करूँगी।" आँखों में आँसू भर कर लछमा ने कहा था।

वर्षों से वह सोचता है, कभी लछमा से भेंट होगी, तो वह अवश्य कहेगा कि वह गंगनाथ का जागर लगाकर प्रायश्चित जरूर कर ले। देवी-देवताओं की झूठी कसमें खाकर उन्हें नाराज करने से क्या लाभ? जिस पर भी गंगानाथ का कोप हुआ, वह कभी फल-फूल नहीं पाया। पर लछमा से कब भेंट होगी, यह वह नहीं जानता। लड़कपन के संगी-साथी नौकरी-चाकरी के लिए मैदानों में चले गये हैं। गाँव की ओर जाने का उसका मन नहीं होता। लछमा के बारे में किसी से पूछना उसे अच्छा नहीं लगता। जितने दिन नौकरी रही, वह पलटकर अपने गाँव नहीं आया। एक स्टेशन से दूसरे स्टेशन का वालॉटयरी ट्राँसफर लेने वालों की लिस्ट में नायक गुसाई का नाम ऊपर आता रहा—लगातार पन्द्रह साल तक।

पिछले बैसाख में ही वह गाँव लौटा, पन्द्रह साल बाद, रिजर्व में आने पर। काले बालों को लेकर गया था, खिचड़ी बाल लेकर लौटा। लछमा का हठ उसे अकेला बना गया।

आज इस अकेलेपन में कोई होता, जिसे गुसाई अपनी जिन्दगी की किताब पढ़कर सुनाता।

शब्द-अक्षर ··· कितना देखा, कितना सुना और कितना अनुभव किया है उसने ···।

पर नदी के किनारे की यह तपती रेत, पनचक्की की खटर-खटर और मिहल की छाया में ठण्डी चिलम को निष्प्रयोजन गुड़गुड़ाता गुसाई! और चारों ओर अन्य कोई नहीं! एकदम निर्जन, निस्तब्ध, सुनसान ···

एकाएक गुसाई का ध्यान टूटा ···

सामने पहाड़ी के बीच की पगडंडी के सिर पर बोझ लिए एक नार-आकृति उसी ओर चली आ रही थी। गुसाई ने सोचा वहीं से आवाज देकर उसे लौटा दे। कोसी के चिकने, काई लगे पत्थरों पर कठिनाई से चलकर उसे वहां तक आकर केवल निराश लौट जाने को क्यों वह बाध्य करे! दूर से चिल्ला-चिल्लाकर पिसान स्वीकार करवाने की लोगों की आदत के कारण वह तंग हो चुका था। इस कारण आवाज देने को उसका मन नहीं हुआ। वह आकृति अब तक पगडण्डी छोड़कर नदी के मार्ग में आ पहुंची थी।

चक्की की बदलती आवाज को पहचान कर गुसाई घट के अन्दर चला गया। खप्पर का अनाज समाप्त हो चुका था। खप्पर में एक कम अन्न वाले थैले को उलट कर उसने अन्न का निकास रोकने के लिए काठ की चिड़ियों को उलटा कर दिया। किट-किट का स्वर बन्द हो गया। वह जल्दी-जल्दी आटे को थैले में भरने लगा। घट के अंदर मथानी की छच्छिर-छच्छिर की आवाज भी अपेक्षाकृत कम सुनायी दे रही थी। केवल चक्की के ऊपर वाले पाट की घिसटती हुई घरघराहट का हल्का धीमा संगीत चल रहा था। तभी गुसाई ने सुना अपनी पीठ के पीछे, घट के द्वार पर, इस संगीत से भी मधुर एक नारी का कण्ठ स्वर, "कब बारी आयेगी? रात की रोटी के लिए घर में आटा नहीं है।"

सिर पर पिसान रखे एक स्त्री उससे यह पूछ रही थी। गुसाई को उसका स्वर परिचित-सा लगा। चौंककर उसने पीछे मुड़कर देखा। कपड़े में पिसान ढीला बँधा होने के कारण बोझ का एक सिरा उसके मुख के आगे आ गया। गुसाई उसे ठीक से नहीं देख पाया, लेकिन तब भी उसका मन जैसे आशंकित हो उठा। अपनी शंका का समाधान करने के लिए वह बाहर आने को मुड़ा; लेकिन तभी फिर अन्दर जाकर पिसान के थैलों को इधर-उधर रखने लगा। काठ की चिड़ियाँ किट-किट बोल रही थीं और उसी गति के साथ गुसाई को अपने हृदय की धड़कन का आभास हो रहा था।

घट के छोटे कमरे में चारों ओर पिसे हुए अन्न का चूर्ण फैल रहा था, जो अब तक गुसाई के पूरे शरीर पर छा गया था। इस कृत्रिम सफेदी के कारण वह वृद्ध-सा दिखाई दे रहा था। स्त्री ने उसे नहीं पहचाना।

उसने दुबारा वे ही शब्द दोहराये। अब वह भी तेज धूप में बोझा सिर पर रखे हुए गुसाई का उत्तर पाने को आतुर थी। शायद नकारात्मक उत्तर मिलने पर वह उलटे पाँव लौट कर किसी अन्य चक्की का सहारा लेती।

दूसरी बार के प्रश्न को गुसाई न टाल पाया, उत्तर देना ही पड़ा, "यहाँ पहले ही टीला लगा है, देर तो होगी ही।" उसने दबे-दबे स्वर में कह दिया।

स्त्री ने किसी प्रकार की अनुनय-विनय नहीं की। शाम के आटे का प्रबन्ध करने के लिए वह दूसरी चक्की का सहारा लेने को लौट पड़ी।

गुसाई कमर झुकाकर घट से बाहर निकला। मुड़ते समय स्त्री की एक झलक देखकर उसका सन्देह विश्वास में बदल गया था। हताश-सा वह कुछ क्षणों तक उसे जाते हुए देखता रहा और फिर अपने हाथों तथा सिर पर गिरे हुए आटे को झाड़कर वह एक-दो कदम आगे बढ़ा। उसके अन्दर की किसी अज्ञात शक्ति ने जैसे उसे वापस जाती हुई उस स्त्री को बुलाने को बाध्य कर दिया। आवाज देकर उसे बुला लेने को उसने मुँह खोला, परन्तु आवाज न दे सका। एक झिझक, एक असमर्थता थी, जो उसका मुँह बन्द कर रही थी। वह स्त्री नदी तक पहुँच चुकी थी। गुसाई के अन्तर में तीव्र उथल-पुथल मच गयी। इस बार आवेग इतना तीव्र था कि वह स्वयं को नहीं रोक पाया, लड़खड़ाती आवाज में उसने पुकारा, "लछमा!"

घबराहट के कारण वह पूरे जोर से आवाज नहीं दे पाया था। स्त्री ने यह आवाज नहीं सुनी। इस बार गुसाई ने स्वस्थ होकर पुनः पुकारा, "लछमा!"

लछमा ने पीछे मुड़कर देखा। मायके में उसे सभी इसी नाम से पुकारते थे, यह सम्बोधन उसके लिए स्वाभाविक था। परन्तु उसे शंका शायद यह थी कि चक्की वाला एक बार पिसान स्वीकार न करने पर भी दुबारा उसे बुला रहा है या उसे केवल भ्रम हुआ है। उसने वहीं से पूछा, "मुझे पुकार रहे हैं जी?"

गुसाई ने संयत स्वर में कहा, "हाँ ले आ, हो जायेगा।"

लछमा क्षण-भर रुकी और फिर घट की ओर लौट आयी।

अचानक साक्षात्कार होने का मौका न देने की इच्छा से गुसाई व्यस्तता का प्रदर्शन करता हुआ मिहल की छाँह में चला गया।

लछमा पिसान का थैला घट के अन्दर रख आई, बाहर निकलकर उसने आँचल के कोर में मुँह पोंछा। तेज धूप में चलने के कारण उसका मुँह लाल हो गया था। किसी पेड़ की छाया में विश्राम करने की इच्छा से उसने इधर-उधर देखा। मिहल के पेड़ की छाया को छोड़कर अन्य कोई बैठने लायक स्थान नहीं था। वह उसी ओर चलने लगी।

गुसाई की उदारता के कारण ऋणी-सी होकर ही जैसे उसने निकट आते-जाते कहा, "तुम्हारे लाल-बच्चे जीते रहें, घटवारजी! बड़ा उपकार का काम कर दिया तुमने! ऊपर के घट में भी न जाने कितनी देर में नम्बर मिलता।"

अज्ञात सन्तति के प्रति दिये गये आशीर्वचनों को गुसाई ने मन-ही-मन विनोद के रूप में ग्रहण किया। इस कारण उसकी मानसिक उथल-पुथल कुछ कम हो गयी। लछमा उसकी ओर देखे, इससे पूर्व ही उसने कहा, "जीते रहें तेरे बाल-बच्चे लछमा। मायके कब आयी?"

गुसाईं ने अन्तर में घुमड़ती आँधी को रोककर यह प्रश्न इतने संयत स्वर में किया, जैसे वह भी अन्य दस आदमियों की तरह लछमा के लिए एक साधारण व्यक्ति हो।

दाड़िम की छाया में पात-पतेल झाड़कर बैठते लछमा ने शंकित दृष्टि से गुसाईं की ओर देखा। कोसी की सूखी धार अचानक जल-प्लावित होकर बहने लगती, तो भी लछमा को इतना आश्चर्य नहीं होता, जितना अपने स्थान से केवल चार कदम की दूरी पर गुसाईं को इस रूप में देखने पर हुआ। विस्मय से आँखें फाड़कर वह उसे देखे जा रही थी, जैसे अब भी उसें विश्वास न हो रहा हो कि जो व्यक्ति उसके सम्मुख बैठा है, वह उसका पूर्व-परिचित गुसाईं ही है।

"तुम?" जाने लछमा क्या कहना चाहती थी, शेष शब्द उसके कण्ठ में ही रह गये।

"हां, पिछले साल पल्टन से लौट आया था, वक्त काटने के लिए यह घट लगवा लिया।"

गुसाईं ने उसकी जिज्ञासा शान्त करने के लिए कहा। होंठों पर मुस्कान लाने की उसने असफल कोशिश की।

कुछ क्षणों तक दोनों कुछ नहीं बोले। फिर गुसाईं ने ही पूछा, "बाल-बच्चे ठीक हैं?"

आँखें जमीन पर टिकाये, गरदन हिलाकर संकेत से ही उसने बच्चों की कुशलता की सूचना दे दी। जमीन पर गिरे एक दाड़िम के फूल को हाथों में लेकर लछमा उसकी पंखुड़ियों को एक-एक कर निरुद्देश्य तोड़ने लगी और गुसाईं पतली सींक लेकर आग को कुरेदता रहा।

बातों का क्रम बनाये रखने के लिए गुसाईं ने पूछा, "तू अभी और कितने दिन मायके ठहरने वाली है?"

अब लछमा के लिए अपने को रोकना असम्भव हो गया। टप्-टप्-टप्··· वह सिर नीचा किये आँसू गिराने लगी। सिसकियों के साथ-साथ उसके उठते-गिरते कन्धों को गुसाईं देखता रहा। उसे यह नहीं सूझ रहा था कि वह किन शब्दों में अपनी सहानुभूति प्रकट करे।

इतनी देर बाद सहसा गुसाईं का ध्यान लछमा के शरीर की ओर गया। उसके गले में काला चरेऊ (सुहाग-चिन्ह) नहीं था। हतप्रभ-सा गुसाईं उसे देखता रहा। अपनी व्यावहारिक अज्ञानता पर उसे बेहद झुँझलाहट हो रही थी।

आज अचानक लछमा से भेंट हो जाने पर वह उन सब बातों को भूल गया, जिन्हें वह कहना चाहता था। इन क्षणों में वह मात्र श्रोता बनकर रह जाना चाहता था। गुसाईं की सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि पाकर लछमा आँसू पोंछती हुई अपना दुखड़ा रोने लगी, "जिसका भगवान् नहीं होता, उसका कोई नहीं होता। जेठ-जेठानी से किसी तरह पिण्ड छुड़ाकर यहाँ माँ की बीमारी में आयी थी, वह मुझे छोड़कर चली गयी। एक अभागा मुझे रोने को रह गया है, उसी के लिए जीना पड़ रहा है। नहीं तो पेट पर पत्थर बाँध

कर कहीं डूब मरती, जँजाल कटता।"

"यहाँ काका-काकी के साथ रह रही हो?" गुसाई ने पूछा।

"मुश्किल पड़ने पर कोई किसी का नहीं होता जी! बाबा की जायदाद पर उनकी आँखें लगी हैं, सोचते हैं, कहीं मैं हक न जमा लूँ। मैंने साफ-साफ कह दिया, मुझे किसी का लेना-देना नहीं है। जंगलात का लीसा ढो-ढोकर अपनी गुजर कर लूँगी, किसी की आँख का काँटा बनकर नहीं रहूँगी।"

गुसाई ने किसी प्रकार की मौखिक संवेदना नहीं प्रकट की। केवल सहानुभूतिपूर्ण दृष्टि से उसे देखता भर रहा। दाड़िम के वृक्ष से पीठ टिकाये लछमा घुटने मोड़कर बैठी थी। गुसाई सोचने लगा, पन्द्रह-सोलह साल किसी की जिन्दगी में अंतर लाने के लिए कम नहीं होते। समय का यह अंतराल लछमा के चेहरे पर भी एक छाप छोड़कर गया था, पर उसे लगा, उस छाप के नीचे वह आज भी पन्द्रह वर्ष पहले की लछमा का देख रहा है।

"कितनी तेज धूप है इस साल!" लछमा का स्वर उसके कानों में पड़ा। प्रसंग बदलने के लिए ही जैसे लछमा ने यह बात जान-बूझकर कही हो।

और अचानक उसका ध्यान उस ओर चला गया, जहाँ लछमा बैठी थी। दाड़िम की फैली-फैली अधढँकी डालों से छनकर धूप उसके शरीर पर पड़ रही थी। सूरज की एक पतली किरन न जाने कब से लछमा के माथे पर गिरी हुई एक लट को सुनहरी रंगीनी में डूबा रही थी। गुसाई एकटक उसे देखता रहा।

"दोपहर तो बीत चुकी होगी?" लछमा ने प्रश्न किया, तो गुसाई का ध्यान टूटा, "हाँ, अब तो दो बजने वाले होंगे।" उसने कहा, "उधर धूप लग रही हो, तो इधर आ जा छाँव में।" कहता हुआ गुसाई एक जमुहाई लेकर अपने स्थान से उठ गया।

"नहीं, यहीं ठीक है" कहकर लछमा ने गुसाई की ओर देखा, लेकिन वह अपनी बात कहने के साथ ही दूसरी ओर देखने लगा था।

घट में कुछ देर पहले डाला हुआ पिसान समाप्ति पर था। नम्बर पर रखे हुए पिसान की जगह उसने जाकर जल्दी-जल्दी लछमा का अनाज खप्पर में खाली कर दिया।

धीरे-धीरे चलकर गुसाई गूल के किनारे तक गया, अपनी अँजुली से भर-भर कर उसने पानी पिया और फिर पास ही बँजर घट के अन्दर जाकर पीतल और अल्मूनियम के कुछ बर्तन लेकर आग के निकट लौट आया।

आसपास पड़ी हुई सूखी लकड़ियों को बटोरकर उसने आग सुलगायी और एक कालिखपुती वटलोई से पानी रखकर जाते-जाते लछमा की ओर मुँह कर कह गया, "चाय का टाइम भी हो रहा है। पानी उबल जाये तो पत्ती डाल देना, पुड़िया में पड़ी है।"

लछमा ने कोई उत्तर नहीं दिया। वह उसे नदी की ओर जाने वाली पगडण्डी पर जाता हुआ देखती रही।

सड़क-किनारे की दुकान से दूध लेकर लौटते-लौटते गुसाई को काफी समय लग गया था। वापस आने पर उसने देखा, एक छः-सात वर्ष का बच्चा लछमा की देह से सटकर बैठा हुआ है।

बच्चे का परिचय देने की इच्छा से जैसे लछमा ने कहा, "इस छोकरे को घड़ी भर के लिए भी चैन नहीं मिलता। जाने कैसे पूछता-खोजता मेरी जान खाने को यहाँ भी पहुँच गया है।"

गुसाई ने लक्ष्य किया कि बच्चा बार-बार उसकी दृष्टि बचाकर माँ से किसी चीज के लिए जिद कर रहा है। एक बार झुँझलाकर लछमा ने उसे छिड़क दिया, "चुप रह! अभी लौटकर घर जायेंगे, इतनी-सी देर में मरा क्यों जा रहा है?"

चाय के पानी में दूध डालकर गुसाई फिर उसी बॅजर घट में गया। एक थाली में आटा लेकर वह गूल के किनारे बैठा-बैठा उसे गूँथने लगा। मिहल के पेड़ की ओर आते समय उसने साथ में दो-एक बर्तन और ले लिये।

लछमा ने बटलोई में दूध-चीनी डालकर चाय तैयार कर दी थी। एक गिलास, एक अल्मूनियम का मग और एक अल्मूनियम के मैसटिन में गुसाई ने चाय डालकर आपस में बाँट ली और पत्थरों से बने बेढंगे चूल्हे के पास बैठकर रोटियाँ बनाने का उपक्रम करने लगा।

हाथ का चाय का गिलास जमीन पर टिकाकर लछमा उठी। आटे की थाली अपनी ओर खिसका कर उसने स्वयं रोटी पका देने की इच्छा ऐसे स्वर में प्रकट की कि गुसाई ना न कह सका। वह खड़ा-खड़ा उसे रोटी पकाते हुए देखता रहा। गोल-गोल डिविया-सरीखी चूल्हे में खिलने लगीं। वर्षों बाद गुसाई ने ऐसी रोटियाँ देखी थीं, जो अनिश्चित आकार की फौजी लंगर की चपातियों या स्वयं उसके हाथ से बनी बेडौल रोटियों से एकदम भिन्न थीं। आटे की लोई बनाते समय लछमा के छोटे-छोटे हाथ बड़ी तेजी से घूम रहे थे। कलाई में पहने हुए चाँदी के कड़े जब कभी आपसे में टकरा जाते, तो छन्-छन् का एक अत्यन्त मधुर स्वर निकलता। चक्की के पाट पर टकराने वाली काठ की चिड़ियों का स्वर कितना नीरस हो सकता है, यह गुसाई ने आज पहली बार अनुभव किया।

किसी काम से वह बंजर घट की ओर गया और बड़ी देर तक खाली बर्तन-डिब्बों को उठाता-रखता रहा।

वह लौटकर आया, तो लछमा रोटी बनाकर बर्तनों को समेट चुकी थी और अब आटे से सने हाथों को धो रही थी।

गुसाई ने बच्चे की ओर देखा। वह दोनों हाथों में चाय का मग थामे टकटकी लगाकर गुसाई को देखे जा रहा था। लछमा ने आग्रह के स्वर में कहा, "चाय के साथ खानी हो, तो खालो। फिर ठण्डी हो जायेंगी।"

"मैं तो अपने टैम से ही खाऊँगा। यह तो बच्चे के लिए···" स्पष्ट कहने से उसे

झिझक महसूस हो रही थी, जैसे बच्चे के सम्बन्ध में चिन्तित होने की उसकी चेष्टा अनधिकार हो।

"न-न जी! यह तो अभी घर से खाकर ही आ रहा है। मैं रोटियाँ बनाकर रख आयी थी," अत्यन्त संकोच के साथ लछमा ने आपत्ति प्रकट कर दी।

"हाँ, यों ही कहती है। कहाँ रखी थी रोटियां घर में?" बच्चे ने रुआँसी आवाज में वास्तविक स्थिति स्पष्ट कर दी। वह ध्यानपूर्वक अपनी माँ और इस अपरिचित व्यक्ति की बातें सुन रहा था और रोटियों को देखकर उसका संयम ढीला पड़ गया था।

"चुप!" आँखें तरेरकर लछमा ने उसे डाँट दिया। बच्चे के इस कथन के कारण उसकी स्थिति हास्यास्पद हो गयी थी। लज्जा से उसका मुँह आरक्त हो उठा।

"बच्चा है, भूख लग आयी होगी, डाँटने से क्या फायदा?" गुसाई ने बच्चे का पक्ष लेकर दो रोटियाँ उसकी ओर बढ़ा दीं। परन्तु माँ की अनुमति के बिना उन्हें स्वीकारने का साहस बच्चे को नहीं हो रहा था। वह ललचाई दृष्टि से कभी रोटियों की ओर, कभी माँ की ओर देख लेता था।

गुसाई के बार-बार आग्रह करने पर भी बच्चा रोटियां लेने में संकोच करता रहा, तो लछमा ने उसे झिड़क दिया, "मर! अब ले क्यों नहीं लेता? जहाँ जायेगा, वहीं अपने लच्छन दिखायेगा!"

इससे पहले कि बच्चा रोना शुरू कर दे, गुसाई ने रोटियों के ऊपर एक टुकड़ा गुड़ का रखकर बच्चे के हाथ में दे दिया। भरी-भरी आँखों से इस अनोखे मित्र को देखकर बच्चा चुपचाप रोटी खाने लगा। और गुसाई कौतुकपूर्ण दृष्टि से उसके हिलते हुए होंठों को देखता रहा।

इस छोटे-से प्रसंग के कारण वातावरण में एक तनाव-सा आ गया था, जिसे गुसाई और लछमा दोनों ही अनुभव कर रहे थे।

स्वयं भी एक रोटी को चाय में डुबाकर खाते-खाते गुसाई ने जैसे इस तनाव को कम करने की कोशिश में ही मुस्कराकर कहा, "लोग ठीक ही कहते हैं, औरत के हाथ की बनी रोटियों में स्वाद ही दूसरा होता है।"

लछमा ने करुण दृष्टि से उसकी ओर देखा। गुसाई हो-हो कर खोखली हँसी हँस रहा था।

"कुछ साग-सब्जी होती, तो बेचारा एक-आधी रोटी और खा लेता," गुसाई ने बच्चे की ओर देखकर अपनी विवशता प्रकट की।

"ऐसा ही खाने-पीनेवाले की तकदीर लेकर पैदा हुआ होता, तो मेरे भाग क्यों पड़ता? दो दिन से घर में तेल-नमक नहीं है। आज थोड़े पैसे मिले हैं, आज ले जाऊँगी कुछ सौदा।"

हाथ से अपनी जेब टटोलते गुसाई ने संकोचपूर्ण स्वर में कहा, "लछमा!"

लछमा ने जिज्ञासा से उसकी ओर देखा। गुसाई ने जेब से एक नोट निकालकर उसकी

ओर बढ़ाते हुए कहा, "ले, काम चलाने के लिए यह रख ले, मेरे पास अभी और हैं। परसों दफ्तर से मनीआर्डर आया था।"

"नहीं-नहीं, जी! काम तो चल ही रहा है। मैं इस मतलब से थोड़े ही कह रही थी। यह तो बात में बात चली थी, तो मैंने कहा।" कहकर लछमा ने सहायता लेने से इन्कार कर दिया।

गुसाई को लछमा का यह व्यवहार अच्छा नहीं लगा। रूखी आवाज में वह बोला, "दु:ख तकलीफ के वक्त ही आदमी आदमी के काम नहीं आया, तो बेकार है। स्साला! कितना-कितना फूँका हमने इस जिन्दगी में। है कोई हिसाब!। पर क्या फायदा! किसी के काम तो नहीं आया। इसमें अहसान की क्या बात है! पैसा मिट्टी है साला! किसी के काम नहीं आया तो मिट्टी!"

परन्तु गुसाई के इस तर्क के बावजूद लछमा अड़ी रही, बच्चे के सिर पर हाथ फेरते हुए उसने दार्शनिक गम्भीरता से कहा, "गंगनाथ दाहिने रहें, तो भले-बुरे दिन निभ जाते हैं, जी! पेट क्या है, घट के खप्पर की तरह जितना डालो, कम हो जाये। अपने-पराये प्रेम से हँस-बोल दें, तो वही बहुत है दिन काटने के लिए।"

गुसाई ने गौर से लछमा के मुख की ओर देखा। वर्षों पहले उठे हुए ज्वार और तूफान का वहाँ कोई चिन्ह शेष नहीं था। अब वह सागर जैसे सीमाओं में बांधकर शान्त हो चुका था।

रुपया लेने के लिए लछमा से अधिक आग्रह करने का उसका साहस नहीं हुआ। पर गहरे असन्तोष के कारण बुझा-बुझा वह धीमी चाल से चलकर वहाँ से हट गया। सहसा उसकी चाल तेज हो गयी और घट के अन्दर जाकर उसने एक बार शंकित दृष्टि से बाहर की ओर देखा। लछमा उस ओर पीठ किये बैठी थी। उसने जल्दी-जल्दी अपने निजी आटे के टीन से दो-ढाई सेर के करीब आटा निकालकर लछमा के आटे में मिला दिया और सन्तोष की एक साँस लेकर वह हाथ झाड़ता हुआ बाहर आकर बाँध की ओर देखने लगा। ऊपर बाँध पर किसी को घुसते हुए देखकर उसने हाँक दी। शायद खेत की सिंचाई के लिए कोई पानी तोड़ना चाहता था।

बाँध की ओर जाने से पहले वह एक बार लछमा के निकट गया। पिसान पिस जाने की सूचना उसे देकर वह वापस लौटते हुए फिर ठिठककर खड़ा हो गया, मन की बात कहने में जैसे झिझक हो रही हो। अटक-अटक कर वह बोला, "लछमा ···।"

लछमा ने सिर उठाकर उसकी ओर देखा। गुसाई को चुपचाप अपनी ओर देखते हुए उसे संकोच होने लगा। वह न जाने क्या कहना चाहता है, पर गुसाई ने झिझकते हुए केवल इतना ही कहा, "कभी चार पैसे जुड़ जायें, तो गंगनाथ का जागर लगाकर भूल-चूक की माफी माँग लेना। पूत-परिवार वालों ने देवी-देवता के कोप से बचा रहना चाहिए।" लछमा की बात सुनने के लिए वह नहीं रुका।

पानी तोड़ने वाले खेतिहर से झगड़ा निपटकर कुछ देर बाद लौटते हुए उसने देखा,

सामने वाले पहाड़ की पगडण्डी पर सिर पर आटा लिये लछमा अपने बच्चे के साथ धीरे-धीरे चली जा रही थी। वह उन्हें पहाड़ों के मोड़ तक पहुँचने तक टकटकी बाँधे देखता रहा।

घट के अन्दर काठ की चिड़ियाँ अब भी किट-किट आवाज कर रही थी, चक्की का पाट खिस्सर-खिस्सर चल रहा था और मथानी की पानी काटने की आवाज आ रही थी, और कहीं कोई स्वर नहीं, सब सुनसान ··· निस्तब्ध! □

# प्रेत-मुक्ति

**शैलेश मटियानी**
(जन्म : सन् 1935 ई.)

आधी नदी पार कर चुके थे, कि जलांजलि छोड़ने के लिए पूर्वाभिमुख होते ही सूर्य और आँखों के मध्य धूमकेतु-सा दिखायी दे गया। पूरी आँखें खोलने पर देखा कि उत्तर की ओर जो शूद्रों का श्मशान देवगढ़ है, वहीं से धुआँ ऊपर उठ रहा है और हवा के प्रवाह की दिशा में धनुषाकार झुककर, सूर्य के समानान्तर धूमकेतु की तरह लटक गया है।

ओम् विष्णुर्विष्णुर्विष्णु ···

पाण्डेजी के घुटने पानी के अन्दर आपस में टकरा गये और अंजलि में भरा जल ढीली पड़ी हुई अँगुलियों से रीत गया। कहीं अचेतन मन से एक आशंका तेजी से उठी, कि 'कहीं किसनराम ही तो नहीं मर गया है?' और पाण्डेजी के घुटने फिर थरथरा गये और उन्हें लगा कि उनके और सूर्य के बीच में धूमकेतु नहीं, बल्कि उनके हलिया किसनराम की आत्मा प्रेत की तरह लटकी हुई है। गले में झूलता यज्ञोपवीत, माथे में लगा हुआ श्रीखण्ड-तिलक और आत्मा का जातीय संस्कार बार-बार अनुभव करा रहा था कि ऊपर श्मशान से अछूत केशव की अस्थि-मज्जा को बहाकर लाती हुई सुंयाल नदी का निषिद्ध जल उनके पाँवों से टकरा रहा है। हो सकता है, ऊपर से अधजला मुर्दा ही नीचे को बहा दिया जाये और वही पाँवों से टकरा जाये, लिपट जाये।

नदी पार करके गाँव की ओर बढ़ने की जगह, पांडेजी तेज़ी से इस पार ही लौट आये। उन्हें लगा था कि आगे की ओर पानी चीर सकने की सामर्थ्य उनके घुटनों में नहीं रह गयी है। धुआँ देखने से पहले भी, आधी नदी पार करने में न जाने इतने आकस्मिक रूप से क्यों किसनराम की याद आयी थी कि उन्हें लगा था कि वे नदी के पाट को अपने पाँव से ठीक वैसे ही चीर रहे हैं, जैसे किसनराम हल के फालसे खेत की मिट्टी को चीरता है। अब भी बिना किसी प्रत्यक्ष कारण के ही, आखिर क्यों उनकी कल्पना के आकाश में आशंका का यह धूमकेतु एकाएक उतर आया है, कि किसनराम ही मर गया होगा और उसी का शव जलाया जा रहा होगा? हो सकता है,

चिता न जल रही हो, नदी के किनारे मछली मारनेवालों ने ही आग जला रखी हो।

पांडेजी का मन हुआ कि किनारे का जल हाथ में लेकर उसे सूँघे कि उससे शव-दाह की गन्ध फूट रही है या नहीं। उन्हें याद आया कि जब कभी हल-जोतते-जोतते बैल थामकर, किसनराम उनके समीप आ जाता था सुर्ती माँगने को, तो उसके मैले कपड़ों से ठीक वैसी ही तीखी गन्ध फूटती लगती थी, जैसी सुर्ती की गाँठतोड़ते हुए फैलती है। कहीं ऐसा न हो कि पानी से वैसी ही तीखी गन्ध फूट आये··· अपनी अजीब-अजीब कल्पनाओं पर पांडेजी को हँसी आने लगी। किसनराम की बातों को लेकर जो कमज़ोरी उनके मन में हैं, जो द्वन्द्व उनके अचेतन में चलता रहा है, उसके इस मृत्यु की आशंका से जुड़ जाने के कारण ही मन अपनी स्वाभाविक स्थिति खो बैठा है, ऐसा उन्हें लगा तो वह किनारे-किनारे चलने लगे। देवगढ़ लगभग एक मील दूर था वहाँ से। खुले मैदान की भुरभुरी मिट्टी में रेंगती हुई गर्भवती नागिन-जैसी पहाड़न सुंयाल उल्टी दिशा को लौटती अनुभव हो रही थी। चन्द्रमा की तरह सीधी किरणों के पानी की सतह पर हवा से काँपने की स्थिति में, नदी भी अपने साथ चलती लगती है। ऐसे में हो सकता है, किसनराम का अधजला शव इसी बीच बहा दिया गया हो, तो वह भी पाण्डेजी के ही साथ उत्तर की ओर लौटने लगे? सामने ही एक ताल दिखायी दिया, तो लगा कि कहीं ऐसा न हो कि शव यहाँ तक बह आया हो और मछलियाँ उसे नोंच रही हों? एक बार गहराई तक उस ताल में झांककर पांडेजी और भी तेज़ी से चलने लगे, ताकि आशंकाओं का समाधान हो जाये, तो मन की इस विश्रान्ति से मुक्ति मिले।

केवलानन्द पांडेजी और किसनराम की उम्र में विशेष फर्क नहीं था। शायद, दो-तीन वर्ष बड़ा हो किसनराम। मगर पांडेजी की तुलना में, किसनराम बहुत जल्दी ही बूढ़ा दिखने लग गया था। पचपनवाँ वर्ष पार करते हुए भी पाण्डेजी के गौर-प्रशस्त ललाट में श्रीखण्ड का तिलक रेखाओं में नहीं डूबता था, मगर किसनराम की कमर झुक गयी थी। केवल पांडे ने बचपन से ही किसनराम को देखा था। किसनराम के पिता की तीन पत्नियाँ थीं और बहुत बड़ा परिवार था। खाने-पहनने को पूरा पड़ता नहीं था, मगर परिश्रम का बोझ दिन-रात कन्धों पर लदा रहता था। पांडेजी को याद नहीं पड़ता कि कभी उन्होंने किसनराम में किशोरावस्था की चंचलता या जवानी के उद्दाम आवेग को उसके चेहरे या उसकी आँखों से फूटता हुआ देखा हो। जब भी देखा, हल या हथौड़े-हँसिये की मूठ थामे काम में जुटा हुआ देखा।

किशोरावस्था गाँव में गुज़ारकर, मिडिल पास करके, पांडेजी पहले मामा के यहाँ नैनीताल और फिर वहाँ से अपनी वाग्दत्ता के पिता के पास जाकर बनारस पढ़ने चले गये थे। नैनीताल से हाईस्कूल, बनारस से शास्त्री करके, पाण्डेजी फिर घर ही लौट आये थे। छोटे भाई सब पढ़ रहे थे और पिताजी अत्यन्त वृद्ध हो चुके थे। यजमानी बहुत बड़ी थी, उसे सँभालना आर्थिक और नैतिक दोनों दृष्टियों से आवश्यक था।

घर लौटने पर पांडेजी को पता चला था किसनराम से ही कि इस बीच उसकी माँ

मर गयी थी और वह भी अपने मामा के यहाँ चला गया था। मामा लोहार था, मगर किसनराम सिर्फ़ किसानी या ओढ़गिरी जानता था और गरम लोहा पीटने में अपने दायें हाथ की अँगुलियां पिटवा बैठा था। हाथ बेकार हो गया था, तो मामा ने भी दुरा दिया था और वहाँ से पत्नी को लिये-लिये ससुराल चला गया था, तो ससुर-वालों ने भी उसकी घरवाली को तो रोक लिया और उसे विदा कर दिया।

दायें हाथ की अँगुलियाँ गिर गयी थीं, शेष दो से सोटा और बायें हाथ से हल की मूठ पकड़कर बैलों को ऊंची हाँक लगाते हुए किसनराम की आवाज पांडेजी ने गाँव की सीमा में पहुँचते ही सुनी थी और जब रास्ते में ही किसनराम के पास रुककर उसका दुःख-सुख पूछ लिया था, तो लगा था, जैसे किसनराम अपनी सारी गाथा उन्हीं की प्रतीक्षा में अपनी छाती में दबाये हुए था। क्योंकि जिस तरह धीरे-धीरे उसकी आँखें भरती चली आयी थीं, उससे लगता था कि बहुत गहरे दबायी हुई व्यथा ऊपर उठ रही है—जैसे बाँध बाँधकर ऊपर की ओर उठाया हुआ पानी धीरे-धीरे आगे बढ़ता है। किसनराम को रोते हुए देखने का यह पहला अवसर था, अन्यथा उसकी खुश्क आँखों में एक दीन मुस्कराहट ही उन्होंने सदैव देखी थी और कठोर परिश्रम के कारण पसीने से लथपथ उसकी देह देखने से ही यह अनुभूति हो पाती थी कि उसके सारे आँसू यों ही शरीर के जोड़-जोड़ से नितर जाते हैं··· और पाण्डेजी को तब भी विचित्र-सी कल्पना हो आती थी, कि किसनराम अभिशप्त इन्द्र है, और उसकी सारी देह में आँखें-ही-आँखें फूट आयी हैं। पसीना भी वह कुछ इतने जतन से पोंछता था, कि लगता था कि गालों पर से नितरते हुए आँसू पोंछ रहा है। और एकटक उसकी ओर देखते रहने पर मुँह में खारा-खारा स्वाद उभड़ने लगता था।

लेकिन तब तक सुर्ती की गाँठ तोड़ने की जैसी तीखी गन्ध उसके कपड़ों से नहीं आती थी। बनारस से लौट आने के बाद, केवल पांडेजी ने देखा था, कि उम्र में बड़ा होने पर भी उनके गौर-बलिष्ठ और खुले हुए शरीर की तुलना में किसनराम ऐसा लगता था, जैसे इतने वर्षों के बीच प्रकृति ने उस लोहे को गरम करके, उसके दुर्भाग्य की चोटों से पीट-पीटकर थोड़ा-बहुत फैला दिया है, बस। पांडेजी को बार-बार वह अनोखा दृश्य याद आता था, जब चौदह वर्ष की उम्र में ही शादी हो जाने के बाद, किसनराम दुरगुन के लिए अपनी पत्नी को उसके मायके ले जा रहा था और वे मिडिल स्कूल से लौट रहे थे। छोटी-सी, ठिगनी-साँवली लड़की बीड़ी पीते हुए उसके पीछे-पीछे चली जा रही थी और जब किसनराम ने 'महाराज' कहकर पांडेजी को प्रणाम किया था तो उसने जल्दी में बीड़ी को अपनी हथेली में ही घिस लिया था और फिर रो पड़ी थी।

पांडेजी को हँसी आ गयी थी। किसनराम भी हँस पड़ा था, "गुसाईं, हमारी कौम में तो सारे करम-काण्ड बचपन में ही सीख लेती हैं छोरियाँ।" और आखिर शरमाते-शरमाते पूछने लगा था, कि शास्तरों के अनुसार किस उम्र तक आपस में प्यार करना निषिद्ध है।

'शास्तर' का उच्चारण करने में किसनराम का कण्ठ कुछ थरथरा गया था। पांडेजी बचपन से ही तीव्र बुद्धि के थे, समझ गये कि किन्हीं सयानों की बात को गाँठ बाँधे हुए है। किसनराम के भोले-निश्छल स्वभाव के प्रति उन्हें शुरू से ही आत्मीयता-सी थी और यह कहते-कहते, उस दिन उन्होंने भी किसनराम की घरवाली को देख लिया था कि "अरे, यार किसनराम! अभी तो खुद मैंने ही कोई शास्त्र नहीं पढ़ा है। पिताजी काशी भेजने वाले हैं, संस्कृत पढ़ने। दस-बारह वर्ष बाद लौटने पर तुझे बताऊँगा कि शास्त्रों में क्या लिखा है।"

कई वर्षों के बाद एक बार छुट्टियों में घर लौटे थे कुछ दिनों को, तो उन्होंने किसनराम से पूछा कि "किसन, कोई सन्तान हुई या नहीं?" और किसनराम के उत्तर से उन्हें लगा था कि जैसे वह उसी दिन की प्रतीक्षा में है अभी, जबकि पाण्डेजी उसे शास्त्रों में लिखा उत्तर बताएँगे।

काशी से शास्त्री करके लौट आने के बाद भी, उनका मन वही प्रश्न पूछने को हो रहा था कि किसनराम की दुःखान्त गाथा से मन भर आया था ··· और उन्होंने अनुभव किया था, कि इस बार अधजले प्यार को अपनी हथेली पर घिस लेने की जगह, किसनराम की घरवाली ने उसके कलेजे के साथ घिसकर उसे बुझा दिया है ··· और उन्हें लगा था कि किसनराम के प्रति उनकी इस संवेदनशील-कल्पना पर उसकी घरवाली उस दिन की तरह रो नहीं रही, बल्कि खिलखिला रही है।

बचपन बीतते-बीतते ही शादी हो गयी थी और जवान होते-होते सम्बन्ध टूट गया था। उन दिनों किसनराम अकेला ही रहता था। उसके पिता के मना करने के बावजूद, पांडेजी के पिताजी ने किसनराम को ही अपना हलिया रख लिया था। हलिया रख लेने के बाद खुद उन्होंने तथा पांडेजी की माँ ने किसनराम से कहा था कि "किसनराम, पहली तो डाल पर बैठी हुई जैसी फुर्र उड़ गयी, अब तू क्यों उसके लिए जोग धारण कर रहा है? अरे, तू ब्याह कर लेता तो हमारी खेती भी कुछ और ज़्यादा सँभलती। बिना जोड़ी का बैल तक नहीं खिलता, रे। तू तो हलिया है। नहीं करता दूसरा ब्याह, तो पहली को ही लौटा ला।"

किसनराम जानता था कि एक तो बिन घरवाली का हलिया वैसे ही पूरा श्रम नहीं कर पाता गुसाईयों के खेत में, उस पर उसका दायां हाथ पूरा नहीं लगता है। उसने एक दिन हाथ जोड़कर अपनी अनुपयोगिता को स्वीकार लिया था और अपने सौतेले भाइयों में से किसी को रख लेने को कह दिया था, "बौराणज्यू, मैं अभागा तो हाथ से झड़ी लोथ ही नहीं लौट पाया, कलेजे से झड़ी हुई लोथ कैसे लौटा पाऊँगा?"

और उन दिनों गाँव-भर में यह बात फैल गयी थी कि सयानी औरत का माँ का मन भी कैसा कोमल होता है। खुद कुसुमावती बहूरानीजी ने ही अपने हाथों से किसनराम के आँसू पोंछ दिये थे। केवल पाण्डेजी के पूछने पर ही कुसुमावती बहूरानीजी की आँखें फिर गीली हो आयी थीं। बोली थीं, "हिया-हिया सभी का तो एक होता है, केवल! मैंने

आँसू पोंछे, तो मेरे पाँव के पास की मिट्टी उठाकर कपाल से लगाते हुए बोला, 'बौराणज्यू, पारसमणि ने लोहे का तसला छू दिया है, मेरे जनम-जनम के पापों का तारण हो गया है।' शूद्र कुल में जनमा है, मगर बड़ा मोह, बड़ा वैराग्य है किसनराम छोरे में।"

पाण्डेजी भी अनुभव कर रहे थे कि कहीं पहली पत्नी के प्रति किसनराम में बहुत बड़ा मोह था और इसलिए इतना गहरा विराग भी है।

मगर उन दिनों हफ्ते-हफ्ते किसनराम अपने कपड़े भी धो लेता था। भोजन भी नित्य समय पर कर लेता था। खेतों में काम होता तो पाण्डेजी के घर से ही रोटियाँ जाती थीं और विनम्रतापूर्वक किसनराम केवल पाण्डेजी की पत्नी से कह देता था कि "बौराणज्यू, रोटियाँ मुझे टैम से ही देना।"

एक दिन, खेत जोतने से निबटकर, किसनराम सुंयाल के किनारे कपड़े धो रहा था। लँघोटी पहनकर, शेष कपड़े सूखने डाल रखे थे। यजमानी से लौटते हुए पाण्डेजी आये थे, तो उनके नदी पार करते समय पानी से अलग हट गया था कि उसके पाँवों का छुआ जल उन्हें न लगे। पाण्डेजी ने यजमानी से मिली हुई मिठाई में से कुछ मिठाई उसे दी थी और कहा था, "किसन, अच्छा नहीं किया भवानी ने। नहीं तो, तुझे अपने हाथों से खाना पकाने और कपड़ा धोने से मुक्ति मिलती।"

किसनराम के हाथ जुड़ आये थे और होंठों पर हलकी-सी हँसी, "महाराज, जिस दिन बड़ी बौराणज्यू की सोने की छड़ी जैसी अँगुलियों की ममता पा ली मेरी आँखों ने, उस दिन से कलेजे की जलन से कुछ मुक्ति मिल गयी है, इतना ही बहुत है।"

और यों ही वर्षों बीत गये थे। धीरे-धीरे किसनराम की कमर भी झुकने लगी थी, मगर उसने हल नहीं छोड़ा था। और जब तक वह हल नहीं छोड़े, तब तक हलिया न बदला जाये, केवल पाण्डे इसका निर्णय कर चुके थे। ज़रूरत पड़ने पर रोज़ाना मज़दूरी देकर खेत जुतवा लिये जाते थे, लेकिन क़िसनराम को कोई नहीं टोकता था। केवल पाण्डेजी की पत्नी चन्द्रा बहूरानी भी अपनी सास की-सी सहानुभूति उसके प्रति रखती थीं और, कभी-कभी, किसनराम कह देता था कि बड़ी बहूरानीजी की तो देह-ही-देह गयी है, आत्मा तो छोटी बहूरानी में समा गयी है ··· और ऐसा कहने के बाद, बहुधा, वह पाण्डेजी से आत्मा के सम्बन्ध में तरह-तरह के प्रश्न पूछने लगता था कि 'महाराज, शास्तरों में तो आत्मा-परमात्मा के ही मन्तर लिखे हुए रहते हैं न? आपके चरणों का सेवक ठहरा, दो-चार मन्तर मेरे अपवित्तर कानों में भी पड़ जायें, तो मेरी आत्मा का मैल भी छँट जाये। क्या करूँ, गुसाई! घास खाने वाले पशु बैल नहीं हुए, अनाज खाने वाला पशु किसनराम ही हो गया ··· महाराज, मरने के बाद आत्मा कहीं परलोक को चली जाती है या इसी लोक में भटकती रह जाती है?"

चौरासी लाख योनियों से भी इतर एक योनि और प्रेतात्मा-योनी होती है, यह जानने के बाद से किसनराम और भी अधिक जिज्ञासु हो गया था कि आत्मा की इच्छा न होने

पर भी क्या देह-मात्र की इच्छा से भी प्रेत-योनि मिल सकती है?

जब यजमानी में नहीं जाना होता था तो पाण्डेजी खेतों में चले जाते थे। उन्हें इस बात का बोध भी था कि जब चन्द्रा बहूरानी खेतों में होती हैं, तो किसनराम एकदम दत्तचित्त होकर, काम करता रहता है। मगर जब पाण्डेजी खुद होते हैं, तो बार-बार सुर्ती माँगने के बहाने उनसे तरह-तरह की बातें पूछने लगता है। फिर भी, पाण्डेजी किसनराम के प्रति कठोर नहीं हो पाते थे। जैसी बहकी-बहकी बातें वह इन दिनों करता था, उससे लगता था कि किसनराम की चेतनाएँ बहुत जल्दी-जल्दी अन्तर्मुखी होती जा रही हैं। उसकी खुश्क आँखें इतनी धँस गयी थीं अन्दर कि मरने के बाद तालाब में डूबी हुई मछली-जैसी कोई चीज़ उनमें चमकती लगती थी और पाण्डेजी को लगने लगा था कि यह उसकी मृत्यु का पूर्वाभास है।

औरत-सन्तानहीन लोगों की इस लोक से मुक्ति नहीं हो पाती है और वे रात-रात-भर मशालें हाथ में लिये, अपने लिये पत्नी और सन्तति खोजने की तृष्णा लिये, कायाहीन प्रेत-रूप में भटकते रहते हैं—ऐसा कभी पाण्डेजी ने ही उसे बताया था। साथ ही यह भी बताया था कि उच्च जाति के लोग जो प्रेत-योनि में ज़्यादा नहीं जाते हैं, औरत-सन्तति से वंचित रहने पर भी, उसका कारण यह है कि उसकी सद्‌गति शास्त्रोक्त-पद्धति से हो जाती है। और, यह सब-कुछ जानने के बाद से, किसनराम निरन्तर उनसे तरह-तरह के प्रश्न पूछता रहता था।

अभी कुछ ही दिन पहले उसने फिर पूछा था कि खुद प्रेत-योनि में भटका जाये या कि जिस पर तृष्णा रह गयी हो, उस पर प्रेत-रूप में छाया जाये, तो इससे मुक्ति का उपाय क्या है?

बहुत गहराई से पूछने पर, किसनराम कुछ खुला था, "महाराज, आप तो मेरे इष्ट देवता-सरीखे ठहरे, आपसे क्या छिपाना। इधर शरीर बहुत कमजोर हो चला है। समय से खा नहीं पाया हूँ। वात-पित्त बढ़ गया है, ठीक से आँख नहीं लग पाती और नहाने-कपड़े धोने की शक्ति अब रही नहीं, गुसाईज्यू! ··· और जब-जब भूख से पेट जलता है, जब-जब खाँसी और चड़क से देह फूटने को हो आती है और इधर-उधर झाँकने पर सिर्फ़ अपनी ही दुर्गन्ध, अपनी ही प्रेत-जैसी छाया घेरने लगती है, तो पापी चित्त बस में नहीं रहता, गुसाईज्यू! जिसे जवानी के दिनों में कभी गाली नहीं दी, उसे अब मरते समय न जाने कैसी-कैसी भयंकर और पलीत गालियाँ बकने लग जाता हूँ। आत्मा फाँसी के फन्दे पर लटकी हुई धिक्कारती रहती है कि किसनराम, अब मसानधार की तरफ़ जाते हुए अपनी घरवाली को राँड-पातर मत कह, रे कसाई! ··· मगर ये दो ठूँठ अँगुलियाँ चरस-भरी हुई बीड़ी-जैसी सुलगती हुई मेरे कपाल को दाग़ती रहती हैं कि अरे, पातरा! तूने जो मेरा कलेजा ही नहीं निकाल लिया होता, तू आज इस वृद्धावस्था में तू नहीं तो कोई और तो होती ···"

"किसनराम, भवानी को तू भूला नहीं है, रे! जैसी दगा वह कर गयी तेरे साथ, किसी

और के साथ करती, तो वह थू-थू थूकता और दूसरी ले आता। मगर तेरा मोह तो घटा ही नहीं उससे।"

"गुसाईंज्यू, डाल-पात टूटा वृक्ष तो फिर से पंगुर जाता है, मगर जड़ से उखड़ा हुआ वृक्ष क्या करे? जब तक हाथ-पाँव चलते रहे, टैम से पेट की आग बुझाना, टैम से मैले कपड़े धोना इसीलिए करता रहा, कि नहीं कर पाऊँगा, तो भौनी छोरी के लिए गाली निकलेगी मुँह से। महाराज, आपने तो उसे पुरपुतली की तरह मेरे आगे-पीछे उड़ता हुआ देखा ही था? उस छोटी-सी छोरी को गँवा देने के बाद सयानी औरत ले आता, तो मुझे लगता, कि मेरे आगे-पीछे चील झटपटे मार रही है··· महाराज, आप भी कह रहे होंगे कि इस किसनुवा डोम की मति वृद्धावस्था में चौपट हो गयी है··· मगर मैंने उस पुरपुतली का सुख कभी नहीं खोना चाहा, गुसाईंज्यू!"

पाण्डेजी को लगा था कि धँसती हुई आँखों में जो तालाब में डूबी हुई मछली-जैसी चमकती है, खुद तब का किसनराम ही अपनी भावुकता की गहराई में डूबा हुआ है, जब वह बीड़ी का जलता ठूँठ हथेली में घिस लेनेवाली भवानी को साथ लेकर, शास्त्रों की व्यवस्था पूछता फिरता था।

"महाराज, आजकल जो तड़प रहा हूँ, तो इसीलिए, कि म्लेच्छ योनि का पहले ही ठहरा, ऊपर से यह संसारी कुटिल चित्त की हाय-हाय है। गुरुड़-पुराण सुनने को तो पहले ही हक नहीं ठहरा, फिर सुनाये भी कौन? कभी-कभी जंगल में आँखें बन्द करके लेट जाता हूँ, गुसाईंज्यू, कि कोई आकाश में उड़ता गरुड़ पक्षी ही मुझे मुर्दा समझकर, मेरे माथे पर बैठकर टिटकारी छोड़ जाये··· महाराज, अपने तारण-तरण की उतनी चिन्ता नहीं है··· मगर आत्मा इसी पाप से डरती है, कि कहीं प्रेत-योनि में गया, तो उस भौनी-छोरी को न लग जाऊँ? हमारी सौतेली महतारी में हमारे बाप का प्रेत आने लगा है, महाराज! और उसे उसके लड़के गरम चिमटों से दाग़ देते हैं··· कहीं उसके लड़के भी उसे ऐसे ही न दाग़ें, महाराज! ··· जिसे जीते-जी अपना सारा हक-हुकम होते हुए भी एक कठोर वचन तक नहीं कह सका, कि जाने दे, रे किसनराम, पुतली-जैसी उड़ती छोरी है, जहाँ उसकी मर्ज़ी आये, वहीं बैठने दे··· उसे ही मरने के बाद दाग़ते कैसे देख सकूँगा?··· अच्छा, गुसाईंज्यू अगर कोई आदमी जीते-जी अपनी आँखें निकालकर किसी गरुड़ पक्षी को दान कर दे, तो वह प्रेत-योनि में भी अन्धा ही रहता है, या नहीं?"

पाण्डेजी अनुभव कर रहे थे कि ज्यों-ज्यों किसनराम मृत्यु की ओर बढ़ रहा है, त्यों-त्यों भवानी एक बच्ची की तरह, रंग-बिरंगी तितली की तरह, उसके अन्दर-ही-अन्दर उड़ती हुई, उसे भी एक ऐसे बचपने की ओर ले जा रही है, जहाँ मन के बावलेपन को थामने की क्षमता न देह में रह गयी है, न बुद्धि में। वह डरने लगे थे कि कभी अपनी अन्धभावुकता में कहीं सचमुच न किसनराम अपनी आँखें निकाल बैठे।। उसकी धँसी हुई आँखों में झाँकने पर उनको ही ऐसा लगता था कि किसनराम ने मछली पकड़ने

के जाल को ऊपर से मूठ बाँधकर नीचे की गहराइयों में फैला दिया है और बार-बार उसकी आन्तरिक वेदनाएँ उस जाल में फँसकर छटपटाती हैं और वह बार-बार उसे अन्दर की ओर समेटने की कोशिश करता है—और तब उसकी आँखों की झुर्रियाँ ऐसे आपस में सिमट आती हैं कि लगता है, जाल की बँधी हुई मूठ एकदम कस दी गयी हैं और डोरियों में भीगा हुआ पानी निचुड़ आया है। ऐसी आँखों को अपनी ही देह पर सहना कितना कठिन होता है, जिन्हें दूसरे तक न सह सकें। उस निरे अशिक्षित और अबोध किसनराम की आँखों की गहराई में जो चमक दिखायी देती थी, पानी के तल में मरी हुई मछली के चमकने की तरह, उसे देखनं में पाण्डेजी को यक्ष-युधिष्ठिर-प्रसंग याद आ जाता था और उन्हें लगता था कि बिना अपनी प्रश्नाकुल आंखों के लिए तृप्ति पाये, यह किसनराम उन्हें छोड़ेगा नहीं। सो, उन्होंने किसनराम से यह कहना शुरू कर दिया था कि शास्त्रों में यह भी तो लिखा हुआ है, कि जो व्यक्ति आत्मिक-रूप से प्रायश्चित कर लेता है, वह अपनी मरणोत्तर स्थिति में स्वर्गवासी हो जाता है। किसनराम के प्रश्न पूछते ही, अब पाण्डेजी कह देते थे कि "किसनराम, तू तो एकदम निश्छल-निर्वैर आत्मा वाला है। तुझ-जैसे सात्त्विक लोग प्रेत-योनि में नहीं जा सकते।" मगर इससे किसनराम के प्रश्न ही घटे थे, उसकी बेचैनी उसका दुःख नहीं घटा था। पहले अपनी जिस बेचैनी को वह प्रश्नों में बाँट देता था, अब वह और ज़्यादा भरती जा रही थी उसकी आँखों में ··· और पाण्डेजी को लगता था कि किसनराम की यह तालाब में सिमटते हुए पानी-जैसी बेचैनी यदि नहीं घटी, तो उसकी आँखों की गहराइयों में डूबी हुई अपनी ही अर्थी के बाँस के सहारे टिके हुए शव-जैसी उसकी आहत आत्मा एकदम ऊपर ही उतर आयेगी ··· और आँखों के रास्ते जिनके प्राण निकलते हैं, उनका चेहरा कितना डरावना हो जाता है ···

सुंयाल के किनारे चलते-चलते पाण्डेजी को ऐसा लग रहा था, जैसे कोई उनकी पीठ पर लदी उस पोटली को नीचे धरती की ओर खींच रहा है, जिसमें यजमानी से मिली हुई सामग्री है। दूर के गाँव में, एक वृद्ध यजमान की मृत्यु हो गयी थी और तेरहवीं कराकर पाण्डेजी लौट रहे थे। पोटली में जौ-तिल भी थे और एक जोड़ी बर्तन भी थे। बाकी बर्तन तो गति-किरिया के दिनों ले चुके थे, आज सिर्फ़ एक लोटा था, एक कटोरा, एक चम्मच और एक थाली।

किसनराम के मरने पर, हो सकता है उसके सौतेले भाई उसके थोड़े-से जो बर्तन थे, उन्हें समेट ले गये हों और, सम्भव है, अपनी हीन नीयत के कारण, किसनराम के नाम पर कोई बर्तन न लगाएँ? पाण्डेजी को याद आया कि चन्द्रा बहूरानी जो पानी का लोटा लाती थीं, उसे किसनराम छूता नहीं था। बहूरानी लोटे से पानी छोड़ती थीं, और वह दायीं हथेली होंठों से लगाकर, पीता था ··· सोचते-सोचते पाण्डेजी को लगा, जैसे किसनराम ही उनकी पीठ के पीछे-पीछे चलता हुआ, लोटे को अपने होंठों की ओर झुका रहा है। पाण्डेजी के पाँव एकदम भारी-भारी हो आये। उन्हें याद आया कि यजमान

के मरने से पहले उन्होंने किसनराम को आश्वासन दे दिया था कि उसके मरने पर वह खुद उसका तर्पण कर देंगे ··· और तब किसनराम आश्वस्त हो गया था कि "महाराज, आपके हाथ की तिलांजलि से तो मुझ अभागे के समस्त पापों का तारण हो जायेगा! मगर कहीं ऐसा तो नहीं, गुसाईज्यू, कि आप-जैसे पवित्तर ब्राह्मण देवता से तर्पण कराने का मुझे कोई दण्ड भुगतना पड़े?"

पाण्डेजी भी जानते थे कि किसनराम का तर्पण उनके लिए शास्त्र-विरुद्ध और निषिद्ध है, मगर उसे आश्वस्त करने का एकमात्र उपाय ही यही रह गया था, सो उन्होंने कह दिया था कि जाति तो सिर्फ़ मिट्टी की होती है। मिट्टी छूट जाने के बाद सिर्फ़ आत्मा रह जाती है और आत्मा कोई अछूत नहीं होती। मगर इस समय बड़ी द्विविधा हो आयी, कि कहीं किसनराम सचमुच मर गया होगा, तो क्या वह अपना वचन पूरा कर सकेंगे? मन-ही-मन पाण्डेजी प्रार्थना करते जा रहे थे कि किसनराम न मरा हो। गाँव में उन दिनों सिर्फ़ दो के ही मरने की आशंका ज़्यादा थी, एक किसनराम और दूसरी उसकी सौतेली माँ। पाण्डेजी की भावना थी कि वही मरी होती, तो अच्छा था।

श्मशान तक पहुँचे, तो वहाँ सिर्फ़ बुझती हुई चिता शेष रह गयी थी। मुर्दा फूँकने वाले जा चुके थे। पाण्डेजी अपने बाहरी आचार-संस्कार में शूद्रों को जितना अछूत समझते थे, आत्मिक-संस्कार में नहीं। पिता और माँ से उन्होंने उदार संवेदना और मानवीयता पायी थी मगर अपनी परम्परागत सामाजिक व्यवस्था में जितना उन्हें बाहरी आचार-व्यवहार को जीना पड़ता था, उतना अपने आत्मिक-संस्कार को नहीं, सो, आत्मा से घृणालु न होते हुए भी, एक वितृष्णा-सी उन्हें हो आयी। किसनराम के सम्बन्ध में जिज्ञासा और बढ़ गयी थी, मगर दूर से पूछ लेने की जो सुविधा समझी थी, वह भी नहीं रही थी। जानना चाहते थे कि किसनराम था, उसकी सौतेली माँ थी या आकस्मिक रूप से मरा हुआ कोई और--मगर दूर से देखने पर चिता में शव भी जलता दिखायी नहीं दे रहा था। सम्भव है, अच्छी तरह से पूर्णदाह कर दिया हो। सम्भव है अधजला शव बहा दिया हो।

वितृष्णा और निषद के बावजूद, पाण्डेजी थोड़ा और आगे बढ़ गये। अजीब मनःस्थिति उनकी हो गयी थी। वह आशंका पीछे लौटा लेना चाहती थी कि कहीं दूर खेतों में काम करता या इस ओर आता हुआ कोई यों श्मशान टटोलते देखेगा उन्हें, तो न जाने क्या समझे, कि एक अछूत के शवदाह के बाद वहाँ क्या खोज रहे हैं? मगर उनकी जिज्ञासा आँखों को चारों ओर घुमा देती थी, कहीं कोई ऐसा अवशेष ही दिख जाये—किसनराम की सौतेली माँ का घाघरा-पिछौरा ही दिख जाये जिससे शंका टले ··· और तभी, पाँवों के एकदम समीप, कोई कपड़ा उनके पाँव से लग गया और पाण्डेजी चौंककर पीछे हट गये। देखा, किसनराम की काली दोपलिया टोपी थी, जिसे चन्द्रा बहूरानी से रोटियाँ लेते में वह लोहे के तसले की तरह आगे फैला देता था।

"किसनराम! ··· ओम् विष्णु!" पाण्डेजी को लगा, तसले की तरह फैली हुई उस

टोपी के पास ही किसनराम भी है और याचना-भरी आँखों से उन्हें घूर रहा है।

"महाराज!"

"हे राम!" व्यथा से पाण्डेजी की आँखें गीली हो आयीं। आशंका के प्रमाण सिद्ध हो जाने से पाँव अपने-आप एकदम हल्के हो आये और पाण्डेजी पीछे लौट आये। गाँव की ओर जानेवाली सड़क पकड़ने के लिए, थोड़ी दूर और सुंयाल के किनारे-किनारे ही चलना था। मगर श्मशान भूमि से ज़रा ऊपर पहुँचते ही, फिर पाँव भारी पड़ने लगे। लगा, किसनराम पीछे छूट गया है और टोपी फैलाये हुए··· आखिर क्या माँगना चाहता रहा होगा किसनराम अपने अन्तिम क्षणों में? सिर्फ़ यही तो कि उसकी प्रेत मुक्ति हो जाये? शायद, मरते समय किसी से कह भी गया हो कि उन्हें इस बात की याद दिला दी जाये कि उन्होंने उसका तर्पण करने का आश्वासन दे रखा था!

अन्तिम दिनों में अपनी मुक्ति की जो आश्वस्ति किसनराम की आँखों में आ गयी थी, कहीं ऐसा न हो कि उसकी मरणत्तोर आत्मा यही खोजती फिर रही हो कि पाण्डेजी उसका तर्पण करते भी हैं या नहीं?

पाण्डेजी अनुभव कर रहे थे कि किसनराम उनको पीछे लौटा लेना चाहता है और उससे मुक्ति का एकमात्र उपाय यही है कि उसका तर्पण कर दिया जाये। अपने मन की तमाम द्विविधाओं से मुक्ति का यही मार्ग शेष था, मगर जाति-बिरादरी के लोगों की जानकारी में तो कुछ भी करना सम्भव नहीं। यहाँ इस सुंयाल-घाटी के एकान्त में तो सिर्फ़ वही ईश्वर साक्षी रहेगा, जिसके लिए मुनष्य-मनुष्य सब एक हैं··· मगर एकदम श्मशान के समीप ही तर्पण करने से कोई आता-जाता प्रश्नवाचक आँखों से घूरने लगेगा। और कोई कहीं अफ़वाह ही न फैलावे कि पैसे के लोभी ब्राह्मण अब चोरी-चोरी से शूद्रों का पौरोहित्य भी निभाने लग गये हैं!

थोड़ी ही ऊपर, एक पतली धारा सुंयाल से मिल रही थी। पाण्डेजी आगे बढ़े और संगम के पास एक ऊँची शिला पर पोटली रख दी। पोटली खोलते में लोटा लुढ़क पड़ा। पाण्डेजी का मन भर आया। जल भरकर लोटा उन्होंने नदी-किनारे की मिट्टी में वेदी-जैसी बनाकर रख दिया। ज़िन्दगी-भर तो यजमानों की हथेली से दान ही ग्रहण किया है। आज थोड़ा-सा दान अपने सेवक के नाम पर स्वयं भी क्यों न कर लें? मन के उदार होते-होते पाण्डेजी यह भी भूल गये कि वह एक शूद्र का तर्पण कर रहे हैं। थाली-गिलास और कटोरा भी उन्होंने निकाल लिया। थाली में जौ-तिल डाल लिये। थोड़ा-सा कुश भी बीन लाये। और सारी सामग्री ठीक कर लेने के बाद, पहली तिलांजलि देने के लिए 'किसनराम प्रेम प्रेतार्थं' कहते-कहते उनका मन हो आया कि श्मशान के पास पड़ी हुई किसनराम की टोपी उठा लायें और उसी में जौ-तिल छोड़ दें···

किसनराम का तर्पण करके, गाँव के एकदम समीप पहुँच जाने पर पाण्डेजी को याद आया कि कल ही उन्हें अपने पिताजी का श्राद्ध भी तो करना है?··· और पहले एक शूद्र का तर्पण करने के बाद फिर अपने धर्मप्राण और शास्त्रजीवी पिता का श्राद्ध!

पाण्डेजी ने अपने हाथों की ओर देखा। लगा, हाथ अशुद्ध हो गये हैं। उद्विग्न होकर, अपने मुँह पर अँगुलियाँ फिरायीं, तो सुर्ती तोड़ने की जैसी तीखी गन्ध अनुभव हुई।

पाण्डेजी सोच रहे थे कि यों चोरी-चोरी शूद्र का तर्पण करने के बाद बिना घर वालों से कुछ सुने उन्हें पिताश्री का श्राद्ध कदापि नहीं करना चाहिए। स्वर्गस्थ पितर के प्रति यह छल अनिष्टकर ही होगा। पाण्डेजी जानते थे अछूतों के प्रति तमाम मानवीय उदारताओं के बावजूद, जातीय-संस्कार की एकान्त निष्ठा और कट्टरता उनके पिता में थी। जिसने जीवन-भर शास्त्र-विरुद्ध कोई कर्म नहीं किया, उसी का श्राद्ध अशुद्ध हाथों से कैसे किया जा सकता है?



गाँव समीप आता जा रहा था, मगर पाण्डेजी एकदम थक गये थे। उन्हें भय लग रहा था कि शुद्ध मन से श्राद्ध करने के लिए उन्हें सत्य बोलना ही पड़ेगा, फिर चाहे घर वालों और बिरादरी में कैसी ही अप्रिय प्रतिक्रिया क्यों न हो। उन्हें लग रहा था कि किसनराम की प्रेत-मुक्ति हो गयी है, लेकिन उसके पश्चाताप का प्रेत उनसे चिपट गया है। किसनराम की याद आने पर माथे पर पसीना पोंछते हुए, उन्होंने पुनः श्मशान की दिशा की ओर आँखें उठायीं, तो इस बार उन्हें लगा कि अस्ताचलगामी सूर्य और उनके बीच में इस समय उनका अपना ही प्रेत लटका हुआ है। और सौतेली माँ को फूँककर, धीरे-धीरे लौटता हुआ, किसनराम दूसरे रास्ते से आता हुआ पाण्डेजी को देखकर रुक गया और 'महाराज' कहते हुए दण्डवत में झुका, तो आँखों पर से हाथ हटाते ही पाण्डेजी को किसनराम का नंगा सिर दिखायी दिया। बीच सिर में, जहाँ पर बाल नहीं रह गये थे, पसीने की बूँदें ठीक ऐसे ही चमक रही थीं, जैसे जौ-तिल वाली थाली में पानी की बूँदें बिखरी हुई हों ··· और 'जीऽऽ ताऽऽ रह' कहकर हाथ ऊपर उठाते हुए, पाण्डेजी को ऐसा लगा, जैसे आसमान में लटके हुए किसी प्रेत को नीचे गिरा रहे हों। □

## सुरेन्द्र तिवारी

कहानी, नाटक तथा उपन्यास के क्षेत्र में समान रूप से लेखन। अनेक कहानियों के अनुवाद अन्य भारतीय भाषाओं में हो चुके हैं। रंगमंच के लिए कई नाटक लिखे तथा हिन्दी और पंजाबी में कई नाटकों का निर्देशन किया।

मौलिक लेखन के अतिरिक्त बांगला और पंजाबी से कुछ कहानियों और उपन्यासों का अनुवाद किया तथा हिन्दी के कुछ उपन्यासों का नाट्य रूपांतर भी।

कुछ प्रमुख पुस्तकें : 'दूसरा फुटपाथ', 'इसी शहर में', 'आशंकित अंधेरा', 'अनवरत तथा अन्य कहानियां' (कहानी संग्रह); 'दीवारें', 'एक और राजा', 'शेष नहीं', 'चबूतरा तथा अन्य नाटक' (नाटक); 'फिर भी कुछ', 'अंतत:', 'अग्निपथ' (उपन्यास); 'कथारंग' (साक्षात्कार); मील का पहला पत्थर', 'नोबेल पुरस्कार विजेताओं की श्रेष्ठ कहानियां', 'काला नवम्बर', 'कथा-धारा' (संपादित) आदि। कुछ बाल पुस्तकें भी प्रकाशित।

संप्रति : भारतीय सूचना सेवा से सम्बद्ध!

**ISBN 81-87368-65-9 (Set)**
**ISBN 81-87368-66-7 (i)**
**ISBN 81-87368-67-5 (ii)**
**ISBN 81-87368-68-3 (iii)**
**ISBN 81-87368-69-1 (iv)**

**मूल्य : 1600/- रुपये**

नमन प्रकाशन

4378/4B, अंसारी रोड, दरिया गंज,
नई दिल्ली- 110002
फोन : 3261839, 3254306